BIHAR YOGA

घेरण्ड संहिता

महर्षि घेरण्ड की योग शिक्षा पर भाष्य

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

घेरण्ड संहिता

घेरण्ड संहिता

महर्षि घेरण्ड की योगशिक्षा पर भाष्य

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

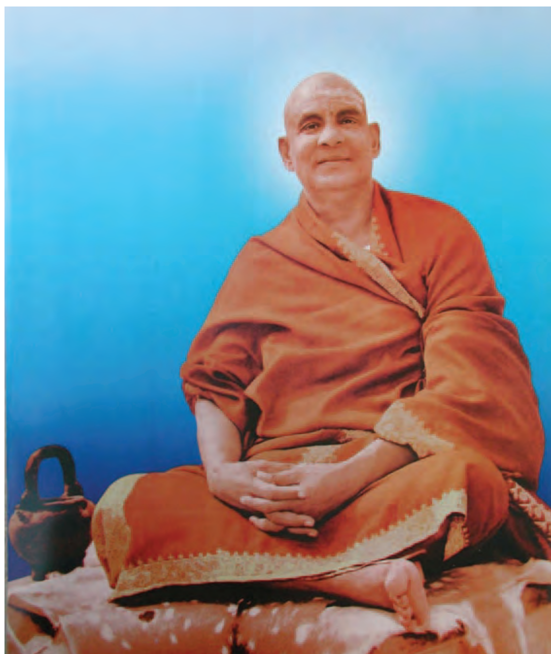
बिहार योग भारती द्वारा
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा

प्रथम प्रकाशन 1997
पुनर्मुद्रण 2004, 2011, 2013
संशोधित संस्करण 2018

ISBN: 978-81-86336-35-9

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड,
नई दिल्ली

वेबसाइट: www.biharyoga.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

ग्रन्थ परिचय

घेरण्ड संहिता व्यावहारिक योग पर लिखा गया एक साहित्य है, जिसके प्रणेता महर्षि घेरण्ड हैं। उनकी कृति से मालूम पड़ता है कि वे एक वैष्णव सन्त रहे होंगे, क्योंकि उनके मन्त्रों में विष्णु की चर्चा की गयी है। 'जलं विष्णुं थलं विष्णुं'– अर्थात् जल में विष्णु हैं, थल में विष्णु हैं। एक-दो स्थानों पर नारायण की चर्चा की गयी है। जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने वैष्णव सिद्धान्त को अपने जीवन में अपनाया था और साथ-ही-साथ एक सिद्ध हठयोगी भी थे। उन्होंने योग को जो स्वरूप दिया, उसमें शरीर से शुरू करके आत्म-तत्त्व तक की जानकारी दी गयी है। अभ्यासों की रूप-रेखा बतायी गयी है।

घेरण्ड संहिता की प्राच्य प्रतियों से यह अनुमान लगाया जाता है कि ये सत्रहवीं शताब्दी के ग्रन्थ हैं। वैसे महर्षि घेरण्ड का जन्म कहाँ हुआ था या वे किस क्षेत्र में रहते थे, यह कोई नहीं जानता। घेरण्ड संहिता की उपलब्ध प्रतियों में पहली प्रति सन् 1804 की है।

घेरण्ड संहिता में जिस योग की शिक्षा दी गयी है, उसे लोग 'सप्तांग योग' के नाम से जानते हैं। योग में कोई ऐसा निश्चित नियम नहीं है कि योग के इतने पक्ष होने ही चाहिए। अन्य ग्रन्थों में अष्टांग योग की चर्चा की गयी है, लेकिन हठयोग के कुछ ग्रन्थों में योग के छः अंगों का वर्णन किया गया है। 'हठ रत्नावली' में, जिसके प्रणेता महायोगिन्द्र श्री निवास भट्ट थे, चतुरंग योग है। गोरखनाथ द्वारा लिखित 'गोरक्ष शतक' में षडांग योग की चर्चा की गयी है।

एक युग की आवश्यकता के अनुसार, समाज की आवश्यकता के अनुसार लोगों ने योग की कुछ पद्धतियों को प्रचलित किया। सम्भवत: यह कारण भी हो सकता है कि एक जमाने में धारणा थी कि योग का अभ्यास केवल साधु, त्यागी, विरक्त

या महात्मा कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें योग के प्रारम्भिक यम और नियमों को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती होगी। इसलिए यम और नियम को बहुत स्थानों से हटाया गया है। उनका वर्णन नहीं किया गया है। लेकिन जैसे-जैसे युग परिवर्तित होता गया और जन-सामान्य योग के प्रति रुचि दर्शाने लगा, बाद के विचारकों एवं मनीषियों ने यम और नियम को भी योग की परिभाषा में जोड़ दिया।

घेरण्ड संहिता में सबसे पहले शरीर शुद्धि की क्रियाओं की चर्चा की गयी है, जिन्हें षट्कर्म कहा जाता है। इनमें प्रमुख हैं, नेति– नाक की सफाई, धौति– पेट के ऊपरी भाग और भोजन नली की सफाई, वस्ति– आँतों की सफाई, जिससे हमारे शारीरिक विकार दूर हो जाएँ, शारीरिक विकार उत्पन्न न हों, नौलि– पेट, गुर्दे इत्यादि का व्यायाम, कपालभाति– प्राणायाम का एक प्रकार, और त्राटक– मानसिक एकाग्रता की एक विधि। षट्कर्मों या हठयोग के ये छः अंग माने जाते हैं। शरीर शुद्धि की इन क्रियाओं को महर्षि घेरण्ड ने योग का पहला आयाम माना है। इसके बाद आसनों की चर्चा की है।

महर्षि घेरण्ड ने मुख्यतः ऐसे ही आसनों की चर्चा की है, जिनसे शरीर को दृढ़ता एवं स्थिरता प्राप्त होती है। यहाँ पर भी आसनों का उद्देश्य शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण के पश्चात् ऐसी स्थिति को प्राप्त करना है, जिसमें शारीरिक क्लेश, या दर्द उत्पन्न न हो। तीसरे आयाम के अन्तर्गत वे मुद्राओं की चर्चा करते हैं। मुद्राएँ अनेक प्रकार की होती हैं। महर्षि घेरण्ड ने पचीस मुद्राओं का वर्णन किया है, जिनके द्वारा हमारे भीतर प्राणशक्ति के प्रवाह को नियन्त्रित किया जा सकता है। उनका कहना है कि प्राण हमारे शरीर के भीतर शक्ति और ताप उत्पन्न करते हैं। उच्च साधना में जब व्यक्ति लम्बे समय तक एक अवस्था में बैठता है, तो उसके शरीर से गर्मी निकलती है। शरीर का तापमान कम हो जाता है, क्योंकि हमारे भीतर प्राणशक्ति नियन्त्रित नहीं है। लेकिन मुद्राओं के अभ्यास द्वारा हम प्राणशक्ति या ऊर्जा को अपने शरीर में वापस खींच लेते हैं, उसे नष्ट नहीं होने देते। प्राण को शरीर के भीतर रोकने के लिए महर्षि घेरण्ड ने मुद्राओं का वर्णन किया है।

मुद्राओं के बाद चौथे आयाम के रूप में उन्होंने इस उद्देश्य के साथ प्रत्याहार का वर्णन किया है कि जब शरीर शान्त और स्थिर हो जाए, प्राणों का व्यय न हो, वे अनियन्त्रित न रहें, हमारे नियन्त्रण में आ जायें, तब मन स्वतः अन्तर्मुखी हो जाएगा। पहले हम अपने शरीर को शुद्ध कर लेते हैं। शरीर के विकारों को हटा देते हैं। उसके बाद आसन में स्थिरता प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् प्राण को सन्तुलित एवं नियन्त्रित करते हैं, तो चौथे में मन स्वाभाविक रूप से अन्तर्मुखी हो जाता है।

प्रत्याहार के बाद पाँचवें आयाम में उन्होंने प्राणायाम के अभ्यास को जोड़ा है। प्राणायाम के जितने अभ्यास घेरण्ड संहिता में बतलाए गये हैं, उनका सम्बन्ध मन्त्रों के साथ है कि यदि व्यक्ति प्राणायाम करे तो मन्त्रों के साथ। प्राणायाम के अभ्यास में हम श्वास-प्रश्वास को अन्दर-बाहर जाते हुए देखते हैं और उनकी लम्बाई को समान बनाते हैं। महर्षि घेरण्ड ने भी यही पद्धति अपनायी है, लेकिन गिनती के स्थान पर मन्त्रों का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि प्रत्याहार की अवस्था में, जब मन अन्तर्मुखी और केन्द्रित हो रहा हो, उस समय सूक्ष्म अवस्था में प्राणों को जाग्रत करना सरल है। उस अवस्था में प्राणों की जाग्रति और मन को अन्तर्मुखी बनाने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। प्रत्याहार के बाद स्वाभाविक रूप से सूक्ष्म स्तर के अनुभव, सूक्ष्म जगत् की अनुभूतियाँ होंगी और आप प्राण को जाग्रत कर पायेंगे।

मन्त्र के प्रयोग को जोड़कर उन्होंने प्राणायाम के अभ्यास को और शक्तिशाली बना दिया है, क्योंकि जब हम श्वास के साथ मन्त्र जपते हैं तो उसके स्पन्दन का प्रभाव पड़ता है, जिससे एकाग्रता का विस्तार होता और प्राण के क्षेत्र में शक्ति उत्पन्न होती है, जाग्रत होती है। जिस पर हमारा नियन्त्रण रहता है। वह शक्ति अनियन्त्रित नहीं रहती।

इसके बाद छठे आयाम के अन्तर्गत आता है ध्यान। प्राण जाग्रत हो जाएँ, मन अन्तर्मुखी हो जाए, उसके बाद ध्यान अपने आप ही लगता है। उन्होंने ध्यान के तीन प्रकार बतलाए हैं– बहिरंग ध्यान, अन्तरंग ध्यान और एकचित्त ध्यान। बहिरंग ध्यान में जगत् और इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न अनुभवों के प्रति सजगता, अन्तरंग ध्यान में सूक्ष्म मानसिक स्तरों में उत्पन्न अनुभवों की सजगता और एकचित्त ध्यान में आन्तरिक अनुभूति की जागृति होती है। सातवें आयाम में समाधि का वर्णन किया गया है।

इस प्रक्रिया या समूह को उन्होंने एक दूसरा नाम दिया है– 'घटस्थ योग'। घटस्थ योग का मतलब हुआ, शरीर पर आधारित योग। घट का अर्थ होता है शरीर। यह शरीर घट है। घट का दूसरा अर्थ होता है घड़ा। शरीर को उन्होंने एक घड़े के रूप में देखा, जो पदार्थ से बनी हुई एक आकृति है, और परमेश्वर ने उसमें जो कुछ भर दिया है– इन्द्रिय कहिए, मन कहिए, बुद्धि कहिए, अहंकार कहिएसब मिलाकर हमारा यह घड़ा बना है।

अत: आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए योग की शुरुआत शरीर से होती है और शरीर के माध्यम से हम अपने मानसिक और भावनात्मक स्तरों को नियन्त्रित करके आध्यात्मिक अनुभूति को जाग्रत कर सकते हैं। यह इनकी मान्यता है।

प्रार्थना

आदीश्वराय प्रणमामि तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोग विद्या ।
विराजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥

मैं उस आदि ईश्वर को प्रणाम करता हूँ, जिसके द्वारा उस हठयोग विद्या का उपदेश दिया गया है, जो विकसित होकर राजयोग के रूप में शोभायमान हो जाती है। उस स्थिति में पहुँचने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए हठयोग विद्या सीढ़ी का काम करती है।

विषय सूची

अध्याय - 1
षट्कर्म प्रकरण

अध्याय - 2
योगासन प्रकरण

अध्याय - 3
मुद्रा और बन्ध प्रकरण

अध्याय - 4
प्रत्याहार प्रकरण

अध्याय - 5
प्राणायाम प्रकरण

अध्याय - 6
ध्यान प्रकरण

अध्याय - 7
समाधि प्रकरण



एकदा चण्डकापालिर्गत्वा घेरण्डकुट्टिरम् ।
प्रणम्य विनयाद्भक्तया घेरण्डं परिपृच्छति ॥1॥

अर्थ

एक समय की बात है कि योगाभ्यास के लिए जिज्ञासा करने वाले राजा चण्डकपालि नामक एक शिष्य महर्षि घेरण्ड की कुटी में गये और उन्होंने विनय एवं भक्तिपूर्वक प्रणाम करके महर्षि से प्रश्न किया ॥1॥

व्याख्या

एक बार राजा चण्डकपालि महर्षि घेरण्ड की कुटी में जाते और विनयपूर्वक, भक्तिपूर्वक प्रणाम कर उनसे एक प्रश्न करते हैं–

घटस्थयोगं योगेश तत्त्वज्ञानस्य कारणम् ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि योगेश्वर वद प्रभो ॥2॥

अर्थ

हे योगेश्वर! तत्त्वज्ञान का कारण जो घटस्थ योग है, उसे मैं जानने को इच्छुक हूँ। हे योगेश्वर! हे प्रभो! कृपा करके उसे मेरे प्रति कहिए ॥2॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड को योगेश्वर कहा गया है। उन्हें सम्बोधित किया गया है कि हे योग के प्रणेता, योग के ईश्वर, योग के गुरु, मुझे घटस्थ योग के बारे में

बतलाइये। *'तत्त्व ज्ञानस्य कारणम्'*–जिसके द्वारा व्यक्ति तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर सकता है। *'इदानीं श्रोतुमिच्छामि'*–मुझे सुनने और जानने की इच्छा है। *'योगेश्वर वद प्रभो'*–हे योगेश्वर, मुझे समझाइये।

चण्डकपालि एक राजा थे। राजा होते हुए भी वे महर्षि घेरण्ड के पास जाते हैं और उनसे प्रश्न करते हैं कि–"वह योग जिसका आधार शरीर है, किस प्रकार अन्तिम सत्य को जानने में सहायक सिद्ध हो सकता है?" *'घटस्थ योगं योगेश तत्त्व ज्ञानस्य कारणम्'*। इसमें चार प्रश्नों का समावेश है। पहला–तत्त्वज्ञान क्या है? दूसरा–घटस्थ योग क्या है? तीसरा–इस योग का अभ्यास हम कैसे करें? और चौथा–क्या योग द्वारा ज्ञान प्राप्ति सम्भव है?

तत्त्वज्ञान–सर्वप्रथम हम पहले प्रश्न को समझें। तत्त्व का अर्थ होता है, वास्तविकता। तत्त्वज्ञान का अर्थ होता है–मनुष्य शरीर, मनुष्य मन और जीवात्मा के पीछे जो वास्तविकता या सत्य है, उसका ज्ञान। उसे हम किस प्रकार समझें? यह देखने में आता है कि यही प्रश्न सभी दार्शनिकों का पहला प्रश्न होता है कि मानव जीवन का उद्देश्य क्या है? लक्ष्य क्या है?

सामान्य जीवन में, जब तक हम जीवित हैं, जब तक हमारे शरीर में प्राण हैं, हम जीवन का आनन्द उठाते हैं और जीवन में आनन्द उठाने की प्रक्रिया के समय हम बाह्य वृत्ति वाले बन जाते हैं। हमारी चेतना बहिर्मुखी हो जाती है, जिससे हम अपने आन्तरिक जीवन को संयत और सन्तुलित नहीं रख पाते। तत्त्वज्ञान का अर्थ होता है–अन्तिम सत्य का ज्ञान या आत्मज्ञान; उसकी अनुभूति, जो मेरे इस शरीर का कारण है। उसकी अनुभूति, जो मेरे इस मन का कारण है। उसकी अनुभूति, जो इस जगत् का कारण है। अत: तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान की प्राप्ति जीवन की एक दूसरी अवस्था को दर्शाती है, जो केवल बहिर्मुखी नहीं, बल्कि बहिरंग और अन्तरंग जीवन में सन्तुलन, संयम एवं समरसता का अनुभव दिलाये।

घटस्थ योग–दूसरा प्रश्न है, 'घटस्थ योग क्या है?' घट का अर्थ होता है, घड़ा। जब हम घड़े की कल्पना करते हैं, तब मिट्टी से बनी एक आकृति मानस पटल पर उभरती है। हम उसकी बाह्य आकृति को देखते हैं, पर हमें यह मालूम नहीं रहता कि उसके अन्दर क्या भरा है। हो सकता है घड़ा खाली हो; हो सकता है उसमें पानी भरा हो; हो सकता है उसमें अन्न रखा हो। घड़े के भीतर कोई भी चीज हो सकती है, लेकिन घट कहने से केवल बाह्य आकृति का ज्ञान मिलता है।

घटस्थ योग शरीर पर आधारित योग है। शरीर को तो हम देखते हैं। शरीर का अनुभव हमें होता है। उसके विभिन्न रोगों का सामना हम करते हैं।

उसे सुखी और सन्तुष्ट बनाने के लिए हम पुरुषार्थ या कर्म करते हैं। शरीर को ठण्ढ लगती है, तो कपड़े पहनते हैं। गरमी लगती है तो कपड़े उतारते हैं, पंखा चलाते हैं। शरीर विश्राम चाहता है तो सोते हैं। शरीर के इन सब बाह्य क्रियाकलापों को तो हम अपने जीवन में देखते हैं; अनुभव करते हैं, लेकिन शरीर के भीतर और कौन-कौन से तत्त्व हैं, यह कोई नहीं जानता। हमारे शरीर के भीतर कौन-कौन-सी शक्तियाँ हैं, क्यों हम जीवन में कर्म करते हैं, विचार करते हैं, यह कोई नहीं जानता।

शरीर की रचना एक विचित्र संयोग से हुई है। उस संयोग को आप चाहे प्रकृति कहिए, ब्रह्म कहिए, या ईश्वर कहिए। वह शक्ति क्या है, जिसने शरीर की रचना की? वह कौन-सी शक्ति है, जिसने हमारे शरीर के भीतर अन्य शक्तियों की उत्पत्ति की? इस प्रश्न से यह भी मालूम पड़ता है कि जब हम शरीर पर आधारित योगाभ्यास प्रारम्भ करते हैं, तो हमारे मस्तिष्क पर उसका सीधा प्रभाव पड़ता है, और मस्तिष्क की गतिविधियाँ शान्त हो जाती हैं। शारीरिक योग का जो प्रभाव मन पर पड़ता है, उसके माध्यम से मानसिक चंचलता शान्त हो जाती है। शान्ति की प्राप्ति के पश्चात् हम अपने कर्मों और संस्कारों को परिमार्जित कर सकते हैं।

एतदर्थ शरीर को निर्मित करने वाले सूक्ष्म एवं स्थूल तत्त्वों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। जब स्थूल एवं सूक्ष्म तत्त्वों का परिचय हमें प्राप्त होता है, तब यह कहा जा सकता है कि घटस्थ योग की शुरुआत हो रही है। पुन:, तीसरा प्रश्न है, इस योग का अभ्यास कैसे हो? यही इस ग्रन्थ का विषय है। पूरे ग्रन्थ में इसी विषय की चर्चा की गयी है कि व्यक्ति को किस प्रकार योगाभ्यास करना चाहिए। चौथा प्रश्न है कि इसका परिणाम क्या होता है? क्या योगाभ्यास से तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना सम्भव है?

प्राप्ति तो परिणाम है। यदि हम अपने जीवन में कोई चीज प्राप्त करते हैं, तो वह कर्म का परिणाम है। योग से कुछ-न-कुछ तो अवश्य प्राप्त होगा। यह हमारी अपनी क्षमता पर निर्भर है कि हम किस प्रकार तैयारी करते हैं; किस प्रकार साधना करते हैं। तभी हमें प्राप्ति या परिणाम दिखायी देगा। वैसे प्रकृति का तो यह नियम है कि हर कर्म का एक परिणाम अवश्य होता है। यदि आप अपने हाथ को हवा में हिलायेंगे, तो इसका भी एक परिणाम उत्पन्न होगा, जो गुप्त है। मान लीजिए, मच्छर बैठा है। आपने मच्छर को भगाने के लिए हाथ हिलाया। मच्छर भाग गया। यह तो बाह्य परिणाम है, लेकिन इसका एक सूक्ष्म परिणाम

भी है– ध्वनि की उत्पत्ति। इसके बारे में हमें जानकारी नहीं मिलती। इसे आप सूक्ष्म परिणाम कहिए या गुप्त परिणाम कहिए, क्योंकि यहाँ पर घर्षण की क्रिया हो रही है। पदार्थ और वायु में, हाथ और हवा में घर्षण की प्रक्रिया हो रही है। एक ध्वनि भी उत्पन्न हो रही है, जो हमें सुनायी नहीं दे रही है। यदि हमारे कान उतनी सूक्ष्म ध्वनि को सुन सकते हों, तो शायद वह ध्वनि भी सुनायी देगी। ठीक इसी प्रकार योगाभ्यास से भी सूक्ष्म या गुप्त परिणाम उत्पन्न होते हैं। भले ही आप इस परिणाम के प्रति सजग न रहें। भले ही आप इस परिणाम को तत्काल बुद्धि के माध्यम से न समझें, लेकिन उसका अनुभव होगा। महर्षि घेरण्ड ने अनेक उपमाओं द्वारा योग के वैज्ञानिक एवं तार्किक पक्ष को सिद्ध किया है।

साधु साधु महाबाहो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
कथयामि च ते वत्स सावधानोऽवधारय ॥3॥

अर्थ

महर्षि घेरण्ड ने कहा, हे महाबाहो! तुम्हारे प्रश्न के लिए मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ। हे वत्स! तुमने जिस विषय की जिज्ञासा की है, उसे मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ, सावधानीपूर्वक ग्रहण करो ॥3॥

व्याख्या

राजा को महाबाहु के रूप में सम्बोधित किया गया है। महाबाहु के अनेक अर्थ होते हैं, लेकिन एक अर्थ है– जिसकी भुजाओं में शक्ति है, जो प्रजा की रक्षा करता है और उनका पालन-पोषण करता है। यहाँ महर्षि घेरण्ड द्वारा एक प्राचीन मान्यता को तोड़ा गया है। उस काल में सामान्य धारणा तो यह थी कि सांसारियों एवं गृहस्थों के लिए योगाभ्यास, तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान का इच्छुक होना आवश्यक नहीं। यह केवल साधु-संन्यासियों के योग्य है। लेकिन इस ग्रन्थ से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि एक राजा उनके पास आते हैं। राजा अपने पद से राजा तो थे ही, गृहस्थ भी थे। साथ-ही-साथ मुमुक्षु, अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखने वाले भी थे। वे योग की जानकारी प्राप्त करने के लिए आते हैं।

योग के अधिकारी– इस मन्त्र में बतलाया गया है कि योग के अधिकारी सभी हैं। *'साधु-साधु महाबाहो'*– बहुत अच्छा है कि तुम इस मार्ग में आए हो। तुमने इस प्रकार की जिज्ञासा व्यक्त की, क्योंकि योग की शिक्षा उस व्यक्ति को

दी जाती है, जो स्वयं को जानने के लिए उत्सुक हो। जो स्वयं को जानने के लिए पुरुषार्थ एवं साधना करना चाहता है, वही व्यक्ति योगी कहलाता है। योगी की परिभाषा, या योग का अर्थ होता है, सत्य और ज्ञान की प्राप्ति। जो व्यक्ति, चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे साधु-संन्यासी हो, इस प्रकार का लक्ष्य अपने सामने रखता है कि मैं ज्ञानार्जन करूँ, अन्ततोगत्वा सत्य को समझूँ, वह योगी कहलाता है।

योग की एक बहुत-ही प्रचलित परिभाषा है– जोड़ना। यहाँ पर जोड़ने का अर्थ है– स्थूल और सूक्ष्म को जोड़ना; व्यक्त और अव्यक्त को जोड़ना। योग का सम्बन्ध मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना और ब्रह्माण्डीय चेतना के मिलन से होता है। इस प्रक्रिया में मनुष्य पहले योगी नहीं, साधक बनता है। जिज्ञासु, साधक, योगी और जीवनमुक्त– ये चार अवस्थायें हैं। जिज्ञासा तो सभी के मन में उत्पन्न होती है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में कभी-न-कभी सोचता तो अवश्य है कि मेरे इस जीवन का उद्देश्य क्या है, लेकिन बहिर्मुखी वृत्ति के कारण वह अपनी इस जिज्ञासा को भूल जाता है। इनमें से कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपने उद्देश्य को सामने रखकर साधना करते हैं। वे साधक के समूह में आ जायेंगे। साधना भी अनेक प्रकार से की जाती है, जिनमें पहली साधना सर्वज्ञात है– धर्माचरण, धर्म का आचरण।

योग और तन्त्र ही ऐसी प्राचीन विद्यायें या प्राचीन विज्ञान थे, जिनमें अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था को जानने के लिए; शरीर, मन और बुद्धि को जानने के लिए अलग-अलग अभ्यास, अलग-अलग विधियाँ बतलायी जाती थीं। योगाभ्यास या तन्त्र की पद्धतियों का अभ्यास त्यागी, संन्यासी, साधु ही किया करते थे। गृहस्थ जीवन में साधना का अर्थ केवल धर्म के आचरण तक सीमित था, जो आज भी समाज में कहीं-कहीं दिखलायी देता है। यदि आप किसी आदमी से पूछें कि क्या तुम साधना करते हो, तो कहेगा कि मैं प्रतिदिन सुबह उठकर अपने इष्ट देव के सामने तीन अगरबत्तियाँ जला देता हूँ; दिया जला देता हूँ, और एक-दो मन्त्र पढ़ लेता हूँ। यही मेरी साधना है।

प्रत्येक मनुष्य के मन में यह धारणा है कि साधना का अर्थ धर्माचरण है। योग कहता है कि वह साधना का केवल एक अंग है। यही घोषणा महाभारत, रामायण, योग-वाशिष्ठ, वेदों एवं अन्य ग्रन्थों में भी की गयी है। *'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'*– शरीर के माध्यम से ही मनुष्य सभी धर्मों को साध सकता है। लेकिन अब तक यह बात किसी की समझ में नहीं आयी है, क्योंकि लोग इसका फिर वही अर्थ निकालते हैं कि ईश्वर प्राप्ति के लिए मनुष्य को शरीर

के माध्यम से थोड़ा-बहुत प्रयत्न करना चाहिए, पुरुषार्थ करना चाहिए। लेकिन प्रक्रिया क्या है? जब हम योग को अपनाते हैं, तब योगी कहलाते हैं। साधक से योगी बनते हैं। धर्म के आचरण के पश्चात् योगाभ्यासी कहलाते हैं।

योगी के व्यावहारिक लक्ष्य– योगी का पहला व्यावहारिक लक्ष्य होता है कि मैं अपने व्यक्तित्व को समझूँ, जिसमें शरीर, मन और बुद्धि सभी सम्मिलित हैं। उसका दूसरा व्यावहारिक लक्ष्य होता है कि मैं अपनी अन्तरंग शक्तियों को जाग्रत करूँ, जो मेरे भीतर हैं। आजकल विज्ञान भी तो यही बतलाता है कि मनुष्य की प्रतिभा पूर्ण रूप से विकसित नहीं है। मनुष्य अपने मस्तिष्क का केवल दसवाँ भाग प्रयोग में लाता है और बाकी नौ भाग सुषुप्त अवस्था में हैं, जिनका प्रयोग जीवन में कभी नहीं हो पाता। विज्ञान यह भी कहता है कि यदि हम अपने मस्तिष्क के सभी सुषुप्त भागों का प्रयोग करने लग जायें, तो हमारी प्रतिभा का कोई अन्त नहीं, कोई सीमा नहीं रहेगी, व्यक्ति मानव से महामानव बन सकता है। यह तथ्य, जिसे विज्ञान ने अपने अनुसन्धान के पश्चात् स्वीकार किया है, इसे योग और तन्त्र ने बहुत पहले ही कहा है कि सुषुप्त अन्तरंग शक्तियों को जाग्रत करना चाहिए। यह योगी का दूसरा व्यावहारिक लक्ष्य होता है।

योगी का तीसरा व्यावहारिक लक्ष्य होता है, समाज की सेवा–हम कुछ सामर्थ्य प्राप्त कर समाज के निर्माण में योगदान दें। इस बीच साधना अनवरत चलती रहती है। इस प्रकार कर्म और ज्ञान का जहाँ संयमपूर्ण मिश्रण होता है, वहाँ चौथी अवस्था की प्राप्ति होती है, जो है 'जीवन-मुक्ति'। स्वयं और समाज के लिए किसी कल्याणकारी विषय में विशेष योग्यता प्राप्त करना योगी का लक्ष्य रहता है।

राजा चण्डकपालि महर्षि घेरण्ड के समक्ष एक साधक, एक जिज्ञासु के रूप में आते हैं। महर्षि घेरण्ड योगी हैं, जो उन्हें योग का मार्ग बतलाते हैं।

नास्ति मायासमं पापं नास्ति योगात्परं बलम ।
नास्ति ज्ञानात्परो बन्धुर्नाहङ्कारात्परो रिपुः ॥4॥

अर्थ

माया के समान दुनिया में कोई पाप नहीं और योग के समान दुनिया में कोई शक्ति नहीं। ज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई बन्धु नहीं और अहंकार से बढ़कर कोई शत्रु नहीं ॥4॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड ने योग को समझाने के लिए चार विषयों को चुना है। पहला विषय है– माया और पाप। *'नास्ति माया समं पापम्'*। माया को पाप इसलिए माना गया है कि उसका अस्तित्व अस्थायी है; वह असत्य है और अज्ञान का प्रतीक है। जब व्यक्ति अज्ञान में रहता है, तब माया के वश में रहता है और माया के वशीभूत हो जीवन में सुख और भोग के पीछे दौड़ता है। सुख और भोग के पीछे दौड़ना और अपने आपको इस दौड़ में भूल जाना, अपने अस्तित्व को भूल जाना पाप का रूप माना गया है। अज्ञान में अपने आपको भूल जाना पाप है। विषयों में लिप्त हो, अपने आपको भूल जाना पाप है। अस्थायी जीवन का अनुभव करके, शाश्वत जीवन को भूल जाना पाप है, और इसका कारण है– माया। इसीलिए महर्षि घेरण्ड कहते हैं, 'नास्ति मायासमं पापम्'– माया के समान दुनिया में कोई पाप नहीं है।

योग बल– 'नास्ति योगात्परं बलम्'– योग के बराबर कोई शक्ति नहीं है। योग को उन्होंने शक्ति के रूप में देखा है, जिसके माध्यम से हम जीवन की सभी कमियों को दूर कर सकते हैं। शक्ति इसलिए माना है कि इसके द्वारा शरीर, मन, बुद्धि, विचार, व्यवहार, जीवनसबको अपने नियन्त्रण में लाया जा सकता है, संयत और सन्तुलित बनाया जा सकता है। सम्भवत: दुनिया में ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जो शरीर, मन और चेतना के विकास के लिए एक साथ कार्य करे। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में तो ऐसे किसी विज्ञान के बारे में सिखलाते ही नहीं हैं। इस युग में शरीर के विकास के लिए क्या बतलाते हैं– दण्ड बैठक, प्रात: दौड़ना या व्यायामशाला में जाकर कुछ व्यायाम करना, खेलना आदि। शारीरिक विकास के लिए सामाजिक मान्यता इतनी ही है। मानसिक विकास के लिए कोई पद्धति नहीं है, और बौद्धिक विकास के लिए शिक्षा की पद्धति है। अत: समाज में मानसिक नहीं, बौद्धिक विकास होता है।

शारीरिक रोग को दूर करने के लिए अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ हैं। एलोपैथी, होमियोपैथी, आयुर्वेद– ये सब शरीर को पदार्थ समझ कर ही इसकी चिकित्सा करती हैं। मानसिक रोग के लिए मनोविज्ञान ने कुछ तरीके निकाले हैं, किन्तु ये तरीके भी अभी प्रयोगात्मक स्तर पर हैं; सिद्ध नहीं हुए हैं। सम्भवत: आधुनिक मनोविज्ञान की विचारधारा दो सौ वर्ष प्राचीन है। आधुनिक मनोविज्ञान फ्रायड और जुंग के समकालीन है।

व्यक्तित्व के विकास के लिए समाज में तो शिक्षा मिलती नहीं है। हाँ, भारत में एक जमाना भले ही था, जब बालकों को, विद्यार्थियों को व्यक्तित्व विकास के

तरीके बतलाये जाते थे, लेकिन आधुनिक जीवन में अब उसका भी कोई महत्त्व नहीं रह गया है। आप दुनिया के सभी देशों का चक्कर लगा लीजिए, सभी पद्धतियों को देख लीजिए, आपको कोई ऐसी विधि दिखलायी नहीं देगी, जो व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में सहयोग दे सके। महर्षि घेरण्ड ने इसी कारण कहा है कि दुनिया में योग से बढ़कर कोई शक्ति नहीं है। इसके माध्यम से व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सकता है। शारीरिक रोग सरल तरीके से दूर किये जा सकते हैं। मानसिक स्तर का विकास किया जा सकता है। बुद्धि की प्रतिभा को जाग्रत कर हम बुद्धि के क्षेत्र में भी विकास का अनुभव कर सकते हैं। स्थूल जगत् या स्थूल जीवन से सम्बन्धित अनुभव ही नहीं, बल्कि सूक्ष्म आन्तरिक अनुभव प्राप्त कर सकते हैं और उन अनुभवों का उपयोग कर सकते हैं।

ज्ञान– 'नास्ति ज्ञानात्परो बन्धु:'–ज्ञान से बढ़कर दुनिया में कोई मित्र नहीं है। सच्चा साथी ज्ञान है, क्योंकि कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी यही एक शक्ति हमारा साथ देती है। एक कहानी है। दो आदमी जंगल से गुजर रहे थे। रास्ते में एक भालू मिला। एक आदमी दौड़कर पेड़ पर चढ़ गया। दूसरा आदमी चढ़ना नहीं जानता था। अचानक उसे ख्याल आया कि मरे हुए शरीर को भालू तंग नहीं करता, छूता भी नहीं है। वह तुरंत जमीन पर लेटकर मरे हुए व्यक्ति का अभिनय करने लगा। भालू आया, उसे थोड़ा सूँघा, इधर-उधर टटोला। वह आदमी एकदम मुर्दे की तरह पड़ा रहा और उसने अपने शरीर को हिलने-डुलने नहीं दिया। दो-तीन मिनट तक भालू ने उसे सूँघा और पंजे से हिलाया। वह आदमी मन पर नियन्त्रण रख शव की भाँति पड़ा रहा। कुछ समय के बाद भालू परेशान हो गया। उसने सोचा, इसे मारने से क्या लाभ? यह तो पहले से ही मरा पड़ा है। यह सोच कर वह अपने रास्ते चला गया।

थोड़ी देर बाद पहला आदमी नीचे आया। उसने दूसरे आदमी से पूछा, भालू ने तुम्हारे कान में क्या कहा? जब भालू दूसरे आदमी को सूँघ रहा था तो उसने खोपड़ी, कान आदि सब कुछ सूँघा-टटोला था। इसलिए पहले आदमी ने, जो पेड़ पर चढ़ा था, मजाक किया, "अरे! भालू ने तुम्हें कान में क्या कहा?" तो दूसरे आदमी ने कहा, भालू ने मुझसे कहा कि ऐसे मित्रों पर कभी विश्वास नहीं रखना, जो समय पर तुम्हारा साथ न दें।

यहाँ पर मित्र ने तो साथ दिया नहीं, ज्ञान ने ही साथ दिया। इसीलिए ज्ञान को सच्चा मित्र मानते हैं। विषम-से-विषम परिस्थिति में यदि कोई व्यक्ति हमारा साथ न भी दे, पर हमारा ज्ञान तो हमेशा हमारा साथ देता है। यह ज्ञान अविद्या

को दूर करता है, क्योंकि जीवन में जितनी कठिनाईयाँ आती हैं, उनका मूल कारण तो हमारा अज्ञान है।

योग इस बात को स्वीकार नहीं करता कि मनुष्य अपने जीवन में प्रारब्ध के कारण कठिनाईयों का सामना करता है। योग कहता है कि यदि आपके भीतर पुरुषार्थ है, क्षमता है, तो आप सभी अवस्थाओं में सुखी रह सकते हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने इतने कष्ट सहे, लेकिन फिर भी वे हमेशा कर्तव्यनिष्ठ रहे, सत्यवादी रहे। अन्त में उनकी कर्तव्यनिष्ठा और सत्याचरण ने ही उन्हें विजयी बनाया। ज्ञान से गौरव की प्राप्ति होती है।

शत्रु– 'नाहङ्कारात्परो रिपुः'–अहंकार हमारे जीवन के सभी दोषों का मूल है। व्यक्ति की एक विचित्र धारणा रहती है। कोई व्यक्ति स्वयं को सर्वगुण सम्पन्न से नीचे तो समझना ही नहीं चाहेगा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति मन में अपनी एक छवि बनाये रखता है कि मैं श्रेष्ठ हूँ; मैं जानता हूँ; मैं समस्त गुणों से सम्पन्न हूँ। मेरे कार्य हमेशा ठीक होते हैं। मेरे विचार हमेशा ठीक होते हैं। मेरे सिद्धान्त सबसे अच्छे हैं। सामान्यतया मनुष्यों में यह प्रवृत्ति तो अवश्य ही देखी जाती है कि वे किसी के सामने झुकते नहीं। यह है 'अहम् भाव'। यही अहम् भाव जीवन में उनका सबसे बड़ा शत्रु बन जाता है, क्योंकि यह मित्रता में बाधक हो जाता है। यह शिक्षा पाने के भाव, सीखने के भाव को दबा देता है। ऐसे लोग अलग-अलग परिस्थितियों के अनुसार अपने को समायोजित नहीं कर पाते।

युवा पीढ़ी को बुजुर्गों से यही एक शिकायत रहती है कि मेरे पिताजी, या मेरे बुजुर्ग लोग बहुत कट्टर हैं, उनके विचार नहीं बदलते हैं। वे लोग यह नहीं करते, वह नहीं करते। परिस्थिति और काल के अनुसार इस प्रकार के व्यक्ति अपने आपको बदल नहीं पाते। आँखों के सामने अहंकार का जो पर्दा रहता है, वह उनकी प्रतिभा के विकास को रोक देता है। उन्हें अपने ऊपर झूठा गर्व होता है। इसीलिए जीवन में माया और अहंकार को पाप और शत्रु के रूप में तथा योग एवं ज्ञान को शक्ति और मित्र के रूप में देखा गया है। यहीं से योग की शिक्षा शुरू होती है कि किस प्रकार हम अभ्यास के द्वारा योग शक्ति का प्रयोग करें, ज्ञान को अपना साथी बनायें, पाप से मुक्त हों और अहंकार रूपी शत्रु को अपने से दूर ही रखें।

समग्र दृष्टि–महर्षि घेरण्ड का यह प्रथम पाठ या पहली शिक्षा है। इन चार विषयों पर चिन्तन-मनन करने से, व्यक्ति के जीवन में जो कमियाँ हैं, वे

दिखायी दे जायेंगी, क्योंकि संसार में, युग चाहे जो हो, चाहे आधुनिक युग हो या प्राचीन– ज्ञान, माया, अहंकार और योग (अपने आपको सम्पन्न बनाने के लिए हम जो प्रयास करते हैं, उसे यहाँ योग नाम दिया गया है)– इन चारों का पक्ष प्रबल होता है।

यहाँ पर यह मालूम पड़ रहा है कि माया का अर्थ अविद्या या अज्ञान है, जिसके बन्धन में हम सब हैं। माया का व्यावहारिक रूप है– संकीर्णता, अहंकार, हमारी विचारधारा, जिसे हम सर्वोत्कृष्ट मानते हैं; हमारे सिद्धान्त, हमारा जीवन, हमारा अस्तित्व, जिसके कारण हम विषयों और संसार के प्रति आकृष्ट होते हैं, संसार में अपने अस्तित्व को जमाने के लिए अपने आपको व्यवस्थित करते हैं। यह भाव एक बड़ा दुश्मन है। इसमें भी संकीर्णता का बोध हो रहा है, क्योंकि यदि व्यक्ति की चेतना विशाल हो, व्यापक हो, तो वह अहंकार के प्रभाव को भी कुछ हद तक नियन्त्रण में रख सकता है।

ज्ञान और योग, मित्र और शक्ति के रूप में देखे गये हैं। ज्ञान की आवश्यकता आज की आवश्यकता नहीं है। भले ही हम ज्ञान के अन्य रूपों को देखें, लेकिन जिस प्रकार से आदि मानवों ने, जो जंगलों एवं पर्वतों में रहते और शिकार करते थे, अस्त्र-शस्त्र का निर्माण किया; भाला, धनुष इत्यादि बनाये, वह भी तो ज्ञान की एक अभिव्यक्ति है। ज्ञान के माध्यम से हम अपने भीतर सुरक्षा का अनुभव करते हैं, आत्म-सन्तोष का अनुभव करते हैं। यह अनुभव करते हैं कि हम सभी प्रकार की परिस्थितियों एवं कठिनाईयों का सामना कर पायेंगे।

ज्ञान-पक्ष को आज के युग में, आज की परिस्थिति में हम लोग आन्तरिक और बाह्य दोनों मानते हैं। एक जमाने में ज्ञान का तात्पर्य बाह्य ज्ञान था। दूसरे जमाने में, सभ्यता में ज्ञान का तात्पर्य आन्तरिक ज्ञान था। लेकिन आज की आवश्यकता के अनुसार ज्ञान में बाह्य और आन्तरिक अनुभूतियों का समन्वय होना चाहिए, बोध होना चाहिए। तभी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के भीतर छुपी हुई अनन्त शक्ति का अनुभव कर सकता है, उसे जाग्रत कर सकता है।

योग को शक्ति या बल के रूप में देखा गया है। योग का दूसरा नाम है पुरुषार्थ। योग का अर्थ होता है जोड़ना। जब हम कुछ प्राप्त करने के लिए प्रयास करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, तब वह साधना योग-साधना के रूप में परिणत होती है। प्राप्ति की जो अवस्था है, उसे हम लोग कहेंगे सम्बन्ध को जोड़ने की अवस्था। पुरुषार्थ एवं साधना मनुष्य की शक्तियाँ हैं।

अभ्यासात्कादिवर्णानां यथाशास्त्राणि बोधयेत् ।
तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते॥5॥

अर्थ

जैसे कवर्ग आदि वर्णों का क्रमपूर्वक अभ्यास करने से सभी शास्त्रों का बोध सम्भव है, वैसे ही योग का अभ्यास करने से तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥3॥

व्याख्या

कवर्ग आदि वर्णों के ज्ञान के पश्चात् शास्त्रों का ज्ञान सम्भव है। एक बालक शिक्षा के बिना, क ख ग घ सीखे बिना वाक्य नहीं बना सकता; शुद्ध बोल नहीं सकता; पढ़ नहीं सकता। यदि वह प्रारम्भिक अवस्था से क ख ग घ, स्वर, व्यंजन, शब्द बनाना, वाक्य बनाना, पढ़ना और बोलना सीखे, तो धीरे-धीरे इस क्रमिक शिक्षा के माध्यम से अन्त में ऐसी अवस्था आती है जब वह किसी ग्रन्थ को, विज्ञान को, विद्या को पढ़ कर, जानकर, अध्ययन कर साध सकता है। इसी दिशा में महर्षि घेरण्ड संकेत कर रहे हैं। ठीक इसी प्रकार योगाभ्यास की भी क्रमिक साधना के पश्चात् तत्त्व-ज्ञान या आत्म-ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

प्रारम्भिक प्रशिक्षण–साधक धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। एक बालक को भौतिक शास्त्र की पुस्तक देकर हम यह अपेक्षा नहीं रख सकते कि वह उसे पढ़े, अध्ययन करे या समझे। एक बालक से, जो प्राथमिक कक्षा में पढ़ता है, हम पीएच.डी. का शोध पत्र लिखवाने का प्रयास नहीं करेंगे। यह व्यावहारिक बात है। लेकिन समस्या यहाँ पर यह हो जाती है कि ऐसा व्यक्ति, जो न पढ़ना जानता है, न लिखना जानता है, न क ख ग घ जानता है, जब योग-मार्ग में आता है, तो सीधा कुण्डलिनी जगाने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न तो एक अनपढ़ व्यक्ति द्वारा परमाणु-सिद्धान्त को समझने के प्रयास के तुल्य है। जब तक व्यक्ति के जीवन में प्रारम्भिक ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह परमाणु विज्ञान को किस प्रकार समझ सकता है?

शरीर क्रिया विज्ञान तथा मनोविज्ञान–व्यक्ति अगर जबरदस्ती प्रयास करने लग जाये, तो बुरा परिणाम होता है। इसलिए प्रथम आवश्यकता है कि योग-मार्ग में आने से पहले शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्रियाओं का परिचय प्राप्त हो। जब तक हमें अपने अंगों का ज्ञान नहीं होगा, तब तक 'मैं शरीर हूँ', यह ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। इसी परिप्रेक्ष्य में महर्षि घेरण्ड कहते

हैं कि योग का क्रमिक अभ्यास होना चाहिए। क्रमिक अभ्यास के माध्यम से धीरे-धीरे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होगी। इसके लिए शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक और आन्तरिक क्रियाओं से परिचित होना आवश्यक है। जब इनका परिचय प्राप्त हो जाये, तो स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों का अवलोकन करना आवश्यक है। अवलोकन ही नहीं, समझना, विश्लेषण करना और अनुभव करना भी आवश्यक है, तब कहीं आत्म-ज्ञान की स्थिति आती है। इसलिए जब तक व्यक्ति को तैरना न आता हो, दूसरे व्यक्ति को तैरते देख जोश में आकर गहरे पानी में कूद पड़ना और जान गवाँ देना उसकी नासमझी का परिचायक है। इसी अविवेक या नासमझी को दूर करने का तरीका महर्षि घेरण्ड ने बतलाया है कि शुरू से, शनैः शनैः, सब चीजों को जानते-सीखते हुए आगे बढ़ो।

व्यावहारिक जीवन में भी यही होता है। व्यक्ति यदि धीरे-धीरे, कदम-पर-कदम आगे बढ़ता है, तो उसे जीवन में थकान का अनुभव नहीं होता और हमेशा उसकी प्रगति होती रहती है। अन्यथा क्या होगा, पहले-पहल ही तेज दौड़ लगा लेंगे, फिर कहेंगे, मैं तो थक गया। इससे तो कुछ लाभ नहीं होगा। इसलिए व्यावहारिक जीवन को देखते हुए, अपनी क्षमता और सामर्थ्य को देखते हुए, इच्छा को नहीं, व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए। इच्छा तो आदमी बहुत-सी चीजों की रखता है, जिन्हें वह जिन्दगी में कभी प्राप्त भी नहीं कर सकता।

सुकृतैर्दुष्कृतैः कार्यैर्जायते प्राणिनां घटः।
घटादुत्पद्यते कर्म घटीयन्त्रं यथा भ्रमेत् ॥6॥

अर्थ

प्राणियों के शरीर सुकृत और दुष्कृत कर्मों से उत्पन्न होते हैं। शरीर से कर्म और कर्म से शरीर की उत्पत्ति होती है ॥6॥

व्याख्या

अच्छे और बुरे कर्म एवं संस्कार के कारण व्यक्ति के शरीर का जन्म होता है। शरीर से कर्म उत्पन्न होते हैं और यह क्रिया घट-यन्त्र (रहट) की तरह निरन्तर चलती रहती है। घट-यन्त्र पानी निकालने का यन्त्र होता है, जिसको बैल चलाते हैं और रहट में लगे घड़ों द्वारा पानी कुएँ से निकलता जाता है।

उर्ध्वाधोभ्रमतेयद्वत् घटीयन्त्रं गवां वशात् ।
तद्वत्कर्मवशाज्जीवो भ्रमते जन्ममृत्युभिः ॥7॥

अर्थ

जिस प्रकार बैलों के चलने पर घटी यन्त्र के घट ऊपर-नीचे होते रहते हैं, वैसे ही प्राणी भी कर्मवश जन्म-मरण रूपी संसार चक्र में घूमता रहता है ॥7॥

व्याख्या

जिस प्रकार घटी यन्त्र बैलों द्वारा संचालित हो ऊपर-नीचे होता रहता है, उसी प्रकार कर्मवश जीव भी जन्म-मृत्यु की अवस्था में भ्रमण करता रहता है, चक्कर काटता रहता है।

कर्म सिद्धान्त–कर्म और पुनर्जन्म एक-दूसरे के पूरक हैं। जन्म और मृत्यु एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त से सहमत हों, तो कर्म सिद्धान्त की व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि यहाँ पर महर्षि घेरण्ड का कहना है कि अच्छे और बुरे कर्मों के कारण मनुष्य के शरीर का जन्म होता है और व्यक्ति अच्छे या बुरे कर्म हर जन्म में करता रहता है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। हमारे कर्मों से संस्कारों का निर्माण होता है।

व्यक्ति जीवन में स्वयं अपने सुख और दुःख का जिम्मेदार होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह तो सभी अपने जीवन में अनुभव करते हैं। यदि किसी परिस्थिति में आन्तरिक तनाव या क्लेश उत्पन्न हो, तो व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है, लेकिन उसी परिस्थिति में यदि व्यक्ति अपने आपको संयत और सन्तुलित रखे, तो स्वयं को दुःखी नहीं होने देगा। सुख की अवस्था के लिए भी व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार होता है, क्योंकि प्रत्येक क्रिया या कर्म की प्रतिक्रिया होती है। अभी हम इसमें आकस्मिक घटना को नहीं जोड़ रहे हैं। अभी तो केवल व्यक्ति के तात्कालिक कर्मों की चर्चा कर रहे हैं।

प्रत्येक कर्म का एक परिणाम होता है, और यह परिणाम किस रूप में सामने आयेगा, यह कहना कठिन होता है। हमारी इच्छा से ही कार्य सम्पादन की क्षमता उत्पन्न होती है और जब हम कार्य का सम्पादन करते हैं, तो उसका परिणाम सामने आता है। कभी-कभी तत्काल यह परिणाम हमें दिखलायी देता है, जिसे कहते हैं तात्कालिक कर्म, और कभी-कभी रुकना पड़ता है। इसमें यह बात भी कही जा सकती है कि भूतकाल की इच्छा, भूतकाल के कर्म और

भूतकाल के परिणाम से व्यक्ति का जन्म होता है। चर्चा तो यहाँ शारीरिक जन्म के विषय में हो रही है, लेकिन इसे इस प्रकार भी देखा जा सकता है कि व्यक्ति के भीतर आज जो इच्छा उत्पन्न हो रही है, उसका सम्बन्ध किसी पुरानी इच्छा या कर्म से है। भले ही आप उसे न जानें, वह आपके अचेतन स्तर पर हो; भले ही उस इच्छा या कर्म का परिणाम आपके अवचेतन में हो, लेकिन उसका सम्बन्ध वर्तमान के साथ रहता है।

धार्मिक लोग, जो धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, इत्यादि में विश्वास रखते हैं, उनकी मान्यता है कि यदि हम शुभ कर्म करेंगे, तो हमारे सभी पुराने पाप कर्म नष्ट हो जायेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता। किसी शुभ कर्म को करने से पुराने पाप या कर्म नष्ट नहीं होते। शुभ कर्म करके आप एक नये संस्कार को जन्म देते हैं; एक सकारात्मक विचार को जन्म देते हैं। लेकिन पुराना जो ठप्पा लग चुका है, उसे आप निर्मूल नहीं कर सकते, क्योंकि मनुष्य के जो क्रियाकलाप होते हैं, वे उसके शरीर, मन और विचारधारा को अपने नियन्त्रण में रखते हैं। उसके जीवन पर शासन करते हैं। इच्छा और कर्म, दोनों बहुत-ही प्रबल होते हैं।

एक योगी, पहुँचे हुए सिद्ध-महात्मा मरणशैय्या पर लेटे थे, और लेटे-लेटे एक पेड़ को देख रहे थे। उन्होंने देखा, एक बहुत सुन्दर सेब उस पेड़ में लगा है और एक कीड़ा उसे खा रहा है। उन्होंने शिष्य को इशारे से कहा, "सेब चाहिए।" उनके भीतर भी इच्छा उत्पन्न हुई कि मरने से पहले मैं भी एक सेब खा लूँ, लेकिन सेब लाने के पहले ही उनका देहान्त हो गया। जब उनका देहान्त हो गया तब शिष्य ने देखा कि उनके हाथ की अंगुली एक सेब की ओर संकेत करते हुए तनी हुई है। शिष्य ने सोचा, मेरे गुरुजी कहीं फँस गये, अटक गये। चेला भी सिद्ध था। उसने ध्यान लगाया, देखा कि गुरुजी का जन्म सेब के वृक्ष में एक कीड़े के रूप में हुआ है। वह गया, सेब लाया और जब उसने देखा कि कीड़ा खाकर सन्तुष्ट हो गया है, तब कीड़े को मार डाला। जैसे ही उसने कीड़े की हत्या की, गुरुजी की अंगुली, जो तनी हुई थी, सामान्य हो गयी। यहाँ पर इच्छा का परिणाम दिखलायी दे रहा है। यह तो एक कहानी है, लेकिन बतलाती है कि इच्छा कितनी प्रबल हो सकती है।

भगवान् कृष्ण के साथ भी एक ऐसी ही घटना घटी थी। कृष्ण और अर्जुन एक नदी के किनारे घूम रहे थे। उन्होंने देखा कि एक मछुआरा अपने जाल में मछलियों को खींच रहा है। यह देख अर्जुन ने कृष्ण से कहा– आपके विचार से तो मछुआरा पाप कर रहा है। अनेक प्राणियों की हत्या कर रहा है, आखिर

मछली के भीतर भी तो जान है। कृष्ण ने कहा–हाँ, इसका परिणाम तो वह भुगतेगा ही, उसे भुगतना ही पड़ेगा।

कुछ दिनों के बाद वे लोग एक जंगल से गुजर रहे थे। वहाँ उन्होंने एक आधा मरा हुआ हाथी देखा। उसके शरीर पर हजारों चींटियाँ चिपकी हुई थीं। अर्जुन ने पूछा–भगवान्! आप तो सब जानते ही हैं। बतलाइये यह हाथी किस जन्म का पाप भुगत रहा है। यह मर भी नहीं पा रहा और इसके शरीर पर हजारों-हजार चींटियाँ चढ़कर इसे खाये जा रही हैं। कृष्ण कहते हैं–तुम्हें याद है वह मछुआरा? उसी ने मरकर हाथी का जन्म लिया है। जो चीटियाँ आज इसे खा रही हैं, वे सब वही मछलियाँ थीं, जिन्हें इसने अपने पिछले जन्म में मारा था।

इस कहानी में कर्म के परिणाम को समझाने का प्रयत्न किया गया है। व्यक्ति जो कर्म करता है, उसका परिणाम उसे भुगतना ही पड़ता है। चाहे इस जन्म में भुगते, चाहे दूसरे जन्म में। उदाहरणार्थ, पिन का डब्बा, जिसमें कागज को फँसाने के लिए पिन रखते हैं, कभी वह हाथ से गिर जाये, तो क्या आप उसे छोड़कर चले जायेंगे? नहीं, तुरन्त पिनों को ढूँढेंगे, वे कहाँ हैं। कहीं एक भी छूट न जाए। यह है तात्कालिक कर्म। आपने गलती की, तुरंत उसे समेटना पड़ा।

यहाँ महर्षि घेरण्ड का कहना है कि अच्छे-बुरे कर्मों से मनुष्य का जन्म होता है। किन्तु उचित विचार, व्यवहार और कर्म वर्तमान कालिक हैं, भूतकालिक नहीं। वर्तमान में उचित विचार, उचित व्यवहार और उचित कर्म भाग्य का निर्माण करते हैं, जिसका परिणाम बाद में सामने आता है। यह बात अवैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि जब हमारा जीवन संयत, सन्तुलित और सकारात्मक बन जायेगा, तब ये निषेधात्मक संस्कार या कर्म उत्पन्न नहीं होंगे। इसके लिए योग-मार्ग को अपनाना पड़ता है।

आमकुम्भ इवाम्भस्थो जीर्यमाण: सदा घट:।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्॥8॥

अर्थ

मिट्टी के कच्चे घट में जल भर दिया जाय तो वह गलकर नष्ट हो जायेगा। परन्तु यदि घट को पका कर जल भरें, तो न गलेगा, न नष्ट ही होगा। इसी प्रकार जीव के अपरिपक्व शरीर के विषय में समझना चाहिए। यह शरीर

योगाग्नि के द्वारा ही परिपक्व हो सकता है। अत: शरीर को परिपक्व बनाने के लिए योगाभ्यास आवश्यक है ॥8॥

व्याख्या

यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े की तरह है। कच्चे घड़े में यदि हम जल भर दें, तो वह गल कर नष्ट हो जाएगा। लेकिन यदि घड़े को अग्नि में पका कर रखें, तो उसमें पानी डालने पर भी गलने की सम्भावना नहीं होती। अग्नि में तपाने से घड़े में इतनी क्षमता आ जाती है कि उसमें जल रखा जा सकता है। इसी उदाहरण द्वारा महर्षि घेरण्ड शरीर के बारे में समझाते हैं कि यदि शरीर को भी योगाग्नि में तपाया जाए, तो शरीर में शक्ति का उद्भव होगा, जो शरीर को पहले शुद्ध करेगी, फिर उसकी क्षमताओं का विकास करेगी। शरीर में क्षमता कैसी होनी चाहिए, जीवन में शरीर का प्रयोग किसलिए किया जाता है, पहले यह समझना है। इसके बाद आध्यात्मिक स्तर पर, आध्यात्मिक विकास के लिए शरीर क्या योगदान दे सकता है, इस पर विचार करना है, क्योंकि यहाँ पर घट शुद्धि का अर्थ शारीरिक शुद्धता, शारीरिक पवित्रता नहीं, वरन् शरीर शुद्धि के द्वारा आत्मशुद्धि की अवस्था को प्राप्त करना है।

'योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्'–योग की साधना से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे योग का तेज या योग की अग्नि कहते हैं। इस अग्नि के माध्यम से हम अपने शरीर के विकारों को दूर करते हैं, शरीर को शुद्ध एवं मजबूत बनाते हैं–यह तो शारीरिक पक्ष है। जब हमें शारीरिक शुद्धता की अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब मन भी शुद्ध बनता है, क्योंकि योग यह नहीं मानता कि शरीर और मन दो भिन्न तत्त्व हैं। योग कहता है कि शरीर और मन के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। शारीरिक विकार मन में विकार उत्पन्न करते हैं और मानसिक विकार शारीरिक विकार उत्पन्न करते हैं। शारीरिक रोग मानसिक रोग उत्पन्न करते हैं और मानसिक रोग शारीरिक रोग उत्पन्न करते हैं। इसलिए जब योग के द्वारा हम अपने शरीर को शुद्ध कर लेते हैं, तब मन:शुद्धि की अवस्था स्वत: प्राप्त होती है। जब शरीर एवं मन हमारे नियन्त्रण में आ जाते हैं, जब शारीरिक और मानसिक विकार नहीं रहते, तब जीवन से संघर्ष करने की क्षमता भी हमें प्राप्त होती है।

आन्तरिक सन्तुलन–सामान्य रूप से संघर्ष का अर्थ हम लोग लगाते हैं लड़ाई, लेकिन जीवन से संघर्ष का अर्थ होता है प्रतिकूल परिस्थितियों में भी

अपने को अनुकूल बनाना। संघर्ष का अर्थ यह नहीं होता कि अगर हम दु:खी हैं, तो दु:ख के निवारण के लिए प्रयास करें, लड़ाई करें, क्योंकि उससे तो और अधिक तनाव उत्पन्न होगा। इस क्षमता को प्राप्त करना, शरीर और मन की शुद्ध अवस्था का, विकार रहित अवस्था का प्रतीक है, क्योंकि जब विकार नहीं रहते, तब मानसिक क्षमता प्रखर होती है।

सामान्यत: होता यह है कि जिस भौतिक सुख, या भौतिक विचारधारा को लेकर हम लोग आगे बढ़ते हैं, उसमें हमारा अपना प्रयास रहता है, हम सफलता की अपेक्षा रखने लगते हैं और जब हमें विफलता प्राप्त होती है, तब निराशा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी बात को महर्षि घेरण्ड ने समझाया है कि सामान्य जीवन में व्यक्ति थकान का अनुभव करता है–शारीरिक थकान, मानसिक थकान, भावनात्मक थकान–लेकिन योगी थकान का अनुभव नहीं करता। यहाँ पर थकान का तात्पर्य शारीरिक श्रम के बाद की अवस्था से नहीं है, यहाँ पर थकान का अर्थ है विरक्ति।

बहुत-से लोग कहते हैं, हम जीवन से लड़ते-लड़ते थक गये हैं। अब कुछ करने में रुचि नहीं रही; मन नहीं लगता; अनिच्छा-सी हो गयी है। कभी-कभी यह थकान की अवस्था इतनी गहरी हो जाती है कि परिवार में अरुचि, खाने-पीने में अरुचि, पढ़ने-लिखने में अरुचि, जीवन के हर क्षेत्र में अरुचि दिखलायी देती है। लेकिन योगियों के शब्द कोश में अरुचि नामक कोई शब्द है ही नहीं। वे इसे एक अवस्था के रूप में देखते या अनुभव करते और वर्तमान में जीते हैं।

थकान एवं अरुचि वहीं उत्पन्न होती हैं, जहाँ भूतकाल हमारी दृष्टि के सामने मँडराता रहता है और भविष्य की चिन्ता भी रहती है। भूतकाल का सम्बन्ध हम जब भविष्य काल से जोड़ देते हैं, वर्तमान से नहीं जोड़ते, तभी विरक्ति या अरुचि की अवस्था उत्पन्न होती है। योगी शारीरिक और मानसिक कार्यों के प्रभावों से अछूता रहता है। जब शारीरिक और मानसिक शुद्धि की अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं, तब ये हमारे अन्त:करण को प्रभावित करती हैं।

अन्त:करण में अहंकार, बुद्धि और चित्त तीनों का समावेश है। अत: जब ये अवस्थाएँ अन्त:करण को प्रभावित करती हैं, तब बुद्धि भी बदलती है। जो बुद्धि विषयों के पीछे भागती रहती है, वह अपने आप में नियन्त्रण का अनुभव करेगी, क्योंकि विषयों के पीछे हम तभी भागते हैं, जब हमारे भीतर विकार हों, कोई वासना हो, कोई कामना हो। लेकिन जब हमारे भीतर सकारात्मक

गुण उत्पन्न हो रहे हों; सकारात्मक प्रतिभा उत्पन्न हो रही हो, और हम शुद्धि की अवस्था में हों, तब नकारात्मक तत्त्वों का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। आत्मशुद्धि की अवस्था में तत्त्वों का कोई अस्तित्व नहीं रहता और अहंकार का भी शमन होता है, उस पर नियन्त्रण प्राप्त होता है। इसी आत्मशुद्धि को महर्षि घेरण्ड ने 'घट शुद्धि' के नाम से समझाया हैं। यहाँ तक योग के महत्त्व की चर्चा हुई, अब इसके बाद अभ्यासों का वर्णन आता है।

सप्त साधन

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम् ।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्य सप्तसाधनम् ॥9॥

अर्थ

शरीर की शुद्धि के लिए ये सात साधन हैं–शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता ॥9॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि घटस्थ योग के अभ्यास के लिए सात गुणों का होना आवश्यक है और इन सात गुणों के समावेश के लिए सात प्रकार के योगाभ्यास आवश्यक हैं। जिन सात साधनों का वर्णन यहाँ पर किया गया है, वे योग के ही अभ्यास हैं, किन्तु उनकी तुलना अष्टांग योग से मत कीजिए। अष्टांग योग, जिस प्रकार हम जानते हैं, वह है–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग से सम्बन्धित जितने प्राचीन ग्रन्थ और शास्त्र हैं, उनमें 'अष्टांग योग' की चर्चा की गयी है। लेकिन महर्षि घेरण्ड इन सात साधनों को बतला कर अपने घटस्थ योग को दूसरा रूप नहीं दे रहे हैं, वरन् यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अष्टांग योग के ही मूल तत्त्वों को लेकर, उन्हें सात आवश्यकताओं का रूप देकर वर्णित किया है।

शोधनम्–पहला है शोधन, जिसका अर्थ है शुद्धिकरण। शरीर और मन को विकार रहित बनाने के लिए शुद्धिकरण अत्यन्त आवश्यक है।

दृढ़ता–दूसरा है दृढ़ता। कुछ लोग दृढ़ता का अर्थ लगाते हैं 'शक्ति' और कुछ लोग अर्थ लगाते हैं 'मानसिक बल', लेकिन यहाँ पर जिस उद्देश्य से

दृढ़ता का प्रयोग किया गया है, वह केवल शारीरिक नहीं, वरन् मानसिक, विचारात्मक और भावनात्मक भी है।

जिस प्रकार हम लोग अपने अभ्यास क्रम में शरीर को दृढ़ बनाने का प्रयास करते हैं; जिस प्रकार अपनी विचारधारा में हम अपने विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं, दृढ़ और संकल्प शक्ति से पूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं, ठीक उसी प्रकार महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि आत्मशुद्धि के लिए व्यक्ति को दृढ़ता का गुण प्राप्त करना आवश्यक है। परिणाम प्राप्ति तक धैर्यपूर्वक अभ्यास करते रहना दृढ़ता का लक्षण होता है। यहाँ पर दृढ़ता का अर्थ लगा सकते हैं, एक संकल्प को धारण कर चलना, और उस पर अडिग रहना।

स्थैर्यम्–तीसरा साधन है स्थिरता। महर्षि पतंजलि ने भी योग सूत्रों में स्थिरता का वर्णन किया है। उन्होंने शरीर से सम्बन्धित स्थिरता का वर्णन किया है *'स्थिरं सुखं आसनम्।'* आसन के अभ्यास में व्यक्ति को स्थिर रहना चाहिए। आसन में किसी प्रकार की कठिनाई, तनाव या दर्द उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। सहज भाव से आसन होने चाहिए। वही उद्देश्य यहाँ पर भी अपनाया गया है। शारीरिक स्थिरता प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि यदि किसी अवस्था में हमारा शरीर चंचल है, तो वह मन को केन्द्रित नहीं होने देगा। स्थिरता को एक गुण या आवश्यकता के रूप में देखा गया है। बाद में बतलाया जाएगा कि हम किस प्रकार इस स्थिरता की अवस्था को प्राप्त करें।

धैर्यम्–चौथा साधन है धैर्य। यह भी एक गुण है कि व्यक्ति परिस्थितियों से अप्रभावित रहे, अपना धैर्य न खोये, उद्विग्न न हो, अपनी सहनशीलता न खोये। यह मानसिक गुण है, क्योंकि शरीर तो धैर्य खोता नहीं, मन ही धैर्य खोता है।

लाघवम्–पाँचवाँ साधन या आवश्यकता है लाघव–हलकापन। योगी का शरीर हलका रहना चाहिए, भारी-भरकम नहीं होना चाहिए, चर्बीयुक्त नहीं होना चाहिए। चर्बीयुक्त शरीर को योग के लिए उपयुक्त नहीं माना गया है, क्योंकि यह मान्यता है कि चर्बीयुक्त शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि जो लोग मोटे हैं, वे योगी नहीं बन सकते। यहाँ पर सामान्य जीवन की बात हो रही है, गुणों की बात हो रही है।

शरीर में चर्बी का एक ही कारण हो सकता है अनियन्त्रित आहार। अनियन्त्रित आहार से शरीर के भीतर विकार एकत्र होते हैं। यह वैज्ञानिक विश्लेषण से मिलता-जुलता विश्लेषण है। विज्ञान भी बताता है कि शरीर की एक स्वस्थ

अवस्था होती है, जब हम उस अवस्था को पार कर जाते हैं और शरीर विकारों से पूर्ण होने लगता है, तो रक्त, मांसपेशियों एवं स्नायविक संस्थान में विकार या दोष उत्पन्न होने लगते हैं, जिसके कारण कभी-कभी दिल का दौरा पड़ता है। कभी-कभी अत्यधिक भार के कारण शरीर के जोड़ों में परेशानी होने लगती है और कभी-कभी हृदय रोग या उच्च रक्तचाप हो जाता है। यदि यह विकार बढ़ने लग जाये, तो अल्सर, हर्निया इत्यादि जन्म लेते हैं। इसलिए योगाभ्यासी के लिए प्रारम्भ में, जब तक योग सिद्ध नहीं होता, शरीर का हलका होना आवश्यक है। एक बार योग सिद्ध हो जाये और आप शरीर की अनुभूति के परे चले जाएँ, तब शरीर की क्या अवस्था होती है, इस विषय में आपको चिन्ता नहीं करनी है। चूँकि इस विचारधारा से बहुत बार यह प्रश्न भी उठता है कि जितने बड़े-बड़े योगी हुए हैं, उन सबका पेट बड़ा क्यों होता है। बहुत बार ऐसा होता है कि जब प्राणशक्ति जाग्रत होती है, तब वह मणिपुर चक्र में केन्द्रित हो जाती है, जिसके कारण सिर्फ पेट बढ़ना शुरू हो जाता है। गरिष्ठ भोजन तो वे लोग कुछ लेते भी नहीं। घी वगैरह खाते नहीं। बहुत-से योगी केवल फलाहार करते हैं। योग की व्यवस्था में रहकर भी मणिपुर चक्र का विस्तार होना, प्राण-जागृति की अवस्था है। यह शरीर में विकार की अवस्था नहीं है। इसलिए आपने देखा होगा कि बहुत-से सिद्ध महात्मा या सिद्ध पुरुष बड़े पेट वाले होते हैं। किन्तु प्रारम्भ में शरीर दुबला होना चाहिए।

प्रत्यक्षम् – छठा गुण है। प्रत्यक्ष का तात्पर्य यहाँ पर सांख्य दर्शन के प्रत्यक्ष से नहीं है। यहाँ पर प्रत्यक्ष का अर्थ होता है – ग्रहणशीलता, अर्थात् ग्रहण करने का स्वभाव। जितने सूक्ष्म या आन्तरिक अनुभव होते हैं, उन्हें मन की दृष्टि में स्पष्ट रखना ही *'प्रत्यक्षम्'* का तात्पर्य है। 'प्रत्यक्षम्' – प्रति + अक्षम्। प्रति उपसर्ग है, जो शब्दों के पहले आकर विपरीति, सामना, साम्मुख्य आदि का द्योतन करता है और अक्षम् का अर्थ होता है चक्षु, नेत्र, देखना।

यह प्रत्यक्ष की अवस्था लय की अवस्था नहीं है, जहाँ पर आपको कुछ दिखलायी न दे। यह इन्द्रिय अनुभूति की अवस्था भी नहीं है, वरन् यह अवस्था है जिसमें आप एक आन्तरिक अनुभव को देखते, अनुभव करते और उसी में अपने आपको स्थित करते हैं। सामान्य जीवन का एक उदाहरण लीजिए। मान लीजिए आप अपने मुँह में एक रसगुल्ला डालते हैं। अब आँखें बन्द कर लीजिए और खाते समय रसगुल्ले के स्वाद का अनुभव कीजिए। तो छेने का स्वाद हट जायेगा, चासनी का स्वाद हट जायेगा, एक स्वाद रहेगा, जो न छेने

का है, न चासनी का। जिसे आप कहेंगे, अहा! कितना स्वादिष्ट है। आप किस चीज को स्वादिष्ट कह रहे हैं? छेने या चासनी को आप स्वादिष्ट नहीं कह रहे हैं, वरन् उस स्वाद को कह रहे हैं, जो उसके भीतर आपको अनुभव हो रहा है। छेना और चासनी दोनों के मिलने पर जो तीसरा तत्त्व उत्पन्न हुआ है, उसे आप स्वादिष्ट कह रहे हैं। वह सूक्ष्म है, उसे आप देख नहीं सकते। उसे आप छेने में नहीं देखते, चासनी में नहीं देखते, लेकिन वह वहाँ पर उपस्थित है और उस समय वह आपको अपने भीतर अनुभव होता है। इसी अनुभव को यदि आप प्रत्यक्ष कर दें, तो वह है प्रत्यक्ष या ग्रहणशीलता।

निर्लिप्तम्– सातवाँ गुण है निर्लिप्त। निर्लिप्त का तात्पर्य बहुत-से लोग समाधि से लगाते हैं, लेकिन वास्तव में इसका अर्थ है मन की अनासक्त अवस्था। लिप्त होना, अर्थात्– 'माखी गुड़ में गड़ी रहे, पंख रहे लपटाय, हाथ मले औ सिर धुने, लालच बुरी बलाय।' निर्लिप्त जहाँ मन लिप्त न रहे। लिप्त का यहाँ अभी सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है जीवन, शरीर, विचार, भावना, वासना और विकार से। इससे परे आत्मज्ञान में अपने आपको स्थित कर लेना निर्लिप्त अवस्था है। गुरुत्वाकर्षण की शक्ति से, जो हमें जगत् की ओर आकृष्ट करती है, मुक्त हो जाना निर्लिप्त अवस्था है।

महर्षि घेरण्ड के अनुसार एक साधक के लिए ये सात गुण आवश्यक माने गये हैं– शुद्धिकरण, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, शरीर का हलकापन, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता। इन सात गुणों के समावेश के लिए सात प्रकार के योगाभ्यास हैं, जो आगे के मन्त्रों में बतलाए गये हैं।

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ॥10॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः॥11॥

अर्थ

षट्कर्मों से शरीर शुद्धि और आसनों से दृढ़ता, मुद्राओं से स्थिरता तथा प्रत्याहार से धैर्य की प्राप्ति होती है। प्राणायाम से शारीरिक स्फूर्ति या हलकापन, ध्यान से आत्म-साक्षात्कार और समाधि से निर्लिप्तता तथा बिना संशय मुक्ति प्राप्त होती है ॥10-11॥

व्याख्या

षट्कर्मों से शुद्धिकरण की अवस्था प्राप्त होती है। यहाँ पर शुद्धिकरण के लिए षट्कर्म नाम का प्रयोग किया गया है। षट्कर्म में छः प्रकार की क्रियाएँ होती हैं, जिनके द्वारा हम अपने शरीर को विकार रहित, निर्मल, स्वच्छ बना सकते हैं।

आसन– 'आसनेन भवेद्दृढम्'– आसनों से शारीरिक शक्ति या दृढ़ता प्राप्त होती है, लेकिन एक बात याद रखने योग्य है कि आसन से शारीरिक शक्ति या बल की प्राप्ति का अर्थ मांसपेशीय बल की प्राप्ति नहीं है। जिस प्रकार व्यायाम में व्यक्ति दण्ड-बैठक, कसरत कर, एक पहलवान की तरह अपने शरीर को बनाता है, वैसी चर्चा यहाँ पर नहीं हो रही है। यहाँ पर दृढ़ता या बल का अर्थ होता है, शारीरिक क्षमता, आन्तरिक बल और इसके साथ-साथ स्वास्थ्य की प्राप्ति, क्योंकि व्यक्ति भीमकाय और हृष्ट-पुष्ट होने के बावजूद भी रोगों के प्रभाव में आता है, उसको स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ पर यह शुद्धिकरण के पश्चात् आसन द्वारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और बल की प्राप्ति से सूक्ष्म सम्बन्ध रखता है।

मुद्रा तथा प्राण प्रवाह– 'मुद्रया स्थिरता चैव'– मुद्रा के अभ्यास द्वारा स्थिरता की प्राप्ति होती है, अर्थात् मन और प्राण की चंचलता समाप्त होती है। मुद्राओं को विभिन्न शारीरिक अवस्थाओं के रूप में समझा जा सकता है। इनके द्वारा हम प्राण शक्ति को पुनः केन्द्रित करने में सक्षम हो जाते हैं।

किर्लियन फोटोग्राफी एक ऐसी फोटोग्राफिक प्रणाली है, जिसके द्वारा शरीर के किसी अंग का चित्र लेने पर उसमें शरीर का वह अंग दिखलायी नहीं देता, बल्कि उस अंग के चारों ओर एक आभा मण्डल या ऊर्जा मण्डल दिखलायी देता है। अनुसन्धान में यह भी पाया गया है कि शरीर के छोरों, जैसे, हाथ, पैर, सिर, इत्यादि अंगों से प्राणशक्ति अधिक प्रवाहित होती है। इस फोटो में अंगुलियों में अधिक मात्रा में प्राणशक्ति का प्रवाह दिखलायी देता है, लेकिन पीठ में नहीं। पैरों में प्राणशक्ति का अत्यधिक प्रवाह दिखलायी देगा, लेकिन जाँघ और पिण्डलियों में कम दिखलायी देगा।

ऐसी मान्यता है कि हाथ, पैर और सिर– शरीर के इन तीन छोरों से प्राणशक्ति हमेशा शरीर से बाहर निकलती रहती है। योग में भी यही मान्यता है। मुद्राओं के अभ्यास द्वारा हम इस प्राणशक्ति के निर्गमन को रोकते हैं, उसे पुनः अपने शरीर के भीतर ले लेते हैं। मुद्राएँ अनेक प्रकार की होती हैं। हम यहाँ केवल

दो मुद्राओं का वर्णन करेंगे। पहली है ज्ञानमुद्रा–इसमें हाथों को अपने घुटनों पर रखते हैं। तर्जनी अंगुली को अँगूठे के मूल में, निचले हिस्से में रखते हैं। इससे तर्जनी अंगुली की प्राण वाहिका से जो शक्ति निरन्तर बाहर निकलती रहती है, वह पुन: शरीर में प्रवेश कर जाती है। दूसरी है चिन्मुद्रा–इसका पूर्ण अभ्यास ज्ञानमुद्रा की भाँति ही है, अन्तर केवल इतना है कि हथेलियाँ घुटनों पर ऊपर की ओर खुली हुई रहती हैं। हाथों और पैरों की अन्य अनेक मुद्राएँ होती हैं। पद्मासन या सिद्धासन में इन मुद्राओं के अभ्यास द्वारा हम प्राण को अपने भीतर वापस खींच लेते हैं।

लेकिन साथ-ही-साथ इन शारीरिक अवस्थाओं के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की मुद्राएँ भी होती हैं। जैसे, शाम्भवी मुद्रा– दोनों आँखों से भ्रूमध्य को देखना। नासिकाग्र दृष्टि–नाक के अग्र भाग को देखना। प्राण और मन की चंचलता मुद्राओं के अभ्यास से समाप्त हो जाती है, स्थिर हो जाती है, क्योंकि जब हम इनका अभ्यास करते हैं तो मन भी शीघ्रता से केन्द्रित हो जाता है, अन्तर्मुखी हो जाता है।

प्रत्याहार– 'प्रत्याहारेण धीरता'–प्रत्याहार के अभ्यासों से धैर्य को प्राप्त किया जाता है। प्रत्याहार के अभ्यास में सबसे पहले अपने आपको केन्द्रित करना, अन्तर्मुखी बनाना और इन्द्रियों से अलग करना सीखते हैं। प्रत्याहार के अभ्यास से बाह्य इन्द्रियों के द्वारा, जिन्हें हम कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं, प्राप्त अनुभव कम होते जाते हैं और मन भीतर केन्द्रित होने लगता है। इस प्रकार यहाँ धीरता का अर्थ होता है, मन को इन्द्रियों से हटाकर मानसिक धैर्य स्थापित करना। जब तक मन इन्द्रियों से जुड़ा हुआ और चंचल है, तब तक धैर्य की प्राप्ति नहीं होती।

बहुत बार ऐसा होता है कि लोग जब यात्रा पर जाते हैं, और यात्रा के पूर्व रेलवे स्टेशन पहुँचते हैं, तो जब तक गाड़ी नहीं आती, वे बैठते नहीं हैं। प्लेटफार्म के एक किनारे से दूसरे किनारे तक चक्कर काटते रहते हैं। उस समय धैर्य नहीं रहता, क्योंकि एकाग्रता या सजगता विक्षिप्त रहती है। और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो स्टेशन पहुँचते हैं, चुपचाप बैठ जाते हैं। सोचते हैं, चाहे गाड़ी पाँच घण्टे विलम्ब से आये, हमें तो इसी गाड़ी में जाना है। बैठे रहेंगे, चक्कर लगाने से क्या फायदा? यहाँ पर इन्द्रियों की चंचलता नहीं है। यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। अत: इस मन्त्र का कथन है कि मन को इन्द्रियों से अलग कर धैर्य को प्राप्त किया जाता है।

प्राणायाम– 'प्राणायामाल्लाघवं च'–प्राणायाम के द्वारा हलकेपन की प्राप्ति होती है, स्थूलता को कम किया जाता है। अब प्रश्न उठता है कि जब हम प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, तब इसमें प्राण पर नियन्त्रण प्राप्त करना हमारा उद्देश्य रहता है, लेकिन शारीरिक स्थूलता कैसे कम होती है। यह तो विदित है कि जब हम प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, तब प्राणशक्ति की जागृति के समय शरीर में गर्मी उत्पन्न होती है। यह प्राणों की गर्मी है; आन्तरिक गर्मी है और यह प्रत्यक्ष रूप में सिद्ध लोगों के जीवन में अधिक दिखलायी देती है। पर्वतों में, बर्फ में जो योगी लंगोटी या कौपीन पहन कर रहते हैं, उन्हें ठण्ढ तो लगती है, आखिर शरीर का तो यह स्वभाव है। लेकिन वे प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, जिससे आन्तरिक गर्मी उत्पन्न होती है और ठण्ढ नहीं लगती।

ऐसे भी प्राणायाम होते हैं कि चाहे कितनी ही गर्मी क्यों न हो, आपको पसीना निकलेगा ही नहीं। वे शरीर के तापमान को कम कर देते हैं। आप रेगिस्तान में चले जाइये; तपती धूप में खड़े हो जाइये, लेकिन पसीना नहीं निकलेगा, क्योंकि शरीर का जो तापमान है, वह कम हो गया है। इस प्रकार यहाँ बतलाया जा रहा है कि प्राणायाम के अभ्यास द्वारा जब ऊर्जा उत्पन्न होती है; गर्मी उत्पन्न होती है, तब शरीर के विकार उसमें अपने आप जलने लगते हैं। चर्बी तक जल जाती है, गल जाती है। इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा व्यक्ति अपनी शारीरिक स्थूलता को कम करता है। अपने शरीर को हलका बनाता है।

ध्यान– 'ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि'–ध्यान के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। ध्यान के द्वारा सूक्ष्म मन के अनुभवों को स्पष्ट किया जाता है। यह तो सर्वविदित है। जैसे-जैसे हम अन्तर्मुखी होंगे, हम अधिक गहराई में जायेंगे, वैसे-वैसे अपने भीतर, सूक्ष्म अनुभवों को जानने में सक्षम होते जायेंगे। यह आत्म-साक्षात्कार की अवस्था है। आत्म-साक्षात्कार का तात्पर्य यहाँ पर सीधा ईश्वर से नहीं, वरन् स्वयं के अनुसन्धान से है। ध्यान अपने आपको पहचानने की प्रक्रिया है। स्वयं का साक्षात्कार होना, स्वयं को जानना ध्यान के द्वारा ही सम्भव है।

समाधि– 'समाधिनां निर्लिप्तं च'–समाधि द्वारा निर्लिप्त अवस्था की प्राप्ति होती है। हमारा पूरा जीवन भोग में लिप्त रहता है; कर्मों, सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं में लिप्त रहता है। इसी कारण हमारी दृष्टि संकीर्ण एवं सीमित

रहती है। किन्तु समाधि की स्थिति जब प्राप्त होती है और हम चेतना के सभी आयामों को, अवस्थाओं को जान लेते हैं, पहचान लेते हैं, तब फिर अन्तिम अवस्था होती है तुरीया की, अन्तर्जागृति की, जिसमें हम अपने कर्मों में लिप्त नहीं रहते, कर्मों के अधीन नहीं रहते। अपनी वासनाओं में लिप्त नहीं रहते, उनके अधीन नहीं रहते। भोगों से निर्लिप्त रहते हैं। भोगों को भी पार कर जाते हैं। समाधि द्वारा इस निर्लिप्त अवस्था और फिर मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अध्याय 1

षट्कर्म प्रकरण

षट्कर्म

षट्कर्म दो मुख्य प्राण प्रवाहों, इडा और पिंगला के मध्य सामंजस्य स्थापित करते हैं, जिससे शारीरिक और मानसिक शुद्धि एवं सन्तुलन की प्राप्ति होती है। ये शरीर में उत्पन्न त्रिदोषों – वात, पित्त और कफ को भी सन्तुलित करते हैं। आयुर्वेद एवं हठयोग, दोनों के अनुसार, इन त्रिदोषों में असन्तुलन व्याधि को जन्म देता है। इन षट्कर्मों का उपयोग प्राणायाम तथा योग के अन्य उच्च अभ्यासों के पूर्व भी किया जाता है, ताकि शरीर विकार रहित हो जाए तथा आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर होने में बाधा उत्पन्न न करे।

इन शक्तिशाली अभ्यासों को कभी पुस्तक पढ़कर या अनुभवहीन व्यक्तियों से सीखकर नहीं करना चाहिए। परम्परानुसार, गुरु से निर्देश प्राप्त करने के पश्चात् ही व्यक्ति अन्य लोगों को सिखाने का अधिकारी होता है। यह अनिवार्य है कि व्यक्ति विशेष की आवश्यकता के अनुसार यह निर्देश व्यक्तिगत रूप से दिया जाए कि इन अभ्यासों को कब और कैसे करना है।

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिः लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥12॥

अर्थ

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति, इन छः कर्मों का आचरण योगी के लिए आवश्यक है ॥12॥

व्याख्या

इस मन्त्र में छः प्रकार की क्रियाओं का वर्णन किया गया है। इसका पहला अंग या पहली क्रिया है 'धौति'। दूसरी क्रिया है 'वस्ति'। तीसरी है 'नेति'। चौथी है 'लौलिकी' (लौलिकी को नौलि भी कहते हैं)। पाँचवी 'त्राटक' और छठी क्रिया है 'कपालभाति'।

इन षट्कर्मों के अभ्यास से व्यक्ति समाधि भी प्राप्त करता है। इस मन्त्र में यह घोषणा की गयी है। इन षट्कर्मों द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। इनका प्रयोजन केवल शरीर की शुद्धि नहीं, वरन् आत्मशुद्धि भी है, क्योंकि शरीर की शुद्धि के साथ-साथ जब हमारे भीतर से विकार दूर होने लगते हैं, तब स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। बिना शुद्धि के शरीर योग के उच्च अभ्यासों के लिए तैयार भी नहीं हो पायेगा। शुद्धि के पश्चात् मनुष्य इस पृथ्वी पर दीर्घायु हो जीता है।

उपनिषदों और वेदों में यह चर्चा कई स्थानों पर की गयी है कि हम सौ वर्षों तक जीयें– *'जीवेम शरदं शतम्।'* यह वेद, उपनिषद् या प्राचीन सिद्धान्त की विचारधारा ही नहीं, वरन् वास्तविक सत्य है। मनुष्य यदि विकार रहित रहे, स्वस्थ रहे, तो सौ वर्षों तक या इससे अधिक जीना स्वाभाविक है।

विकार तथा अशुद्धियाँ– अस्वस्थता ही सबसे बड़ी बीमारी है और अस्वस्थता का मूल कारण है शरीर में विकारों का उत्पन्न होना; शरीर का अशुद्ध होना। ये अशुद्धियाँ शरीर में किसी भी समय, किसी भी अवस्था में उत्पन्न हो सकती हैं। यहाँ अशुद्धि का तात्पर्य गन्दगी से नहीं है। ये अशुद्धियाँ शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक हैं।

अ) आहार अशुद्धि– शारीरिक अशुद्धि किस प्रकार की होती है, इसे पहले समझ लेना चाहिए। शारीरिक अशुद्धि का सम्बन्ध मुख्यतः हमारे आहार और उसमें निहित गुणों तथा अवगुणों से है। हम शरीर के नियम के अनुसार भोजन नहीं करते। आजकल लोग आठ बजे सोकर उठते हैं। दस बजे नाश्ता, दो बजे दिन का भोजन और रात को आठ-नौ बजे रात का भोजन करते हैं। भोजन करना तो ठीक, लेकिन भोजन के साथ हम लोग कई प्रकार के अशुद्ध तत्त्वों को अपने भीतर ले जाते हैं। अन्न की उपज के लिए जो खाद एवं कीटनाशक दवायें डाली जाती हैं, उन्हें भी तो हम ग्रहण करते हैं। भोजन में अशुद्धि तो पहले से ही रहती है, उसे दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम भोजन बाजार से खरीद कर लाते हैं।

अत: अशुद्धि को तो दूर नहीं कर सकते, पर इतना अवश्य कर सकते हैं कि समय का प्रतिबन्ध लगाकर अपने शरीर के नियमों के अनुसार भोजन करें। इससे कम विकार उत्पन्न होंगे।

आहार नियम– हमारी वैदिक परम्परा में एक बात बतायी जाती है कि यदि व्यक्ति को भोजन ग्रहण करना हो तो सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व करे। लेकिन अब इस विचारधारा को तो लोग मानते नहीं हैं। अभी कुछ ही ऐसे आश्रम या मठ हैं, जहाँ इस विचारधारा को माना जाता है, जिनमें एक है– जैन मत। जैन लोगों में भोजन का कड़ा अनुशासन है। सूर्योदय के पहले वे कुछ ग्रहण नहीं करते। सूर्यास्त के बाद भी कुछ ग्रहण नहीं करते। इसके पीछे एक वैज्ञानिक कारण है। हमारे शरीर की जो जैव-लय (बायो-रिद्‌म) हैं, जिनका सम्बन्ध हमारे तन्त्रिका-तन्त्र से रहता है, वे सूर्य की किरणों से प्रभावित हो सक्रिय हो जाती हैं और उनमें कार्य करने की क्षमता आती है। वातावरण में विद्यमान शक्ति और ऊर्जा से प्रभावित होकर जब उनमें कार्य करने की क्षमता आती है, तब शरीर का कार्य सुचारु रूप से चलता है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, जिसे हमेशा ख्याल में रखना चाहिए। आरोग्य की शुरुआत इस सादे नियम के पालन से होती है।

शरीर को विकार रहित बनाने का दूसरा नियम है, जैसा कि आयुर्वेद में कहा गया है, भोजन में पौष्टिक अन्न ग्रहण करना चाहिए आधा पेट, अर्थात् पचास प्रतिशत; पानी ग्रहण करना चाहिए एक चौथाई, अर्थात् पचीस प्रतिशत और एक चौथाई पेट खाली रहना चाहिए।

साधारणतया लोगों की भोजन की आदत क्या है? अच्छा भोजन प्राप्त होने पर आवश्यकता से अधिक खा लेते हैं। इसका कारण है हमारा लालच और जीभ का स्वाद। जहाँ जीभ का स्वाद और लालच एक हो जाते हैं, वहाँ कुछ तो गड़बड़ होनी ही है। आधुनिक बीमारियाँ भी, जैसे खून में चिकनाई का होना, जिसको कोलेस्ट्रॉल कहते हैं, मुख्यतया इसी कारण होती है। इस प्रकार खून में या पेट में जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनका कारण है असंयत आहार।

जितनी बार आप पेट में अन्न डालेंगे, चाहे वह एक बिस्कुट हो या थाली भर भोजन, पाचक रस तो उतनी ही मात्रा में निकलेंगे। पेट यह नहीं देखता कि एक बिस्कुट आ रहा है, तो मैं केवल एक बूँद पाचक रस टपका दूँ और यदि एक थाली भर अन्न आ रहा है तो उसे पचाने के लिए एक कटोरा भर पाचक द्रव निकालूँ। इसलिए यदि आप दिन में दस बार एक-एक बिस्कुट खायेंगे,

तो आपका पेट दस बार उतनी ही मात्रा में, उतना ही पित्त, उतना ही पाचक द्रव्य उत्पन्न करेगा। बाद में इसका परिणाम होगा पेट में अल्सर या हर्निया, कभी गुर्दा खराब, तो कभी मूत्राशय खराब, क्योंकि वात, पित्त और कफ की मात्रा असन्तुलित हो रही है। इसलिए आहार को यदि पहले सन्तुलित किया जाये, तो यह निश्चित है कि जीवन में अस्सी प्रतिशत रोग और विकार वहीं समाप्त हो जायेंगे। इसलिए योग में यह कहा गया है कि दिन में दो या तीन बार भोजन करना, उससे अधिक नहीं। पेट को इस अनुशासन में लाना चाहिए।

ब) मानसिक चिन्तायें– दूसरा कारण है वह मानसिक विचारधारा, जो हमारे शरीर के भीतर विकार उत्पन्न करती है और हमारे शरीर के नियम को बिगाड़ती है। यदि आपके मन में दुःख है, तो भूख मिट जायेगी। यदि आपके मन में क्लेश है, तो खाने की इच्छा नहीं होगी। कभी चिन्ता हो, परेशानी हो, तो भूख नहीं लगती और आदमी दिनभर कुछ नहीं खाता। वही चिन्ता उसे घेरे रहती है और भूख मर जाती है। जब हम किसी परिस्थिति से, किसी मानसिक अवस्था से बहुत गहरे सम्बद्ध हो जाते हैं, तो उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है। इसके अधिकतर कारण नकारात्मक होते हैं, सकारात्मक नहीं। अच्छे विचार से तो आदमी को कुछ अन्तर नहीं पड़ता, लेकिन जब नकारात्मक विचार, चिन्ता, परेशानी और मानसिक तनाव रहते हैं, तो शरीर पर उनका बुरा प्रभाव पड़ता है और विकार उत्पन्न होते हैं।

स) भावनात्मक उत्तेजना– तीसरा कारण है भावनात्मक हर्ष या विषाद। चिकित्सा विज्ञान ने इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। चिकित्सा विज्ञान में कहा जाता है कि जब व्यक्ति हर्ष या विषाद की अवस्था में रहता है तब अधिवृक्क ग्रन्थि से एक विशेष रस (हार्मोन) निकलता है, जिसे 'एड्रीनलिन' कहते हैं। यह द्रव या हार्मोन शरीर को अत्यधिक उत्तेजित कर देता है। इन्द्रियों के साथ इसका बहुत गहरा सम्बन्ध होता है। यदि आपकी किसी व्यक्ति से लड़ाई हो जाती है, तो एड्रीनलिन द्रव निकलता है और उसका जो प्रभाव हम शरीर पर देखते हैं, वह है– श्वास की तीव्रता। श्वास बहुत तेजी से चलने लगती है, दिल की धड़कन बढ़ जाती है, इन्द्रियाँ एकदम सावधान हो जाती हैं। "संघर्ष या पलायन" की परिस्थिति हर्ष और विषाद दोनों में उत्पन्न होती है।

द) आन्तरिक अशान्ति– चौथा कारण आध्यात्मिक है। अस्थिर चित्त, मानसिक या आन्तरिक अशान्ति, संस्कार और कर्म के द्वारा भी शरीर में विकार

उत्पन्न होते हैं। वर्तमान सभ्यता इन्हीं सबके साथ वस्तु सापेक्षता की ओर बढ़ रही है। लेकिन षट्कर्म या पूर्ण योग का जो अभ्यास है, वह वस्तु सापेक्ष नहीं, व्यक्ति सापेक्ष है। उसमें आन्तरिक अंगों को व्यवस्थित करने, विकार रहित बनाने की क्रियायें बतायी गयी हैं।

धौति क्रिया– पहली क्रिया है 'धौति'। धौति में आमाशय और अन्न नलिका की सफाई होती है। यह सफाई पानी से भी कर सकते हैं; कपड़े से भी कर सकते हैं और वायु से भी कर सकते हैं– तीन विधियाँ हैं। इस अभ्यास से आमाशय के दोष दूर हो जाते हैं। अपच की बीमारी तथा पेट से सम्बन्धित अन्य बीमारियाँ, जैसे– कब्ज, अम्लता इत्यादि धौति की क्रिया से ठीक हो जाती हैं।

वस्ति क्रिया– दूसरी क्रिया है 'वस्ति'। यह एक यौगिक एनिमा है। गुदा द्वार से जल खींचना, कुछ समय तक उसे अपने शरीर के भीतर, अर्थात् बड़ी आँत में रखना, छोटी आँत में तो कभी पानी जायेगा नहीं, केवल बड़ी आँत में पानी रुकता है। उसके बाद उस जल का निष्कासन कर देना है। ठीक वैसे ही, जैसे एनिमा में होता है। केवल इतना अन्तर है कि एनिमा में यही क्रिया यन्त्र के सहारे होती है, एक ट्यूब के माध्यम से। पर यह स्वाभाविक रूप से होती है। अधिक ठीक तो इसी क्रिया को मानेंगे, क्योंकि जब एनिमा करते हैं, तब यदि कभी जोर लग गया, तो शरीर के अन्दर ही खरोंच आ जाती है; अन्दर ही घाव हो जाता है; खून निकलता है। चूँकि वहाँ पर जो निष्कासित पदार्थ होते हैं, वे विषयुक्त होते हैं, इसलिए घाव का जब उन पदार्थों से सम्बन्ध होता है, तो विष उस घाव में फैल जाते हैं। इसलिए योगी एनिमा की जगह वस्ति की सलाह देते हैं। किन्तु सर्वप्रथम इस अभ्यास को सिद्ध करना पड़ेगा और इसको सिद्ध करने के लिए सम्भवत: रबर की नली की आवश्यकता होगी।

नेति क्रिया– तीसरी क्रिया है 'नेति'। नेति क्रिया एक ई.एन.टी. डॉक्टर की तरह कार्य करती है। यह नाक, कान एवं गले की सफाई करती है। यह एक बहुत-ही सरल क्रिया है। एक नासिकारन्ध्र से पानी डालना और दूसरी से निकाल देना। जिन लोगों ने नेति का अभ्यास किया है, वे इसका लाभ जानते हैं। यह नासिका के अन्दर सायनस को साफ कर देती है। जिन लोगों को साइनोसाइटिस, राइनाइटिस, सरदर्द या माइग्रेन है या अग्र ललाट में जो हमेशा दर्द होता रहता है या जिन लोगों की दृष्टि कमजोर है; आँखें जल्दी थक जाती हैं; कुछ देर पढ़ने के बाद आँखों में पानी आ जाता है, लाल हो जाती हैं, दर्द देती हैं; या कान से सम्बन्धित जो थोड़ी-बहुत समस्याएँ होती हैं, जैसे

कान के अन्दर मैल ज्यादा जम जाती है, कड़ी हो जाती है, उसे निकालते हैं तो कान के पर्दे में कभी-कभी चोट लग जाती है– ऐसी सभी बीमारियों के लिए नेति क्रिया बहुत उपयुक्त है। यह गले की खराश को भी ठीक कर देती है।

नौलि क्रिया– चौथा अभ्यास है 'नौलि', जिसे लौलिकी भी कहते हैं। यह उदरस्थ अंगों की मालिश तथा उन्हें बल प्रदान करने वाली शक्तिशाली विधि है। लौलिकी का अभ्यास बहुत-ही उपयोगी है। अपचन, भूख की न्यूनता, भूख कम लगना या पेट में कीड़े होने पर इसका अभ्यास करना चाहिए। वायुदोष को दूर करने के लिए भी यह बहुत-ही उपयोगी अभ्यास है।

त्राटक– पाँचवाँ अभ्यास है 'त्राटक'। आँखों और तन्त्रिका-तन्त्र के अंगीय एवं कार्यात्मक विकारों को दूर करने के लिए यह अभ्यास बहुत उपयोगी है। यदि किसी अंग में, आँखों में, या तन्त्रिका-तन्त्र में कुछ विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे बहुत-से लोगों को 'टिक' होता है– कभी-कभी हाथ एकदम हिल जाता है, कभी-कभी एक आँख की पलक हमेशा जल्दी-जल्दी झपकती रहती है, जिसे अनियन्त्रित तन्त्रिका क्रिया कहते हैं, इसके लिए त्राटक बहुत उपयोगी है। त्राटक के अभ्यास से निकट दृष्टि दोष, दूर दृष्टि दोष, मायोपिया या आँखों से सम्बन्धित अन्य दोष, स्वस्थ शरीर में बहुत हद तक नियन्त्रित रखे जा सकते हैं। यह भी देखा गया है कि केवल त्राटक के अभ्यास से बहुत-से लोगों का चश्मा उतर जाता है।

कपालभाति– छठा अभ्यास है 'कपालभाति'। यह फेफड़ों का अभ्यास है। इससे फेफड़ों से सम्बन्धित दोष दूर होते हैं। वायु नली तो विकार रहित बनती ही है, रक्त भी शुद्ध होता है, क्योंकि हम अधिक मात्रा में ऑक्सीजन भीतर ले जाते हैं। स्नायविक अव्यवस्था और मस्तिष्क रोग में भी कपालभाति लाभदायक है। जिन लोगों की याददाश्त कम हो जाती है, उनके लिए भी यह बहुत उपयोगी है। अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में अनुसन्धान से यह पाया गया है कि पवनमुक्तासन भाग-1 एवं कपालभाति प्राणायाम के अभ्यास से वृद्धजनों की याददाश्त या स्मृति को मात्र छः महीनों के निरन्तर अभ्यास से लौटाया जा सकता है।

धौति

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम् ।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम् ॥13॥

अर्थ

अन्तर्धौति, दन्त धौति, हृद् धौति और मूलशोधन के भेद से धौतिकर्म चार प्रकार का माना गया है। इसके द्वारा योगीजन अपने शरीर को स्वच्छ (स्वस्थ) बनाते हैं ॥13॥

व्याख्या

अन्तर्धौति का अर्थ होता है आन्तरिक सफाई। अन्तर्धौति में तीन चीजों का प्रयोग होता है– हवा, पानी और कपड़ा। दन्त धौति का शाब्दिक अर्थ निकलता है दाँतों की सफाई। आज की सभ्यता ने हम लोगों को दाँत साफ करने के अनेकानेक तरीके बतलाये हैं, अनेक प्रकार के दन्तमंजनों का निर्माण किया है। यहाँ पर दन्तधौति का शाब्दिक अर्थ नहीं है। यहाँ पर इसका अर्थ है, शीर्ष प्रदेश की सफाई। तीसरी है 'हृद्धौति'। हृद्धौति का अर्थ होता है हृदय प्रदेश की सफाई। अन्न नलिका और फेफड़े हृदय प्रदेश में आते हैं, अत: इनकी सफाई हृद्धौति के माध्यम से होती है। चौथा है मूलशोधन। शरीर के मूल भाग की सफाई। गुदा द्वार, बड़ी आँत, मूत्र नलिकाओं इत्यादि की सफाई।

'धौतिं चतुर्विधां कृत्वा' धौति के इन चार प्रकारों के अभ्यास से क्या परिणाम होता है? *'घटं कुर्वन्ति निर्मलम्'* ये शरीर को शुद्ध बनाते हैं।

1. अन्तर्धौति

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम् ।
घटस्य निर्मलार्थाय ह्यन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ॥14॥

अर्थ

धौति कर्म के चार प्रकारों में से प्रथम, अन्तर्धौति के भी चार भेद हैं– वातसार, वारिसार, वह्निसार और बहिष्कृत। ये चारों ही शरीर को निर्मल करने के लिए की जाती हैं ॥14॥

व्याख्या

अन्तर्धौति के चार प्रकार होते हैं। पहला है वातसार, दूसरा है वारिसार, तीसरा है वह्निसार और चौथा है बहिष्कृत। आन्तरिक अंगों की सफाई करने वाली प्रक्रिया के ये चार उपविभाग हुए। इनके अभ्यास से शरीर निर्मल होता है। वातसार धौति, वायु के द्वारा आन्तरिक अंगों और आमाशय को साफ करती है। कई बार हम देखते हैं कि यदि कहीं पर अधिक धूल-कचरा जमा हो जाये, तो उसे धौंकनी के माध्यम से, हवा के माध्यम से साफ करते हैं। ठीक उसी प्रकार से आमाशय या अन्न नलिका में विकार और अशुद्धि होने पर वातसार धौति द्वारा पेट में वायु भेजी जाती है और वह वायु विषाक्त गैस या दुर्गन्धयुक्त वायु को बाहर निकालती है और पाचन क्रिया को तीव्र बनाती है।

दूसरी है वारिसार धौति। वारिसार धौति, जल के द्वारा आन्तरिक अंगों की सफाई करती है। आमाशय को जल से भर देते हैं, फिर उसे बाहर निकाल देते हैं। जल से सफाई करने पर पित्त और कफ, जो पेट और अन्न नलिका में अधिक मात्रा में रहते हैं, बाहर निकल जाते हैं। आँतों में (छोटी आँत और बड़ी आँत में) जो विषाक्त पदार्थ चिपके रहते हैं, वे भी घुलकर बाहर निकल जाते हैं।

तीसरी क्रिया है वह्निसार, अग्नि द्वारा पेट की सफाई। इसका दूसरा नाम है अग्निसार। इसमें अग्नि द्वारा पेट की सफाई करने के विषय में बतलाया गया है। यहाँ अग्नि है, जठराग्नि। वह्निसार धौति के माध्यम से आन्तरिक अंगों की सफाई करके पाचन-प्रक्रिया को तीव्र बनाते हैं, ताकि पाचन का कार्य सुचारु ढंग से हो। जब पाचन-प्रक्रिया ठीक रहती है, तब शरीर का विकास होता है, उसे समुचित पोषण मिलता है और शक्ति भी प्राप्त होती है। आन्तरिक अंगों में पाचन सम्बन्धी जो बीमारियाँ होती हैं, वे धौति क्रिया से ठीक हो जाती हैं।

चौथा अभ्यास है बहिष्कृत धौति। यह बहिष्कृत धौति वातसार धौति के समान है। पहले बताया गया है वातसार धौति में वायु को अन्दर लिया जाता है। बहिष्कृत धौति में भी वायु का प्रयोग होता है। *'बहिष्'* का अर्थ होता है बाहर और *'कृत'* का अर्थ होता है करना या निकालना। इसमें वायु द्वारा आँतों की सफाई होती है। यह अभ्यास बड़ी और छोटी आँत के लिए है।

1.(क) वातसार अन्तर्धौति

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेच्छनैः ॥15॥

अर्थ

कौवे की चोंच के समान दोनों ओठों को करके शनैः शनैः वायु को पीयें। पूर्ण रूप से पान कर लेने पर पेट में उसका परिचालन करें और फिर उस वायु को निकाल दें ॥15॥

व्याख्या

अभी तक महर्षि घेरण्ड ने 'सप्त साधन' और षट्कर्म का एक सामान्य रूप प्रस्तुत किया है, स्थूल रूप से समझाया है, लेकिन अब प्रत्येक अभ्यास को गहराई से, विस्तार से देखा जा रहा है। शुद्ध तरीके से इनके प्रयोग, इनकी विधि को समझाया जा रहा है। सर्वप्रथम वातसार धौति का वर्णन किया गया है।

विधि–किसी सुविधाजनक आसन में बैठकर, मुँह खोलकर कौवे की चोंच जैसा आकार बनाइये। नाक से श्वास छोड़िये, मुँह से वायु को धीरे-धीरे पीकर उदर में भरने का प्रयत्न कीजिए। यह काकी मुद्रा कहलाती है। यह क्रिया कठिन नहीं है, परन्तु इसमें अभ्यास की जरूरत है। वायु से ही पेट को जितना भर सकते हैं, भरते जाइये। जब पेट पूरी तरह भर जाये तो शरीर को ढीला छोड़ दें और वायु को उदर में कुछ समय के लिए घुमायें। उसके बाद धीरे-धीरे रेचक के माध्यम से उस वायु को बाहर निकाल दें।

इसमें विधि बतलायी गयी है, लेकिन विधि के साथ और भी कुछ जानना आवश्यक है। जैसे, आसन क्या होना चाहिए। इस अभ्यास को करने के लिए पद्मासन, सुखासन, सिद्धासन, सिद्धयोनी आसन, अर्थात् ध्यान के जो आसन हैं, उनमें बैठना चाहिए। उसके बाद हाथों को घुटनों के ऊपर रखना है। रीढ़ की हड्डी को सीधा रखना है। इस अभ्यास को खड़े होकर नहीं करते। इसके पीछे कारण यह है कि जब हम जमीन पर एक आसन में बैठते हैं, तो यह शारीरिक स्थिति आँतों को अवरुद्ध कर देती है। जब हम खड़े होते हैं, तब आँतें निर्बाध हो जाती हैं। खड़े होकर अभ्यास करने से वायु आँतों में प्रवेश कर सकती है, लेकिन बैठकर अभ्यास करने से, जब आँतें अवरुद्ध हो जाती हैं, संकुचित हो जाती हैं, उस समय वायु आँतों में प्रवेश नहीं करेगी, केवल पेट में रहेगी। इसलिए इसका अभ्यास ध्यान के किसी आसन में बैठकर करना चाहिए।

इसके बाद ओठों को गोल कर कौवे की चोंच की तरह बना लेना और जिस प्रकार पानी पीते हैं, ठीक उसी प्रकार पानी के बदले हवा को पीना है।

शीतली प्राणायाम हो या कोई और प्राणायाम हो, उनके अभ्यास के समय हवा फेफड़ों में जाती है, लेकिन इसमें हवा को फेफड़ों में नहीं जाने देना है। यही इसका अभ्यास है। हवा को सीधे पेट में ले जाना है, जैसे पानी पीते हैं। जब पानी पीते हैं तब गले की एक प्रक्रिया होती है; गला ऊपर-नीचे होता है और वायुनली अपने आप बन्द हो जाती है।

यहाँ पहले सीखना है वायुनली को स्वेच्छा से बन्द करना, और दूसरी चीज सीखनी है हवा को पेट में लेना। जब हवा को पेट में लेते हैं, उसे केवल एक-दो मिनट ही अन्दर रखना है, अधिक नहीं। अर्थात् श्वास चलती रहेगी। यहाँ कुम्भक के बारे में नहीं कहा गया है। श्वास चलती रहती है, क्योंकि यह फेफड़ों से चल रही है। पेट के अन्दर हवा को रखना है।

अब इसमें एक ऐसी प्रक्रिया होती है जैसी हम पानी पीने के समय करते हैं। आप पानी को मुँह में भर लें, तो भी आप नाक से श्वास लेते रहते हैं, लेकिन इस समय गले की स्थिति अलग हो जाती है। पानी को अन्न नलिका में प्रवेश नहीं करने देना है। गरारे करते हैं, उस समय भी गले का वह भाग ऊपर की ओर आता है और पूरे पानी को भीतर प्रविष्ट नहीं होने देता। वैसे उसमें तो अन्दर से वायु का भी दबाव रहता है, लेकिन इसमें वह दबाव नहीं रहता। गर्दन की मांसपेशियों के ऊपर नियन्त्रण होना चाहिए। एक-दो मिनट रखने के बाद, वायु को धीरे-धीरे निकालते हैं, डकार के रूप में। यदि किसी का पेट वास्तव में खराब हो, तो वह वायु दुर्गन्ध के साथ निकलती है, लेकिन बहुत-ही कम लोगों में यह देखा गया है।

वायु को जल्दी-जल्दी नहीं पीना है। उसे भीतर ले जाने की गति सामान्य होनी चाहिए। मुँह को भी ज्यादा फुलाना नहीं है। जब हम मुँह खोलते हैं, उस समय मुँह के भीतर जितनी वायु जाती है, उतनी ही वायु पेट के अन्दर जायेगी। तत्पश्चात् हम और वायु अन्दर ले जायेंगे, फिर और। सामान्य श्वास की गति से आप इसका अनुमान लगा सकते हैं। यह गटागट पानी पीने के समान नहीं है।

उदर संचालन– सामान्यत: वायु को पेट में रोक कर वह्निसार (अग्निसार) का अभ्यास किया जाता है, ताकि वायु उदर में घूमे और घूमकर बाहर निकले। इस प्रकार अग्निसार क्रिया या नौलि क्रिया, दोनों में से किसी एक अभ्यास को कर सकते हैं।

उपयोगितायें– साधारणत: डकार लेने के बाद हलकेपन का अनुभव होता है। यह एक बहुत साधारण क्रिया है, जिसे आप जाने-अनजाने करते ही हैं।

जब हम भोजन करते हैं तो भोजन निगलते समय कुछ हवा भी निगल जाते हैं। यह हवा पेट में जाती है। कभी-कभी यह वायु गुदा मार्ग से निकलती है और अधिकतर डकार के रूप में पुन: मुँह से निकल आती है। वातसार धौति इसी प्राकृतिक क्रिया पर आधारित है, परन्तु इसमें वायु को भोजन के समय न निगलकर श्वास अन्दर लेते समय सीधे पेट में निगलते हैं। ऑक्सीजन निगलने से पाचन क्रिया सक्रिय होती है।

अभ्यास का समय एवं आवृत्ति– वातसार धौति का अभ्यास आप चाहे जितनी बार कर सकते हैं, परन्तु दोनों समय भोजन के पूर्व करना चाहिए। दिन में किसी भी समय कर सकते हैं, परन्तु भोजन के तुरन्त बाद नहीं करना चाहिए। तैरते समय भी वातसार धौति का अभ्यास किया जा सकता है।

वातसारं परं गोप्यं देह निर्मलकारकम् ।
सर्व रोगक्षयकरं देहानलविवर्द्धकम् ॥16॥

अर्थ

वातसार अत्यन्त गुप्त क्रिया है। यह शरीर में निर्मलता लाने का कारण है। सभी रोगों को नष्ट करती है। जठराग्नि को तीव्र बनाती है ॥16॥

व्याख्या

'वातसारं परं गोप्यं' – वातसार एक गुप्त क्रिया है। यह गुप्त क्रिया क्यों है? वैसे देखा जाये तो योग की सभी क्रियाओं को गुप्त क्रिया के रूप में देखा जाता है। इसके तीन कारण हैं। एक तो योग के व्यावहारिक अभ्यास की जानकारी किसी को रहती नहीं। केवल पुस्तक पढ़ कर अभ्यास करने से पता नहीं कब क्या परिणाम हो जाये। बहुत-से लोग पुस्तक पढ़कर कुण्डलिनी जगाने के चक्कर में पड़ जाते हैं। कुछ-कुछ अभ्यास भी कर लेते हैं। लेकिन जब कुण्डलिनी जगने के पहले थोड़ी कुलबुलाने लगती है, तो वे लोग पागल हो जाते हैं।

सावधानियाँ– इस अभ्यास के नियम तो सामान्य ही हैं। जिस प्रकार से आसनों का नियम होता है, खाली पेट अभ्यास करना, ठीक उसी प्रकार धौति में भी इस नियम का और अधिक कठोरता से पालन किया जाता है, क्योंकि धौति का प्रयोजन ही है बाहर निकालना। पेट में यदि अन्न रहेगा भी, तो बाहर निकल जायेगा। इसलिए खाली पेट अभ्यास का जो नियम है, वह आसन,

प्राणायाम, षट्कर्म और योग के सभी प्रकार के शारीरिक अभ्यासों के लिए प्रभावी होता है। इसको हमेशा स्मरण रखना चाहिए। इस अभ्यास को कम-से-कम दो बार, अधिक-से-अधिक पाँच बार करना चाहिए, इससे अधिक नहीं। इसका अभ्यास प्रतिदिन किया जा सकता है।

व्यावहारिक ज्ञान और मार्गदर्शन के बिना गलत अभ्यास से हानि होने की सम्भावना रहती है। यह भी कह सकते हैं कि हर व्यक्ति योग की उच्च क्रियाओं का अधिकारी नहीं बन सकता, क्योंकि शारीरिक बनावट भी अनुकूल नहीं होती, या उम्र के कारण शारीरिक क्षमता क्षीण हो जाती है। अस्सी साल के वृद्ध व्यक्ति को ये सब अभ्यास थोड़े ही कराये जायेंगे। उसे तो पवनमुक्तासन, नाड़ी शोधन प्राणायाम, योगनिद्रा जैसे हलके अभ्यास कराये जायेंगे, षट्कर्म तो नहीं करायेंगे। इसलिए सभी योगाभ्यास हर एक व्यक्ति के अनुरूप नहीं हो सकते। उनकी शारीरिक क्षमता, अवस्था और उद्देश्य इत्यादि को देखना पड़ता है।

बहुत बार दिल के मरीजों को यदि दिल में दर्द रहता है, तो उसका कारण वायु होती है। उसका अर्थ यह नहीं कि दिल का दौरा पड़ रहा है। जब हमारे शरीर में वायु का प्रकोप बढ़ता है, तब वह अन्दर-ही-अन्दर ऊपर की ओर फैलती है। जब भीतर में दबाव पड़ता है तो हृदय में हलका दर्द उत्पन्न होता है। बहुत-से लोग घबरा जाते हैं कि कहीं मुझे दिल का दौरा तो नहीं पड़ रहा है। जब वायु डकार के रूप में बाहर निकलती है, तो पुनः एक क्षणिक हलका दबाव उत्पन्न होता है। वह भ्रान्ति कभी-कभी मन में इतनी घबराहट पैदा कर देती है कि फिर से दर्द शुरू हो जाता है। इस परिस्थिति में यह अभ्यास बहुत-ही उपयोगी है, लेकिन ऐसे व्यक्तियों के लिए नहीं जिन्हें दो-तीन साल पूर्व दिल का दौरा पड़ा हो। जिन लोगों ने हृद्-शल्य-चिकित्सा करवायी है, उनके लिए भी यह अभ्यास लाभदायक सिद्ध नहीं होगा। अन्य सभी व्यक्ति इस अभ्यास को कर सकते हैं।

लाभ– 'देहनिर्मलकारकम्' वातसार क्रिया शरीर को निर्मल करती है। निर्मल का अर्थ होता है शुद्ध, पवित्र। यदि शरीर शुद्ध हो तो यह कहना आवश्यक नहीं कि स्वास्थ्य-लाभ अवश्य होगा। मनुष्यों में अधिकतर बीमारियाँ पेट से शुरू होती हैं। पेट में वात, पित्त इत्यादि की गड़बड़ी के कारण होती हैं। यदि इनमें से एक कारण को भी ठीक कर सकें, उसे नियन्त्रण में ला सकें, तो उसका प्रभाव दूसरे प्रत्ययों पर भी पड़ेगा।

'सर्वरोगक्षयकरं देहानलविवर्धकम्' – सभी रोगों का क्षय करती और पेट में होने वाली रासायनिक क्रियाओं को बढ़ाकर जठराग्नि की तीव्रता को बढ़ाती

है। पेट में उत्पन्न दूषित गैस को बाहर निकालती है। पित्त की बाढ़ को रोकती है। पेट एवं छाती में अम्ल से होने वाली जलन मिटाती है। यदि पाचन-प्रक्रिया ठीक हो जाये, पाचक द्रव सही मात्रा में निकलने लगे, मल का निष्कासन भी समय पर होता रहे एवं पेट वायु-विकार रहित हो तो पेट के अनेक रोग, जैसे– कब्ज, कीटाणुओं से उत्पन्न रोग, पेचिश, पेट में फोड़े, हर्निया, अल्सर, मोटापा इत्यादि दूर हो जाते हैं।

1.(ख) वारिसार धौति

वारि का अर्थ होता है जल, सार का अर्थ तत्त्व, धौति का अर्थ धोना, अर्थात् जल से तत्त्व को धोना। इस क्रिया को 'काया-कल्प' के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि इस क्रिया के द्वारा पूरे शरीर का नव-निर्माण होता है, अर्थात् शरीर के अन्दर के विषाक्त तत्त्व निकाल दिये जाते हैं, जिससे नवीन शुद्ध तत्त्व निर्मित होता है। इसे शंख प्रक्षालन भी कहते हैं। वारिसार धौति, अन्तर्धौति की दूसरी क्रिया है। पहली क्रिया, वातसार धौति का सम्बन्ध पेट से ही रहता है, इससे दूषित वायु का निष्कासन होता है, लेकिन वारिसार धौति का लक्ष्य होता है पेट से उन विषाक्त तत्त्वों का निष्कासन, जो हमारे शरीर में मल के रूप में परिणत होते हैं। यह अन्न नली के मुख से गुदा-मार्ग तक की सफाई की क्रिया है।

पाचन तन्त्र की शारीरिक संरचना – पहले यह जानना आवश्यक है कि हमारे पेट और आँतों की रचना कैसी है। पेट और आँतें चिकनी नहीं होतीं। केचुए को तो आपने देखा ही होगा। आँत की बनावट केचुए की भाँति होती है। केचुए के शरीर में अनेक मांसपेशियाँ होती हैं, विशेषकर वृत्त के आकार की, गोल-गोल मांसपेशियाँ होती हैं। केचुआ जिस प्रकार से चलता है, वह भी आपने देखा है। वह सरकते हुए चलता है। अर्थात् वह आगे बढ़ने के लिए उन मांसपेशियों का प्रयोग करता है। ठीक उसी प्रकार हमारी आँतें भी हैं। आँत कोई चिकनी मांसपेशी नहीं है, और न ही हमारा पेट चिकना है। उसमें भी बहुत-सी परते हैं। संकुचन के कारण एक मांसपेशी दूसरी के ऊपर चढ़ी रहती है और इस प्रकार वे उभरी हुई परतों के रूप में रहती हैं।

सफाई का महत्त्व – बहुत बार ऐसा होता है कि अन्न के कण मांसपेशियों की परतों के बीच घुस जाते हैं और वहाँ पर सड़ने लगते हैं। इतना ही नहीं, शरीर को अन्न से जितना पोषक तत्त्व ग्रहण करना होता है, उससे अधिक मात्रा में आमाशय में ग्रहण हो जाता है और शेष छोटी आँत द्वारा ग्रहण कर

लिया जाता है। इसी बीच पाचक द्रव्यों के मिलने के कारण अन्न धीरे-धीरे विघटित होता और मल बनता है। जब अन्न मल के रूप में परिणत होता है, तब हमारे पेट में जितने अतिरिक्त पाचक द्रव रहते हैं, वे उस मल के साथ मिल जाते हैं। वह मल भी आँतों में बहुत जगह फँस जाता है और वहीं पर सड़ता रहता है।

जन्म के समय से आज तक हमने अपनी आँतों को साफ नहीं किया है। दिन में दो-चार लीटर पानी पीने के बाद भी पेट और आँतों की सफाई नहीं होती, क्योंकि पानी तो आँत से होकर वृक्क की ओर चला जाता है। मल द्वार से तो नहीं निकलता, वह तो पेशाब के रूप में निकलता है। इस प्रकार जन्म से आज तक हमने अपने पेट और आँतों की सफाई नहीं की है। आँत की लम्बाई भी बहुत होती है। शरीर शास्त्री कहते हैं कि हमारी आँत लगभग 22 फुट लम्बी है, जो सिकुड़-सिमट कर, उतने ही क्षेत्र में दबी है। आप कल्पना कीजिए कि यदि आँत की लम्बाई 22 फुट है और उसे मोड़कर, समेटकर हम लोग इतने-से क्षेत्र में भर दें, तो उसमें कितनी परतें होंगी। यहाँ पर अन्न और मल दोनों रुकते हैं। उन्हें मांसपेशियों की इन परतों के बीच से निकालना भी बहुत कठिन हो जाता है। सामान्य तरीके से तो आज तक कोई निकाल नहीं पाया है।

इसका उपाय योग में बतलाया गया है कि पानी के माध्यम से पेट और आँत की सफाई हो सकती है। जब मल या सड़े हुए अन्न कण हमारे पेट में मांसपेशियों की परतों के बीच चिपके रह जाते हैं, तब वहाँ पर सड़न होने लगती है। मांसपेशियाँ कमजोर पड़ जाती हैं। मांसपेशियों की जितनी नलिकाएँ हैं, वे भी प्रभावित होने लगती हैं। जो रक्त वहाँ से बहता है, वह भी दूषित होने लगता है, क्योंकि उस पर विष का प्रभाव पड़ता है। हमारे पेट में जो द्रव या हार्मोन हैं, वे साधारण नहीं हैं, वे बहुत-ही शक्तिशाली हैं। पित्त का ही उदाहरण लें। जब किसी को पित्त की शिकायत होती है, तब उसकी छाती और गले में भयंकर जलन होने लगती है। एक-एक हार्मोन बहुत शक्तिशाली होता है और वह मांसपेशियों द्वारा सोख लिया जाता है, जो मांसपेशियों और रक्त वाहिकाओं को ढीला, कमजोर एवं व्याधिग्रस्त बना देता है। जिसके कारण पेट सम्बन्धी अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ तो भयंकर रोग में परिणत हो जाते हैं।

यह भी देखा गया है कि तरलता के अभाव में मल हमारी आँतों में सूखने और कड़ा होने लगता है। मल जब कड़ा होता है तब मांसपेशियों के साथ

चिपक जाता है और जब उसे दूसरे प्रकार के आहार द्वारा हटाया जाता है तब मांसपेशियों में खरोंच आती है। इतना ही नहीं, कब्ज की बीमारी अधिकतर बड़ी आँत में ही होती है। छोटी आँत में आज तक कब्ज की शिकायत नहीं देखी गयी है।

इंग्लैण्ड में एक व्यक्ति पर परीक्षण किया गया था। एक साल तक वह व्यक्ति शौच नहीं गया। जिस दिन से उसने शौच जाना बन्द किया, उसी दिन से डॉक्टरों ने उसका लेखा-जोखा रखना शुरू किया। ठीक एक साल बाद वह शौच गया, और 35 किलो मल निकला। इसका मतलब यह नहीं कि उसका पेट फूल गया होगा। नहीं, मल अपने आप में ही ठोस होता गया, जमता गया, जिससे उसकी भूख मर गयी। आलस्य, प्रमाद और निद्रा में वृद्धि हो गयी। उसकी मानसिक स्थिति विक्षिप्त, क्षुब्ध और बेचैन हो गयी और एक साल बाद जब उसका एक्स-रे लिया गया, उसमें दिखायी दिया कि पूरी बड़ी आँत मल से भरी हुई है। बाद में एनिमा देकर, ग्लिसरीन पिलाकर मल को शरीर से बाहर निकाला गया और उसके दूसरे ही दिन व्यक्ति हलकेपन और स्फूर्ति का अनुभव करने लगा। उसका मस्तिष्क रोग एकदम ठीक हो गया; मानसिक विकार इत्यादि दूर हो गये।

यह एक दृष्टान्त था, यह बतलाने के लिए कि कब्ज की शिकायत पेट में नहीं, छोटी आँत में नहीं, बड़ी आँत में होती है और उसे इस क्रिया से ठीक करना बहुत ही सरल है।

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेण च पिबेच्छनैः ।
चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः ॥17॥
वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारकम् ।
साधयेत्तत्प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ॥18॥

अर्थ

मुख से धीरे-धीरे जल पीते हुए कण्ठ तक जल से भर लेना है। उसके बाद उदर को चलाकर जल को अधोमार्ग से निकाल देना है। यह वारिसार संज्ञक धौति परम गोपनीय एवं शरीर को स्वच्छ करने वाली है। इसका प्रयत्नपूर्वक साधन करने वाले योगी को देवताओं के समान शरीर की प्राप्ति होती है ॥17-18॥

व्याख्या

पूर्व तैयारी– इस अभ्यास के पूर्व संध्या को हलका भोजन करना चाहिए। जैसे, फल या खिचड़ी खाना ही श्रेयस्कर होगा। वारिसार धौति के दिन सुबह आसनों का अभ्यास न करें और वारिसार धौति के पूर्व सुबह चाय-नाश्ता या किसी प्रकार का भोजन न करें। क्रिया करते समय हलके, ढीले, कम व सुविधाजनक वस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए।

जल तैयार करने की विधि– एक बाल्टी में गरम पानी लीजिए और इसमें ठण्ढा पानी मिलाते हुए इस पानी को कुनकुना कीजिए। पानी इतना गरम हो, जिसे आप आसानी से पी सकें। कुनकुने पानी में इतना नमक मिलाइये कि पानी में खारापन आ जाए, बहुत अधिक नमकीन न हो। नमक को घुल जाने दीजिए। नमक में यदि कचरा हो तो पतले स्वच्छ कपड़े में नमक डालकर उस कपड़े को पानी में धो डालिए, नमक घुल जायेगा और कचरा निकल जायेगा।

स्थान एवं वातावरण– वारिसार धौति के लिए सर्वोत्तम स्थान है आँगन, बाड़ी या बरामदा, जिससे कि आपको शुद्ध वायु मिलती रहे। स्थान के चुनाव के समय आपको शौचालय की निकटता का ख्याल रखना होगा।

विधि– पहले दो गिलास कुनकुना, नमकीन पानी जल्दी-जल्दी, बिना रुके पीते हैं, ताकि पानी नीचे आँत में न चला जाये। यदि आप रुक-रुक कर पीयेंगे तो क्रिया ठीक से नहीं हो पायेगी। उसके बाद पानी को उदर में घुमाने के लिए नीचे वर्णित पाँच आसन द्रुत गति से करते हैं, जिससे पानी पेट से नीचे उतर जाता है। फिर और दो गिलास पानी पीते हैं। पुन: इन पाँच आसनों को करते हैं। प्रत्येक आसन आठ बार किया जाता है। पानी फिर नीचे जाता है। फिर दो गिलास पानी पीते हैं, वह फिर नीचे जाता है। उसी प्रकार छ: गिलास पानी पीने और प्रति दो गिलास के पश्चात् आसन करने के बाद शौच चले जाते हैं।

शौच के लिए दो मिनट से ज्यादा प्रतीक्षा नहीं करनी है। वहाँ पर रुकना नहीं है, क्योंकि उससे पेट के अन्दर दबाव समाप्त हो जायेगा। यदि मल न निकले तो जोर नहीं लगाना है। पुन: दो गिलास पानी पीकर और आसन करके फिर शौच जाना है। यदि दबाव न बना हो तो रुकना नहीं है, फिर आकर पानी पीना है और आसन करने हैं। तब तक पानी पीते और आसन करते जाते हैं, जब तक स्वच्छ पानी बाहर न निकले। पहले तो साधारण मल त्याग होगा,

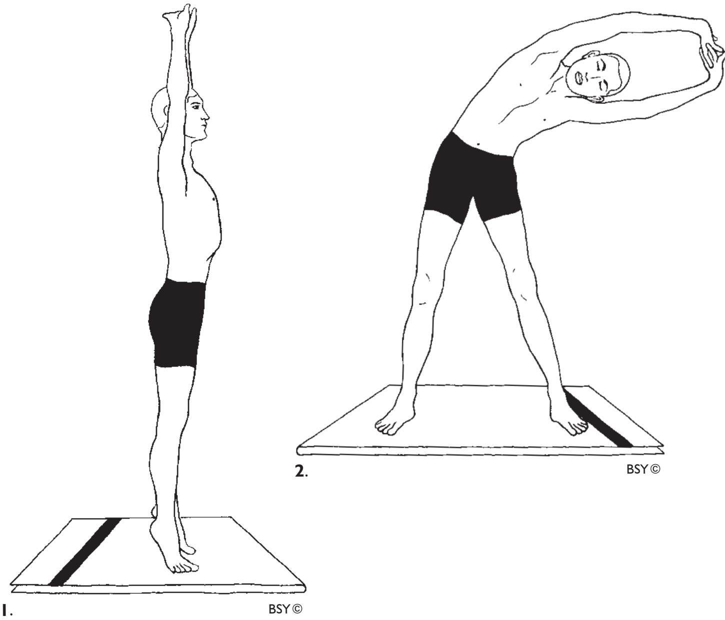
उसके बाद पतला मल निकलेगा। उसके बाद पीले रंग का पानी निकलेगा, जो पित्त को निकालता है। पीले रंग के पानी के साथ मल के वे कण निकलेंगे, जो इधर-उधर छुपे रहते हैं। इस प्रकार करते-करते फिर आपको मल के छिलके, जो अन्दर चिपके रहते हैं, दिखलायी देने लगेंगे। कई रंगों के छिलके दिखायी देंगे। काला, भूरा, गुलाबी, लाल– यह आपके भोजन पर निर्भर है।

लगभग 16 या 20 गिलास पानी पीने के बाद एकदम स्वच्छ जल निकलता है। पेट में जितना श्लेष्मा और चिकनाई रहती हैं, वे सब निकलती हैं। जब साफ पानी निकलने लग जाय तब क्रिया समाप्त कर देनी चाहिए। कुछ लोग 16 गिलास में क्रिया को पूरा कर लेते हैं, कुछ लोगों को अधिक पानी पीना पड़ता है। अधिक-से-अधिक 20 गिलास पानी पीना चाहिए, उसके बाद पानी पीना रोक दें।

शंख प्रक्षालन के आसन तथा उनकी विशिष्टताएँ– नीचे वर्णित आसन दिए हुए क्रम में किये जाने चाहिए, क्योंकि प्रत्येक आसन छोटी आँत का विस्तार कर, उसकी दीवारों को फैला कर उसमें जमे मल को नीचे की ओर ढकेलता है।

1. पहला आसन है ताड़ासन। जब हम ताड़ासन का अभ्यास करते हैं, तब हमारी अन्न नलिका, पेट और आँतों का विस्तार होता हैं। ये फैलते हैं। पेट और संग्रहणी के बीच मांसपेशियों का जो वॉल्व है, जिसे पाइलोरिक वॉल्व कहते हैं, वह खुलता है, तो जल वहाँ से गुजरता है और छोटी आँत में पहुँच जाता है। अत: जब ताड़ासन का अभ्यास करते हैं तब मांसपेशियों की परतें धीरे-धीरे खुलने लगती हैं और पानी वहाँ प्रवेश करता है।

आसन विधि– अपने पैरों के बीच 10 सेन्टीमीटर का फासला छोड़कर खड़े हो जाइये। शरीर के भार को दोनों पैरों पर समान रूप से डालते हुए शरीर को स्थिर बनाइये। हाथों की अंगुलियों को आपस में फँसाकर भुजाओं को सिर के ऊपर तान लीजिए। हथेलियाँ ऊपर की ओर रहें। अपने सामने किसी एक स्थान पर दृष्टि स्थिर कर लीजिए। जितना हो सके, शरीर को ऊपर की ओर तानिये। एड़ियों को ऊपर उठाते हुए शरीर का भार पैरों की अंगुलियों पर दीजिए। आरम्भ में शरीर में सन्तुलन रखना कठिन होगा, परन्तु अभ्यास के बाद यह सम्भव होगा। इसके लिए जरूरी है कि आप अपनी दृष्टि को एक स्थान पर स्थिर रखें। इसी अवस्था में कुछ देर रुकिये, फिर नीचे आ जाइये।



श्वास– शरीर को ऊपर उठाते समय श्वास अन्दर लीजिए। हाथ एवं शरीर को ऊपर उठाने के बाद श्वास रोकिये। शरीर को नीचे लाते समय श्वास छोड़िये।

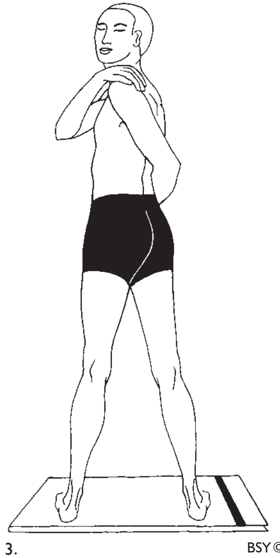
2. दूसरा अभ्यास है तिर्यक् ताड़ासन। तिर्यक ताड़ासन में हम अपने शरीर को दाँये-बायें झुकाते हैं। शरीर के एक ओर का विस्तार और दूसरी ओर का संकुचन होता है। जब सीधी अवस्था में शरीर एक तरफ झुकता और तनता है, तब उधर जितनी परतें रहती हैं, वे भी फैलती हैं और दूसरी ओर संकुचित हो जाती हैं। इस प्रकार आँतों की परतें बारी-बारी से फैलती और सिकुड़ती हैं, जिससे जल धक्के के साथ एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी परत में प्रवेश करता है और परतों के भीतर से सड़े हुए अन्न कणों को निकालता है। सूखे हुए मल को निकालता है।

आसन विधि– दोनों पैर एक-दूसरे से लगभग ढाई फीट दूर रखकर खड़े हो जाइये। दोनों हाथों को ताड़ासन की तरह सिर के ऊपर उठाइये। दृष्टि को सामने किसी वस्तु पर या जमीन पर स्थिर कर लीजिए। हाथों को ऊपर तान कर रखिये। कमर से ऊपर शरीर को दाहिनी ओर मोड़िये, फिर बाँयें मोड़िये। यह एक आवृत्ति हुई। कमर से ऊपर धड़ को जितना दाहिने तथा बाँयें झुका सकते हैं, झुकाइये। शरीर एवं सिर को सामने की ओर न झुकने दें।

श्वास– इस आसन में श्वास साधारण रूप से चलती रहेगी।

3. तीसरा अभ्यास है कटि चक्रासन। कटि कर अर्थ है कमर तथा चक्र का अर्थ है वृत्त या घुमाना। इस आसन में शरीर को कमर के पास से घुमाया जाता है। इसलिए इसे कटि चक्रासन कहते हैं। सम्पूर्ण शारीरिक गतिविधि बिना शारीरिक जोर लगाये सौम्यतापूर्ण सम्पन्न हो, इसका ख्याल रखें।

आसन विधि– पैरों के बीच दो-तीन फुट की दूरी रखकर खड़े हो जाते हैं। कन्धों की ऊँचाई पर भुजाओं को बगल में फैलाते हैं। पहले शरीर को कमर के ऊपरी भाग के पास से दायीं ओर मोड़ते हैं, लेकिन पैर अपने स्थान पर ही रहें, अर्थात् पैरों से कोई गतिविधि न हो। बायाँ हाथ सामने से दायें कन्धे पर एवं दायाँ हाथ पीछे की तरफ घूमता हुआ धड़ से लिपट जाये। पूरे अभ्यास के दौरान भुजाएँ तथा पीठ यथासम्भव शिथिल रहें। जब शरीर पूरी तरह घुमा लें, तब सिर को भी

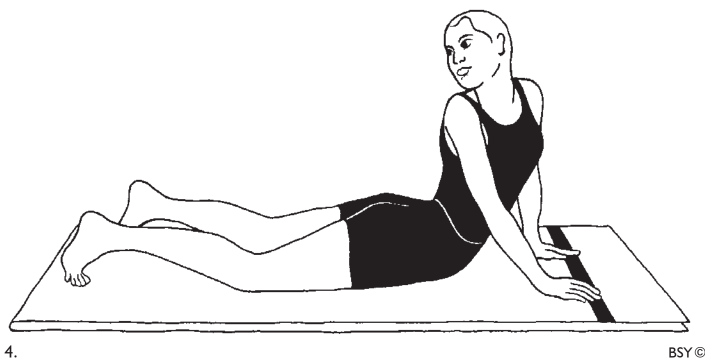


ठीक उसी दिशा में यथासम्भव घुमायें जिस दिशा में पीठ को घुमाया है। अत: अन्तिम अवस्था में आपकी शारीरिक स्थिति इस प्रकार होगी– बायाँ हाथ दाहिने कन्धे पर रहेगा तथा दाहिना हाथ कमर के बायें हिस्से का स्पर्श करता रहेगा। अब दाहिने कन्धे के ऊपर से यथासम्भव पीछे की ओर देखें। इसके पश्चात् शरीर को विपरीत दिशा में घुमायें। इससे शरीर का पूरा संचलन हो जाता है; शरीर पूर्ण रूप

से मुड़ता है। मुड़ने पर पेट और मांसपेशियाँ निचुड़ती हैं। इस निचोड़ के कारण पानी और दबाव आपस में मिलते हैं; धक्का लगता है।

4. चौथा अभ्यास है तिर्यक् भुजंगासन। यह आसन भुजंगासन का ही प्रकारान्तर है। इसमें भी पेट और आँतों का निचोड़ होता है तथा छोटी आँत और बड़ी आँत के बीच का पट, जिसे इलियोसीकल वॉल्व कहते हैं, वह खुलता है, ताकि जल बड़ी आँत में प्रवेश कर सके।

आसन विधि– जमीन पर पेट केबल लेट जाइये। पैर के पंजे जमीन के सम्पर्क में रहें। अपने सुविधानुसार पैरों को अलग-अलग अथवा सटा कर रख सकते हैं। हाथों को पुट्ठों के ठीक नीचे तथा बगल में जमीन पर रखें (अर्थात् हाथ एक-दूसरे से लगभग आधा मीटर दूर रहें।) भुजाओं को सीधा करें तथा कन्धों एवं सिर को जमीन से ऊपर उठायें। पीठ को शिथिल एवं निश्चेष्ट रखें। शरीर को ऊपर उठाने के साथ ही पीठ को हलका-सा दाहिनी ओर मोड़ें। अब सिर को मोड़ें तथा दाहिने कन्धे के ऊपर से पीछे की ओर बायीं एड़ी को देखें। अन्तिम अवस्था में भुजाएँ पूर्णत: सीधी रहें। अन्तिम



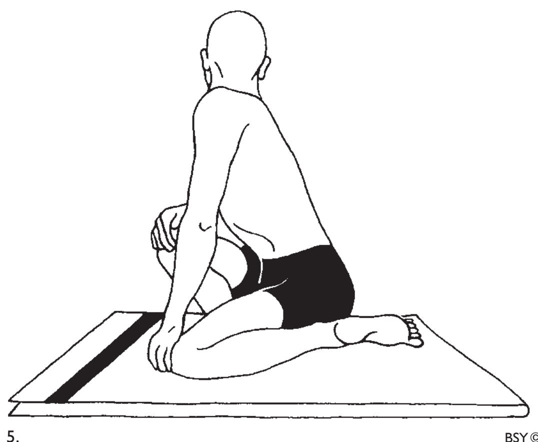
4.

अवस्था में बिना जोर-जबरदस्ती के सिर तथा पीठ को अधिकतम मोड़ने का प्रयास करें। साथ ही नाभि को यथासम्भव जमीन के निकट रखने का प्रयास करें। तत्पश्चात् पुन: सामने देखें। भुजाओं को मोड़ लें तथा शरीर को नीचे जमीन पर ले आयें। अब पुन: इसी प्रक्रिया को दोहरायें, लेकिन इस बार पीठ और सिर को बायीं ओर मोड़ें तथा बायें कन्धे के ऊपर से दाहिनी एड़ी को देखें। इसे पूरा कर लेने के पश्चात् आरम्भिक अवस्था में लौट आयें। यह एक आवृत्ति हुई।

श्वास– प्रारम्भिक अवस्था में सहज श्वास-प्रश्वास करें। शरीर को ऊपर उठाते हुए श्वास लें। अन्तिम अवस्था में श्वास रोकें। शरीर को जमीन पर वापस लाते हुए श्वास छोड़ें।

5. पाँचवाँ अभ्यास है उदराकर्षण। उदर का अर्थ होता है पेट तथा आकर्षण का अर्थ है खींचना या मालिश करना। इस आसन के दौरान पेट की मांसपेशियों में खिंचाव पैदा होता है और उनकी अच्छी मालिश होती है। चूँकि इस आसन के दौरान पाचन अंगों, स्नायुओं तथा मांसपेशियों का क्रमिक संकुचन एवं प्रसार होता है, इसलिए यह पेट सम्बन्धी व्याधियों के उपचार हेतु विशेष सहायक और प्रभावकारी है।

आसन विधि– दोनों पाँवों को एक-दूसरे से आधा मीटर दूर रखते हुए उकड़ू बैठ जाते हैं। हाथों को घुटनों पर रखते हैं। धड़ को कमर के पास से जितना सम्भव हो दाहिनी ओर मोड़ते हुए पीछे की ओर देखते हैं। साथ-ही-साथ बायें घुटने को जमीन पर झुकाते हैं। पूरे अभ्यास काल में हाथों को घुटनों पर रखें। सिर को पीछे की ओर यथासम्भव मोड़ें तथा दाहिने कन्धे के ऊपर से पीछे की ओर



5.

अधिकतम दूरी तक देखें। पीठ को शिथिल रखें। इसके बाद प्रारम्भिक स्थिति में लौट आयें। श्वास-प्रश्वास की गति सामान्य रहेगी। फिर इसी क्रिया को विपरीत दिशा में करें। यह एक आवृत्ति हुई। इस आसन से जल बड़ी आँत में संचालित होता है तथा मल को धक्का देकर बाहर निकालता है।

इन अभ्यासों में यह प्रयास किया गया है कि पानी पेट और आँतों में पूर्ण रूप से हिले और दबाव बनकर बाहर निकले। इस क्रिया का दूसरा नाम है

शंखप्रक्षालन। हमारे पेट की आकृति एक शंख के समान है। जिस प्रकार शंख में पानी डालकर, पानी को उसमें घुमा-घुमाकर उसे साफ किया जाता है, ठीक उसी प्रकार पेट और आँतों में पानी भरकर, उन्हें घुमा-घुमाकर साफ करने के कारण इस क्रिया का नाम शंख प्रक्षालन पड़ा है।

शंखप्रक्षालन, अर्थात् वारिसार धौति के समय हम जो पानी पीते हैं, वह ठण्डा नहीं होता, क्योंकि यह देखा गया है कि ठण्ढा पानी वृक्क मार्ग में प्रवेश कर जाता है। पानी ठण्ढा होने के कारण आँतों का विस्तार नहीं होता। आँतों की पेशियाँ फैलती नहीं, बल्कि संकुचित हो जाती हैं, इसलिए ठण्ढे पानी से इसका अभ्यास करने में बहुत-ही कठिनाई होती है। इसी कारण ठण्डे पानी को वर्जित माना गया है। गरम पानी भी वर्जित है, क्योंकि यदि पेट में फोड़े-फुन्सी हों तो गरम पानी से उनके फटने का डर रहता है, और यदि वे फट जायें तो पेट ठीक ढंग से साफ नहीं होगा, क्योंकि यदि प्रक्रिया के बाद कुछ विषाक्त पदार्थों के अवशेष अन्दर जायेंगे, तो वहीं पर, घाव के पास जमने लगेंगे। इससे विष हमारे शरीर में फैलेगा। इसलिए नमक मिले कुनकुने पानी का प्रयोग किया जाता है। नमक मिलाने के पीछे भी एक कारण है। जब हम पानी में नमक मिलाते हैं, तब वह अशोष्य बन जाता है; शरीर उसे सोख नहीं पाता। साधारण पानी पीयेंगे तो वह मांसपेशियों द्वारा खींच लिया जाएगा। यदि नमक डालकर पीते हैं, तो मांसपेशियाँ पानी को नहीं सोखती और वह बाहर निकलता है। इसलिए नमक मिलाना अत्यावश्यक है।

यह भी स्मरण रखना है कि जब हम पानी पीयें, तब इतना न पीयें कि उल्टी करने की इच्छा हो। इस मन्त्र में तो लिखा है, 'आकण्ठं पूरयेद्वारि'–कण्ठ तक पानी पीना है, लेकिन इसमें कण्ठ तक नहीं पीते हैं। इस मन्त्र में ऐसा क्यों लिखा है, यह आपको बाद में स्पष्ट किया जाएगा।

अन्य सम्बन्धित क्रियायें– शंख प्रक्षालन में पेट की सफाई के बाद दो और क्रियायें जरूरी हैं। उसके बाद ही शंख प्रक्षालन की विधि को पूर्ण कहा जा सकता है।

1. *कुंजल*–इस क्रिया में जल्दी-जल्दी कण्ठ तक पानी पीना पड़ता है। जब पानी कण्ठ तक आ जाये तब तुरंत उसे वमन क्रिया कर निकाल देते हैं। इस प्रकार पेट में जितने अवशेष रहते हैं, वे वमन क्रिया के माध्यम से निकल जाते हैं। इस क्रिया को कुंजल कहते हैं। इस मन्त्र में *'आकण्ठं पूरये द्वारि'*–कण्ठ तक पानी पीने का यही अर्थ है। इस क्रिया द्वारा पाचन-प्रणाली के ऊपरी अंगों की सफाई होती है।

2. *नेति*–इस मन्त्र में लिखा तो नहीं है, लेकिन अभ्यास को पूर्ण बनाने के लिए कुंजल के बाद जल नेति करते हैं और उसके बाद आगे झुककर कपालभाति

प्राणायाम करते हैं, ताकि सारा पानी बाहर निकल जाये। इनके अभ्यास से शरीर तथा मस्तिष्क में उत्पन्न तनाव दूर होता है।

अभ्यासोपरान्त विश्राम– इसके बाद पैंतालीस मिनट तक विश्राम करते हैं। इस समय आपकी पाचन-प्रणाली विश्राम लेती है और विषाक्त तत्त्व निकल जाने के बाद नवीन शक्ति प्राप्त करती है। अत: 45 मिनट विश्राम अति आवश्यक है। घूमना नहीं, चुपचाप विश्राम करना है, सोना भी नहीं है। यदि आप सो जायेंगे तो सरदर्द हो सकता है। इस अभ्यास में बहुत बार ऐसा भी होता है कि अभ्यास करते-करते शरीर का तापमान बढ़ जाता है, क्योंकि कुनकुना पानी पीते हैं, इसलिए पसीना आने लगता है। शारीरिक तापमान में वृद्धि होती है, तो बहुत लोग उस समय सोचते हैं कि मुझे बुखार हो रहा है। ऐसी बात नहीं है, इससे बुखार नहीं चढ़ता। विश्राम के समय बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। मानसिक तनाव या तनावपूर्ण परिस्थिति से बचना चाहिए।

अभ्यासोपरान्त भोजन– पैंतालिस मिनट तक शवासन के अभ्यास के पश्चात् खिचड़ी खाते हैं। शंख प्रक्षालन के बाद पाचन-प्रणाली पर अधिक भार न पड़े इसलिए हलका भोजन करना जरूरी है और खिचड़ी बहुत हलकी तथा सुपाच्य है। अच्छे साफ चावल और मूंग की धुली दाल की खिचड़ी बनाई जाती है। उसे पानी की तरह पतला बनाते हैं और उसमें घी अधिक मात्रा में मिलाते हैं। घी को खिचड़ी में एकदम मिला लेना चाहिए, घी अलग से तैरता हुआ नहीं दिखना चाहिए। खिचड़ी में हल्दी भी डाली जा सकती है, मगर नमक नहीं मिलाना उत्तम है। उस खिचड़ी को आवश्यकता से अधिक खाना आवश्यक है, क्योंकि इस अभ्यास के पश्चात् पेट पूर्णतया खाली हो जाता है। अब हम खाली पेट खिचड़ी, और खिचड़ी में जो भी घी है, उसे खाकर पेट और आँतों में पुन: चिकनाई ला रहे हैं, जो गरम पानी के कारण निकल गयी है। यदि एक तेल वाले बर्तन में गरम पानी डालते जायें, तो वह साफ होने लगता है। ठीक उसी प्रकार हमारे भीतर का सारा श्लेष्मा निकल जाता है, इसलिए अधिक मात्रा में खिचड़ी खानी आवश्यक है। जब तक कण्ठ तक न भर जाय, तब तक खिचड़ी खाते जाना है। पर पानी किसी हालत में नहीं पीना है। यदि पानी पीना ही पड़े, तो एक-दो घूँट गरम पानी पी सकते हैं।

भोजनोपरान्त विश्राम– भोजन के बाद विश्राम लेना जरूरी है, परन्तु कम-से-कम तीन घण्टे सोना नहीं है। यदि आप सोते हैं तो बाद में आपको बहुत आलस और शरीर में भारीपन का अनुभव होगा। यदि आप तीन घण्टे

नींद को रोक लेंगे तो आपको इस क्रिया का पूर्ण लाभ मिलेगा। तीन घण्टे तक खिचड़ी पचाना जरूरी है। उसके बाद आप सो सकते हैं।

बहुत बार ऐसा भी होता है कि शंख प्रक्षालन के बाद दो-तीन दिनों तक शौच नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि आपको कब्जियत हो रही है। इसका अर्थ होता है कि पेट एकदम खाली है और अभ्यास के बाद 22 फुट लम्बी आँत में खिचड़ी या जो भोजन आप करते हैं, उसकी यात्रा में बहुत समय लगता है। इसलिए शौच हो या न हो, घबराने की आवश्यकता नहीं है।

वारिसार धौति की सम्पूर्ण क्रिया दो दिन में पूरी होती है, परन्तु व्यावहारिक रूप से दो-तीन घण्टे इसको पूरा करने में लगते हैं। क्रिया के बाद दो दिन विश्राम करना चाहिए। यदि यह सम्भव नहीं, तो इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

भोजन के नियम– यहाँ दिये गये शंख प्रक्षालन के नियमों का दृढ़ता से पालन करें। यदि आप ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, तो शंख प्रक्षालन न करें।

1. सात दिन तक– दूध या दूध से बनी चीजें, मक्खन, मलाई, मिठाई, चाय, कॉफी, नीबू, फल, पान, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, खैनी, जर्दा और इसी प्रकार की नशीली वस्तुएँ, सुपारी आदि वर्जित हैं।

भोजन में तेल-मसाले-मिर्च, आचार, पापड़, चटनी न लें। सात्त्विक, सादा भोजन हो। विशेषतः फुलके, खिचड़ी, दाल-भात, यही खायें। जितना हलका भोजन करेंगे उतना ही अच्छा है, क्योंकि आपको अपनी पाचन-प्रणाली की कार्यक्षमता को धीरे-धीरे बढ़ाना होगा और प्रारम्भ में हलका भोजन लेने से एकाएक उस पर बोझ नहीं पड़ेगा। एक सप्ताह तक बाजार की चटपटी वस्तुएँ न खायें। ये अशुद्ध, अस्वच्छ तरीके से बनायी जाती हैं और सुपाच्य नहीं होतीं। ऊपर वर्णित चीजों से परहेज आवश्यक है, क्योंकि यदि हम गरम मसाला खायेंगे तो पेट के अन्दर जो नयी परत बन रही है, वह फिर समाप्त हो जायेगी।

2. चालीस दिनों तक– जो लोग मांसाहारी हैं, उनके लिए शंख प्रक्षालन करना अति आवश्यक है। उनके लिए नियम कुछ कड़े हैं, क्योंकि मांस को पचाने के लिए समय अधिक लगता है और जठराग्नि भी अधिक तीव्र होनी आवश्यक है। हमेशा मांस खाने से पाचन शक्ति कमजोर हो जाती है। उसकी क्षमता को बढ़ाने के लिए शंख प्रक्षालन आवश्यक है।

शंख प्रक्षालन के बाद पेट एक नवजात शिशु के पेट की तरह नाजुक और संवेदनशील हो जाता है। चालीस दिनों तक किसी प्रकार की एलोपैथिक दवाई या रसायन नहीं लेना चाहिए। चालीस दिनों तक किसी प्रकार का मांस भक्षण वर्जित है। साथ ही मदिरा, चरस, गांजा, ताड़ी इत्यादि भी वर्जित हैं। इस नियम को भंग करना जान पर खेलने के बराबर है।

शंख प्रक्षालन का उद्देश्य है शरीर में व्याप्त विषाक्त तत्त्वों तथा आमाशय में एकत्र मल को बाहर निकालना। अत: इन नियमों का पालन कर इससे अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

समय एवं आवृत्ति– शंख प्रक्षालन के अभ्यास के लिए मौसम का बहुत अधिक महत्त्व है। बहुत ठण्ढे मौसम में इसका अभ्यास वर्जित है। उसी प्रकार बहुत अधिक गरमी होने पर भी इस क्रिया को नहीं करना चाहिए। इससे शरीर से बहुत पसीना निकलेगा। बादल होने पर भी यह अभ्यास न करें। आसमान एकदम खुला होना बहुत जरूरी है।

छ:-छ: महीनों के अन्तराल में, अर्थात् साल में केवल दो बार इसका अभ्यास करना चाहिए, जब मौसम में परिवर्तन होता है– जैसे, मार्च में ठण्ढ के बाद गरमी का मौसम आता है। ठण्ढ के मौसम में हमारे भीतर जो कफ जमा रहता है, वह मार्च में पिघलकर निकलने लगता है। जब ठण्ढ के बाद लोगों को मौसम परिवर्तन के कारण खाँसी या छाती में कफ का अनुभव होने लगता है, तब इसका अभ्यास करना चाहिए। भारत के मौसम के अनुसार मार्च में इसका अभ्यास उत्तम है। दूसरी बार वर्षा ऋतु के बाद, सितम्बर में इसका अभ्यास करना चाहिए। मार्च और सितम्बर, यही उत्तम समय माने गये हैं, क्योंकि उस समय न अधिक गरमी होती है, न अधिक ठण्ढ। सितम्बर में गरमी कम होती है और ठण्ढ की शुरुआत के पूर्व मध्यम तापमान रहता है, उस समय इसका अभ्यास करना चाहिए।

सावधानियाँ– वारिसार एक गुप्त क्रिया है। गुप्त इसलिए है कि इसकी विधि बहुत लम्बी है और इसे सब नहीं जानते। योग्य शिक्षक से प्रत्यक्ष शिक्षा प्राप्त किये बिना इस क्रिया को न करें। गलत रीति से किये जाने पर इससे लाभ के बदले हानि होने की सम्भावना होती है। इसका अभ्यास खाली पेट होना चाहिए, क्योंकि यदि पेट खाली हो तो जल के निष्कासन में बहुत सुविधा होती है। यदि पेट भरा हो और पाचन-प्रक्रिया शुरू हो गयी हो तो जल का निष्कासन ठीक से नहीं होगा, बल्कि इससे हानि की भी सम्भावना है। इसलिए खाली पेट रहना आवश्यक है।

अभ्यास के बाद तीन घण्टे तक नहाना वर्जित है। शरीर के तापमान को पुन: सामान्य बनाना आवश्यक है। यदि आप शंख प्रक्षालन के तुरंत बाद स्नान करेंगे, तो सम्भवत: ठण्ढ लग जाये और सर्दी हो जाय। इसलिए तीन घण्टे तक स्नान नहीं करना, पंखा नहीं चलाना और ठण्ढा पानी नहीं पीना है, चाहे कितनी ही प्यास क्यों न लगे। यदि आप ठण्ढा पानी पीयेंगे तो इतनी देर गरम पानी जो आपके शरीर में रहा, उसकी गरमी और ठण्ढे पानी के तापमान में अन्तर पड़ जाता है। दूसरी बात, क्रिया के बाद आपका पेट एकदम खाली होता है, अत: पाचन-प्रणाली एकदम शान्त रहती है और नवीन पाचक रस उत्पन्न होते हैं, इसलिए तीन घण्टे तक शरीर में पानी की मात्रा नहीं लेनी चाहिए। यदि अभ्यास के समय बहुत ठण्ढ पड़ रही हो तो अभ्यास के बाद शरीर के आन्तरिक तापमान को बनाये रखने के लिए कम्बल ओढ़ सकते हैं। किन्तु तपती धूप में या आग के पास नहीं बैठना चाहिए और शारीरिक व्यायाम भी नहीं करने चाहिए।

उच्च रक्तचाप, चक्कर आना, मिर्गी, हृदय रोग, ड्यूडिनल अल्सर, हर्निया या खूनी बवासीर से पीड़ित व्यक्तियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। पन्द्रह साल की अवस्था के बाद, और जब तक शरीर स्वस्थ रहे तब तक इसका अभ्यास किया जा सकता है। इसके लिए कोई ऊपरी आयु सीमा नहीं है, लेकिन शारीरिक सामर्थ्य को देखना आवश्यक है।

लाभ– यह देह को निर्मल करती है। लेकिन एक चीज इसमें कही गयी है– *'साधयेत्तत्प्रयत्नेन'*– साधयेत्+तत्+प्रयत्नेन– प्रयत्नपूर्वक अभ्यास के द्वारा इस क्रिया को साध सकते हैं। यह शुद्धिकरण की सर्वश्रेष्ठ क्रिया है। देह को मल से शुद्ध किया जाता है, विकारों से शुद्ध किया जाता है। 'देवदेहं' का अर्थ होता है, व्यक्ति देवता के समान दिव्य, कान्तिमान्, ओजस्वी और हलका शरीर प्राप्त करता है। इस क्रिया द्वारा शरीर को सभी रोगों से मुक्त रखा जा सकता है।

1.(ग) अग्निसार अन्तर्धौति

अग्नि का अर्थ स्पष्ट है। सार का अर्थ होता है तत्त्व। अग्निसार क्रिया का अर्थ है– जिस क्रिया द्वारा जठराग्नि को तीव्र करके पाचन शक्ति को बढ़ाया जाए। धौति का अर्थ होता है धोना, अर्थात् यह क्रिया शरीर की अशुद्धियों को धोकर बाहर निकालने का काम करती है।

नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत् ।
अग्निसारमियं धौतिर्योगिनां योगसिद्धिदा ॥19॥
उदरामयजं त्वक्त्वा जठराग्निं विवर्द्धयेत् ।
एषा धौतिः परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहं भवेद्ध्रुवम् ॥20॥

अर्थ

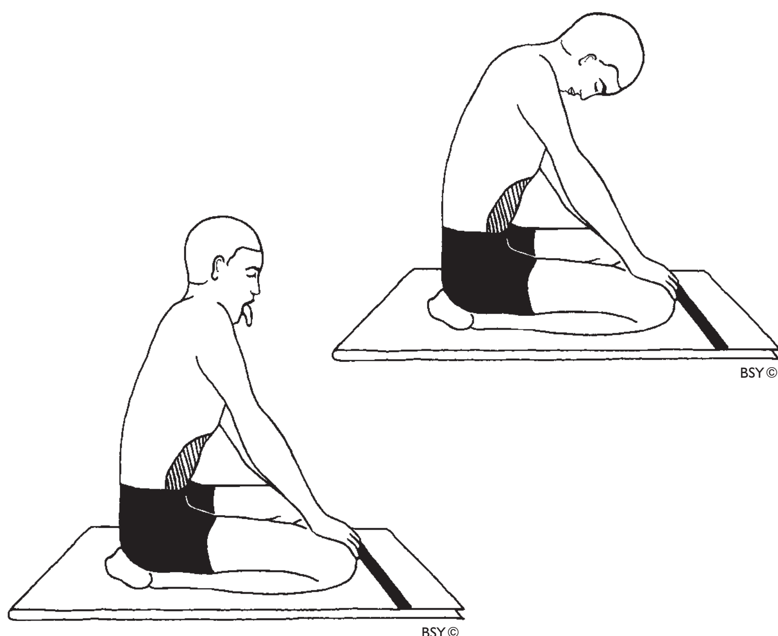
प्राण वायु को रोक कर नाभि को मेरु पृष्ठ भाग में लगायें। इससे अग्निसार संज्ञक धौतिकर्म सम्पन्न होता है। इससे सभी उदर रोग नष्ट होते हैं, जठराग्नि तीव्र होती है। यह धौति कर्म अत्यन्त गोपनीय और देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। केवल इस कर्म के करने मात्र से देवताओं जैसा शरीर हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥19-20॥

व्याख्या

यह अन्तर्धौति के क्रम में तीसरा अभ्यास है। योगियों एवं साधकों को, जो इसका अभ्यास करते हैं, यह सिद्धि प्रदान करने वाली है। अन्तर्धौति की प्रक्रिया में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण क्रिया है। अभी तक हमने वायु और जल के द्वारा शरीर को विकार रहित बनाने वाले अभ्यासों की चर्चा की। इस क्रिया में पेट का प्रसारण एवं संकुचन किया जाता है, जिससे पेट के सभी अंगों की मालिश होती है और सभी आन्तरिक अंग सुव्यवस्थित होते हैं, उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है और भोजन पचाने में सहयोग मिलता है। इस श्लोक में संक्षेप में विधि बतलाते हुए कहा गया है– *'नाभि ग्रन्थिं मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत'* – नाभि क्षेत्र को मेरुदण्ड से सौ बार सटाओ। इसका अर्थ यह नहीं कि हर अभ्यासी को सौ बार इस क्रिया को करना ही है। आप उतनी ही बार करें, जितना आप आसानी से कर सकते हैं।

आसन– अग्निसार क्रिया के अभ्यास के लिए आप अपने सुविधानुसार आसन का चुनाव कर सकते हैं। यदि बैठकर करना है तो वज्रासन या ध्यान के किसी आसन, जैसे–पद्मासन, अर्द्धपद्मासन, सिद्धासन या सिद्धयोनि आसन में ही इसका अभ्यास करना चाहिए। सुखासन में इसका अभ्यास नहीं किया जाता, क्योंकि बैठकर अग्निसार क्रिया का अभ्यास करते समय घुटनों का जमीन से छूते रहना आवश्यक है। खड़े होकर भी इसका अभ्यास किया जा सकता है।

विधि– यदि बैठकर अभ्यास करना है तो इसकी विधि इस प्रकार है– ध्यान के किसी आसन में बैठें। रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। हाथ तनी हुई अवस्था में घुटनों पर रहें, ताकि घुटने जमीन से सट जायें। कुछ क्षणों तक पूरे शरीर को, विशेषकर आमाशय को विश्रान्त बनायें। इस चित्र के अनुसार सिर को थोड़ा आगे करें। मुँह खोलकर जीभ को बाहर निकालें। आँखें खुली या बन्द रह सकती हैं, जैसा आप चाहें। सबसे पहले लम्बी और गहरी श्वास अन्दर लेनी है। उसके बाद होठों को गोल बनाकर, मुँह से पूरी वायु को बाहर निकाल देना है। श्वास को नाक से नहीं, मुँह से बाहर निकालते हैं, जब तक फेफड़े और पेट पूर्णतया खाली न हो जायें। बहुत बार ऐसा होता है कि जब हम नाक से श्वास छोड़ते हैं, तब फेफड़ों की पूरी क्षमता का उपयोग नहीं होता और कुछ वायु उनके भीतर रह जाती है। लेकिन जब मुँह से श्वास छोड़ते और पेट को अन्दर की ओर ले जाते हैं, तब पेट और फेफड़ों के बीच जो मध्यपटल होता है, वह ऊपर की ओर आता है और फेफड़ों से वायु को बाहर निकालता है। इस मध्यपटल का प्रयोग वायु को बाहर निकालने के लिए होना चाहिए और उसके बाद श्वास को बाहर ही रोक देना चाहिए; अन्दर नहीं लेना है।



श्वास को रोककर पेट को जल्दी-जल्दी अन्दर-बाहर करना है। आरम्भ में एक बहिर्कुम्भक में पेट को पन्द्रह बार आगे-पीछे किया जा सकता है। जब 15 बार हो जाये, तब भी श्वास नहीं लेनी है। सबसे पहले अपने शरीर को विश्राम की अवस्था में लाना होगा। यह ख्याल रहे कि हमारी सभी मांसपेशियाँ अपने स्थान पर आ गयी हैं। उसके बाद शारीरिक विश्राम की अवस्था में धीरे-से श्वास को खींचना है। तत्पश्चात् एक मिनट के लिए, या दस-बारह श्वास की गिनती तक सामान्य श्वास लेनी है। उसके बाद पुन: इस अभ्यास को दुहराया जा सकता है। नाभि को अन्दर की ओर ले जाकर मेरुदण्ड से सटाने का प्रयास करना पड़ता है, अर्थात् मांसपेशियों को संकुचित करने की इतनी क्षमता होनी चाहिए कि नाभि क्षेत्र रीढ़ की हड्डी को छुए। इस क्रिया में पेट को बाहर फेंका और अन्दर खींचा जाता है, और उसके बाद कन्धों को ढीला कर विश्राम करते हैं। चूँकि इस क्रिया में पेट के आन्तरिक अंगों की विशेष मालिश होती है, इसलिए आसानी से पेट का जितना विस्तार कर सकते हैं, उतना ही करें, अधिक जोर लगाने का प्रयत्न न करें।

यदि खड़े होकर इसका अभ्यास करना है तो दोनों पैर फैलाकर खड़े हो जाइये। दोनों पैरों के बीच लगभग आधे फुट का अन्तर हो। घुटनों को थोड़ा मोड़ लें और आगे झुककर दोनों हाथों को घुटनों पर रखें। हाथ सीधे रहें। पेट की ओर देखिये। घुटनों को हाथ का सहारा दिया जाता है, ताकि रीढ़ की हड्डी यथासम्भव सीधी रहे। पूर्व अभ्यास के समान ही जीभ बाहर कर उदर के प्रसारण और आकुंचन के साथ श्वास लीजिए और छोड़िये। पद्मासन में इस अभ्यास की एक विशेषता है कि इसमें पेट को अन्दर-बाहर करते समय कुम्भक लगाया जाता है।

समय एवं आवृत्ति– भोजन के बाद अर्थात् भरे पेट में अग्निसार क्रिया नहीं करनी चाहिए। इस अभ्यास को करने का उत्तम समय प्रात:काल ही है। सामान्य व्यक्ति इस क्रिया को कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक पाँच बार दुहरा सकता है। प्रत्येक आवृत्ति के बाद कुछ क्षण विश्राम अवश्य करें।

सावधानियाँ– साधक यदि इस अभ्यास को सिद्ध करना चाहे तो गुरु से निर्देश लेना आवश्यक है, क्योंकि इस क्रिया के अभ्यास से अनेक हानियों की सम्भावना भी रहती है। किन्तु विपरीत रोगों में भी यदि जानकार व्यक्ति अभ्यास कराये तो ठीक होना सम्भव है। इसलिए निर्देशन में अभ्यास करना

आवश्यक है। इसमें भी योग का सामान्य नियम लागू होता है कि योगाभ्यास खाली पेट करना चाहिए। इसके अभ्यास से शरीर के अन्दर तन्त्रिका-तन्त्र में तीव्र उत्तेजना उत्पन्न होती है। जब हमारे तन्त्रिका-तन्त्र में तीव्र उत्तेजना उत्पन्न होती है, तो उससे हमारे हृदय-संस्थान, रक्त-परिसंचरण-तन्त्र और श्वसन-तन्त्र पर बहुत जोर पड़ता है। इसलिए यह अभ्यास हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, पेट या आमाशय में नासूर, हर्निया और दमा जैसे रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के लिए वर्जित है। गर्भावस्था में इसका अभ्यास वर्जित है, परन्तु प्रसव के बाद इसका अभ्यास बहुत उपयोगी कहा गया है।

इस प्रकार षट्कर्म की जो क्रियाएँ हैं, उनका अभ्यास करके उनमें पूर्णता प्राप्त करने के लिए शरीर का स्वस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है। शारीरिक क्षमता को समझना बहुत आवश्यक है, उसके बाद ही षट्कर्म का अभ्यास करना चाहिए।

शारीरिक लाभ–अग्निसार क्रिया के अभ्यास से उदरस्थ सभी अंगों की मालिश होती है और उनकी क्रियाशीलता बढ़ती है। पाचन-प्रणाली को व्यवस्थित कर यह क्रिया आवश्यक पाचक रसों का स्राव नियमित करती है, जिससे भोजन का पाचन ठीक से होता है। जठराग्नि और पाचन शक्ति तीव्र होती है। इसके अतिरिक्त पेट के कीड़े नष्ट होते हैं। पाचन-संस्थान से सम्बन्धित रोग, जैसे–कब्ज, पित्त, वायु का प्रकोप, अल्सर, हर्निया, अपचन, अति अम्लता, अल्प अम्लता तथा यकृत के रोग सहज ही ठीक हो जाते हैं। इस अभ्यास से पेट के आन्तरिक अंगों पर इच्छानुसार नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है। यह क्रिया पेट के सभी अंगों को सन्तुलित एवं क्रियाशील बनाये रखती है। षट्कर्म के सभी अभ्यासों में, विशेषकर धौति के अभ्यासों में आन्तरिक अंगों की स्वच्छता पर बहुत अधिक जोर दिया गया है।

योग की मान्यता है कि मनुष्य के शरीर में 75% बीमारियाँ पेट की गड़बड़ी के कारण होती हैं। वैसे बीमार होने के अन्य कारण भी हो सकते हैं। जैसे–वातावरण में प्रदूषण, या किसी प्रकार के रोगाणु के हमले के कारण भी शरीर अस्वस्थ हो सकता है, लेकिन मुख्यत: शरीर में बीमारी की शुरुआत तभी होती है जब हमारी पाचन क्रिया में गड़बड़ी हो। पेट के आन्तरिक अंग कमजोर पड़ जाने से भोजन का पाचन ठीक से नहीं हो पाता और कब्ज, दस्त एवं किडनी या लीवर की तकलीफ होती है। अग्निसार क्रिया एक बहुत शक्तिशाली क्रिया होने के कारण पाचन-प्रणाली को उत्तेजित

कर पाचन में सहयोग देती है, जिससे कई प्रकार के रोग दूर होते हैं तथा सम्भावी रोगों से बचाव होता है। शेष जो 25% बीमारियाँ बचती हैं, उनका कारण होता है हमारी मानसिक अवस्था, चिन्ता एवं तनाव। इनका हमारे शरीर पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है, जो किसी रोग के रूप में उभरता है। इसलिए षट्कर्म के धौति के अभ्यासों में पाचन-संस्थान को ठीक करने पर जोर दिया गया है।

साधक और गृहस्थ के लिए योग की पाचन सम्बन्धी मान्यतायें अलग-अलग हैं। वह साधक जो योग में सिद्ध बनता है, उसकी शारीरिक क्षमता इतनी बढ़ जाती है कि वह लकड़ी और पत्थर को भी पचा सकता है। योगी का मतलब 'लक्कड़ हजम, पत्थर हजम।' गृहस्थों के लिए सात्त्विक, संयत और सादे आहार का विधान है, क्योंकि गृहस्थों के जीवन में संयम का पालन करना बहुत कठिन होता है। हठयोग का उद्देश्य है, शरीर को इतना शक्तिशाली बना देना कि हमारा शरीर बिलकुल अप्रभावित रहे। किसी प्रकार की जीवनशैली से प्रभावित न हो।

प्राणों तथा चक्रों पर प्रभाव–प्राण के क्षेत्र और कुण्डलिनी योग के अभ्यास में भी अग्निसार क्रिया या वह्निसार धौति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस अभ्यास के द्वारा मणिपुर चक्र की जागृति होती है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान ऐसे चक्र हैं, जिनमें कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है और पुन: इन दोनों के बीच सो जाती है। किन्तु यदि एक बार कुण्डलिनी शक्ति मणिपुर में आ जाये, तो फिर वह कभी निष्क्रिय नहीं होती, हमेशा सक्रिय बनी रहती है। यह कुण्डलिनी योग का मत है। यह भी कहा जाता है कि मणिपुर चक्र के जाग्रत होने के बाद ही हमारे शरीर के भीतर प्राणों की जागृति होती है।

जब तक साधक मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र को जगाने का प्रयास करता है, तब तक उसके जीवन में बाह्य रूप से कोई परिवर्तन दिखलायी नहीं देता, बल्कि उसे अपने जीवन में कभी-कभी अत्यन्त कठिन मानसिक और भावनात्मक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। समय-समय पर उसे उत्तेजना, चिन्ता, मोह, शोक इत्यादि का भी सामना करना पड़ता है। यहाँ अभी योग के शास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा की जा रही है। यह कुण्डलिनी जागरण की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं है। इस क्रिया से नाभि क्षेत्र की नाड़ियाँ या तन्त्रिका-तन्त्र की ग्रन्थियाँ सबसे पहले उत्तेजित होती हैं। जब मणिपुर चक्र में

नाड़ियों के क्षेत्र में उत्तेजना उत्पन्न होती है, तो उसका प्रभाव सीधे मस्तिष्क पर पड़ता है और शरीर में प्राण एवं क्रिया का अनुभव होने लगता है। शिथिलता, आलस्य और प्रमाद दूर हो जाते हैं।

मानसिक लाभ– मानसिक रोगियों के लिए, जो बहुत अधिक अन्तर्मुखी रहते हैं, अग्निसार का अभ्यास उत्तम है। यदि किसी निराशाग्रस्त व्यक्ति से अग्निसार का अभ्यास आठ-दस बार कराया जाय, तो वह निराशा की अवस्था से बाहर आ जाता है। तीन-चार घण्टों तक वह एकदम सामान्य व्यक्ति की तरह व्यवहार करेगा, लेकिन बाद में जब पुन: उसका तन्त्रिका-तन्त्र शिथिल पड़ जाएगा, तब वह फिर से निराशा की अवस्था में चला जायेगा। इससे ज्ञात होता है कि इस क्रिया के द्वारा तन्त्रिका-तन्त्र में बहुत तीव्र उत्तेजना का अनुभव होता है।

यह इतनी गोपनीय क्रिया है कि देवता भी इसे नहीं जानते। आप सोचेंगे कि पेट को आगे-पीछे करना क्या गोपनीय है। जब आप इसका अभ्यास करेंगे, तब देखेंगे कि इसमें कितने अधिक शारीरिक संयम की आवश्यकता पड़ती है। जो व्यक्ति शारीरिक रूप से संयत नहीं है, वह इस अभ्यास को नहीं कर पायेगा। एकमात्र इसी धौति के अभ्यास से दिव्य देह की प्राप्ति होती है।

1.(घ) बहिष्कृत अन्तर्धौति

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं मरुत् ।
धारयेदर्धयामं तु चालयेदधोवर्त्मना ।
एषा धौति: परा गोप्या न प्रकाश्या कदाचना ॥21॥

अर्थ

कौवे की चोंच के समान ओठों को करके उनके द्वारा वायु-पान करते हुए, उदर को भर लें। उस पान की हुई वायु को आधे प्रहर (डेढ़ घण्टा) तक उदर में रोक कर परिचालित करते हुए अधोमार्ग से निकाल दें। यह परम गोपनीय बहिष्कृत धौति कहलाती है ॥21॥

व्याख्या

घेरण्ड संहिता के अन्तर्धौति अभ्यास क्रम में यह चौथी प्रक्रिया है। इस अभ्यास को करने के लिए प्राणायाम को सिद्ध करना आवश्यक है, क्योंकि

यदि आप बहिष्कृत धौति की विधि को समझें, तो आपको यह अनुमान हो जायेगा कि जब तक प्राणायाम सिद्ध नहीं होता, व्यक्ति इस धौति का अभ्यास नहीं कर सकता।

विधि– 'काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं मरुत्।' काकी मुद्रा के समान मुखाकृति बनाकर वायु को उदर के भीतर ले उसे वायु से भर लेना है। काकी मुद्रा के अभ्यास में ओठों को गोल बनाकर, मुँह से हवा को पीना है। जिस प्रकार से पानी पीते हैं, ठीक उसी प्रकार से हवा को पीते हैं। उस हवा को पेट में रखते हैं। वातसार धौति के वर्णन में आपको बतलाया गया कि हवा को पेट में रखकर आप सामान्य श्वास ले सकते हैं, क्योंकि श्वसन प्रक्रिया पेट से नहीं, बल्कि फेफड़ों से होती है। अत: जो हवा पेट में रुकी हुई है, वह अन्न नलिका और पेट के बीच दीवार होने के कारण ऊपर नहीं आयेगी। लेकिन इस अभ्यास में थोड़ा अन्तर दिखलायी देता है। जो श्लोक की दूसरी पंक्ति में आपको ज्ञात होगा।

'धारयेदर्द्धयामं तु चालयेदधोवर्त्मना'– चौबीस घण्टों को यामों में बाँटा गया है। जिस प्रकार संस्कृत भाषा में पांत की चर्चा होती है, ठीक उसी प्रकार योग साहित्य में चौबीस घण्टों को यामों में बाँटा गया है। एक याम होता है तीन घण्टा। आधा याम का अर्थ हुआ डेढ़ घण्टा। आधे याम तक हवा को पेट में रखना है। *'चालयेदधोवर्त्मना'*– पेट को चलाकर फिर वायु को अधो मार्ग से, गुदा द्वार से बाहर निकाल देना है।

इस अभ्यास को सिद्ध करने के लिए योग शास्त्र में बतलाया जाता है कि व्यक्ति को प्राणायाम सिद्ध होना चाहिए, क्योंकि जब हम डेढ़ घण्टे तक वायु को अपने उदर में रखते हैं, तो उसका यह अर्थ होता है कि साधक का मांसपेशियों और स्वचालित तन्त्रिका-तन्त्र पर पूर्ण नियन्त्रण होना आवश्यक है, क्योंकि यदि पेट, अन्न नलिकाओं एवं आँतों की मांसपेशियों पर नियन्त्रण नहीं होगा, तो वायु डकार या अपान वायु के रूप में शरीर से बाहर निकल जायेगी। यह अभ्यास करते समय शंख प्रक्षालन के चार आसनों का अभ्यास होना आवश्यक है।

इस प्रक्रिया को यहाँ बहुत कम शब्दों में समझाया गया है। वायु को पेट में ले लेना और जब तक वायु पेट में है तब तक कम-से-कम श्वास चले। श्वास को आप जितना कम कर सकें, श्वसन प्रक्रिया को जितना धीमा कर सकें, उतना ही अच्छा है। सामान्य रूप से मनुष्य एक मिनट में ग्यारह से

पन्द्रह बार श्वास लेता है। लेकिन इस अभ्यास हेतु इतनी क्षमता होनी चाहिए कि हम एक मिनट में एक ही श्वास लें। श्वास को अन्दर लेने में तीस सेकण्ड और बाहर छोड़ने में तीस सेकण्ड का समय लगना चाहिए। श्वास पर यह नियन्त्रण प्राणायाम के प्रारम्भिक अभ्यासों के बिना सम्भव नहीं है। जब हम प्राणायाम का अभ्यास करते हैं तो उसमें भी अनुभव होता है कि यदि हम श्वास की लम्बाई को एक समान रखना चाहें, तो सात की गिनती तक या दस की गिनती तक थोड़ा-बहुत परिश्रम करना पड़ता है। पर इससे अधिक यदि बढ़े तो दम फूलने लगेगा और गहरी श्वास लेने की आवश्यकता महसूस होगी। शरीर के भीतर इस प्रकार की अव्यवस्था इस अभ्यास के समय उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। शरीर पूर्ण विश्राम की अवस्था में रहना चाहिए। शारीरिक उत्तेजना, स्नायविक उत्तेजना एवं श्वसन प्रक्रिया में उत्तेजना का अनुभव नहीं होना चाहिए। जैसे, इसी मन्त्र में कहा गया है, *'धारयेदर्धयामं तु'*। बहुत लोग इसका अर्थ लगाते हैं कि डेढ़ घण्टे तक श्वास नहीं लेनी है। बहुत-से ग्रन्थों में व्याख्या भी की गयी है कि डेढ़ घण्टे तक श्वास नहीं लेनी है। डेढ़ घण्टे तक कौन श्वास रोक सकता है? यह सम्भव नहीं है। इसलिए इन सब मन्त्रों को सही ढंग से समझना आवश्यक है।

इसके बाद आसनों का अभ्यास किया जाता है। पहले चार आसनों– ताड़ासन, तिर्यक ताड़ासन, कटि चक्रासन और भुजंगासन का अभ्यास कर, जिस प्रकार शंख प्रक्षालन में पानी को नीचे ढकेला जाता है, ठीक उसी प्रकार इस अभ्यास में वायु को नीचे आँतों में ढकेला जाता है। शंख प्रक्षालन की जो प्रक्रिया होती है– आसन करने के बाद शौच जाते हैं, वही अभ्यास यहाँ भी करना पड़ता है। शौच जाना आवश्यक है, क्योंकि हमारे शरीर में हवा का जो दबाव बनता है, वह अति शीघ्र बाहर निकलता है और हवा के साथ सूखा मल भी निकल जाता है। इस प्रकार हवा के माध्यम से आँतों को मजबूत एवं पेट के रोगों को ठीक किया जाता है।

बहिष्कृत धौति का अभ्यास सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता। वास्तव में, इसे एक गोपनीय क्रिया कहना सत्य है। *'एषा धौति: परागोप्या'*– यह धौति बहुत गोपनीय क्रिया है। *'न प्रकाश्या कदाचना'*– जिसे कभी सिखलाना ही नहीं चाहिए। जिसे सामान्य नहीं बनाना चाहिए। यह व्यक्तव्य वास्तव में इस धौति के लिए लागू होता है। बड़े-बड़े हठ योगी भी इस अभ्यास को करने में बहुत कठिनाई का अनुभव करते हैं।

श्वास का महत्त्व–प्राणायाम के सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना सर्वथा उचित रहेगा। श्वास का हमारे शरीर के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। चाहे आसन हो, प्राणायाम हो, धौति हो या हठयोग की क्रिया हो, श्वास पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है, क्योंकि योग का मत है कि श्वास मानसिक और भावनात्मक स्थिति का दर्पण है। यदि किसी व्यक्ति की मानसिक स्थिति या भावना चंचल अथवा विक्षिप्त हो, तो श्वास में उस चंचलता को देखा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति लेटा हो, उसके मन में बहुत-से विचार उठ रहे हों और वह अपने विचारों को रोकने में सक्षम न हो, तो श्वास की गति से मालूम पड़ जायेगा। श्वास बहुत तीव्र गति से चलेगी, छोटी रहेगी और एक तरह से उथली श्वसन क्रिया होगी। फेफड़ों के ऊपरी हिस्से से ही श्वसन क्रिया होती रहेगी और बार-बार लम्बी तथा गहरी श्वास खींचने की इच्छा होगी। लेकिन जो व्यक्ति शान्त है, उद्विग्न या चंचल नहीं है, यदि आप उसकी श्वसन प्रक्रिया को देखेंगे, तो उसे भी आप शान्त ही पायेंगे।

इतना ही नहीं, योग कहता है कि श्वास का सम्बन्ध हमारे प्राणिक शरीर से रहता है। बहुत लोगों की तो यह धारणा रहती है कि यदि हम श्वास को लम्बे समय तक रोक लें तो मृत्यु भी हो सकती है, परन्तु यह धारणा गलत है। अभ्यास के नहीं रहने पर यदि कोई व्यक्ति जबरदस्ती श्वास रोक कर बैठ जाये, तो उसका चेहरा काला, भूरा, नीला पड़ जायेगा और अन्त में मृत्यु अनिवार्य है। लेकिन यदि अभ्यास हो तो यह भी सम्भव है कि व्यक्ति आधे घण्टे तक श्वास को रोक ले और जीवित रहे। अनेक योगियों ने इस प्रकार की क्षमता प्राप्त की है। सामान्य जनता इसे सिद्धि के रूप में देखती है। चालीस मिनट या एक घण्टे तक श्वास रोक लेना सिद्धि नहीं है, यह शारीरिक क्षमता है। हमारा शरीर बहुत कुछ कर सकता है, पर शरीर की जानकारी आवश्यक है। क्षमता को पहचानना आवश्यक है।

श्वास और प्राण, दोनों में अन्तर है। श्वास का सम्बन्ध प्राणशक्ति से है, किन्तु प्राणशक्ति श्वास से भिन्न है। भिन्नता यह है कि प्राणशक्ति हमारे भौतिक शरीर में गरमी, शक्ति और तेज के रूप में विद्यमान है। आन्तरिक गरमी या तापमान, जिसे हम शारीरिक तापमान कहते हैं, वह प्राणशक्ति की एक क्रिया है। आप दो मिनट श्वास नहीं लेंगे तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, लेकिन यदि एक मिनट के लिए भी प्राण आपके भीतर न रहें, तो तत्काल मृत्यु हो जायेगी। इसलिए कहा जाता है कि भौतिक शरीर में प्राणशक्ति गरमी, शारीरिक स्फूर्ति,

शक्ति और तेज के रूप में विद्यमान है। सूक्ष्म अवस्था में प्राणशक्ति चंचलता के रूप में विद्यमान है। इसीलिए भावना में चंचलता का अनुभव होता है। प्रेम, लगाव, आकर्षण, भावना, क्रोध, इच्छा, वासना और कामना में आवेग का कारण या इनकी अभिव्यक्ति का कारण प्राणशक्ति है। विचारों के पीछे भी प्राणशक्ति है, लेकिन यहाँ हम इसे प्राण नहीं कहते। इसका रूप बदल जाता है। इसे कहते हैं चित्तशक्ति। प्राणशक्ति शारीरिक है, जबकि चित्तशक्ति आन्तरिक, मानसिक, भावनात्मक और बौद्धिक है।

इस प्राणशक्ति को सूर्य शक्ति की संज्ञा भी दी गयी है तथा चित्त शक्ति को चन्द्र शक्ति की संज्ञा दी गयी है, और इन्हीं दोनों के संयोग से हठयोग शब्द भी बना है। *'ह'* का अर्थ होता है चन्द्रशक्ति, जिसका मन्त्र है *'हम्'* और *'ठ'* का अर्थ होता है सूर्यशक्ति या प्राणशक्ति, जिसका मन्त्र है *'ठम्'*। अत: यहाँ पर हठयोग का तात्पर्य शरीर से हठ या जबरदस्ती नहीं, बल्कि हमारे भीतर सूर्य शक्ति और प्राणशक्ति को जाग्रत करना है। इसीलिए हठयोग में अन्य अभ्यासों के साथ-साथ श्वसन क्रिया पर भी बहुत जोर दिया गया है कि हम शरीर से बाह्य अभ्यास तो कर रहे हैं, लेकिन प्राणशक्ति को स्पन्दित करने के लिए, प्राणशक्ति को जाग्रत करने के लिए श्वास पर नियन्त्रण होना आवश्यक है। यह एक आन्तरिक प्रक्रिया है।

बहिष्कृत धौति का एक दूसरा अभ्यास भी है, जिसे महाधौति या बहिष्कृत प्रक्षालन धौति कहते हैं। किन्तु इसका अभ्यास अत्यन्त कठिन है। इस धौति को समझने के पहले अपनी शारीरिक संरचना के बारे में समझना आवश्यक है, क्योंकि सामान्य शरीर-विज्ञान में जहाँ तन्त्रिका-तन्त्र की नाड़ियों की जानकारी है, वहीं योग का शरीर-विज्ञान और भी सूक्ष्म है।

सूक्ष्म नाड़ी संस्थान–योग का शरीर-विज्ञान कहता है कि हमारे शरीर के भीतर अन्य अनेक ऐसी नाड़ियाँ भी हैं, जिनके माध्यम से सूक्ष्म शक्ति या प्राणशक्ति का प्रवाह शरीर के भीतर होता है। ये नाड़ियाँ केवल रक्त संचार का नियन्त्रण तथा शरीर और मस्तिष्क के बीच संवेदना को लाने-ले जाने का कार्य नहीं करतीं, बल्कि शरीर में ऊर्जा या शक्ति का संचार भी करती हैं। योग शास्त्र के अनुसार हमारे शरीर में 72,000 नाड़ियाँ हैं। योग की भाषा में इन नाड़ियों को अलग-अलग नाम दिया गया है। इनमें से दस प्रमुख हैं। दस प्रमुख नाड़ियों के नाम हैं–इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, ब्रह्म, कूर्म, शक्ति, सारस्वत, ब्रह्मपुत्र, कावेरी तथा लक्ष्मी। इन दस नाड़ियों में से तीन प्रमुख हैं– इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना।

हठयोग के अभ्यासों में इन दस नाड़ियों को प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य नाड़ियाँ भी होती हैं, जैसे वज्रासन में वज्र नाड़ी का उल्लेख मिलता है कि वज्रासन करने से वज्र नाड़ी दबती है, उसके भीतर संवेदना उत्पन्न होती है। ऐसी अनेक नाड़ियाँ हैं, परन्तु षट्कर्म के अभ्यास में इन दस नाड़ियों पर अधिक बल दिया जाता है। षट्कर्म का अभ्यास समाप्त करके जब हम कुण्डलिनी योग या क्रिया योग के अभ्यासों को जानने का प्रयत्न करते हैं, तब उनमें पाँच नाड़ियों का मुख्य स्थान रहता है– इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, ब्रह्म और कूर्म।

यौगिक शरीर रचना विज्ञान के अनुसार प्रमुख नाड़ियाँ हमारे शरीर में मूलाधार चक्र से प्रारम्भ होती हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी शरीर के जितने छोर हैं–हथेली, अँगुली, सिर, पैर, मूत्रेन्द्रिय तथा गुदाद्वार–इनसे अनेक नाड़ियों की शुरुआत होती है और अनेक नाड़ियों का यहाँ अन्त होता है। ये क्षेत्र बहुत संवेदनशील होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आप अपनी जाँघ में बिना देखे दो-तीन सुईयाँ घुसायेंगे, तो कुछ विशेष अन्तर मालूम नहीं पड़ेगा, भले ही वे परस्पर एक या दो इन्च दूर हों, पर यदि शरीर के किसी छोर में पिनों को एक मिलीमीटर की दूरी पर भी घुसायेंगे तो संवेदना के कारण तुरंत अनुभव हो जायेगा कि दो पिनें हैं।

प्रक्षालन कर्म

नाभिमग्नजले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्जयेत् ।
कराभ्यां क्षालयेन्नाड़ीं यावन्मलविसर्जनम् ॥22॥
तावत्प्रक्षाल्य नाडीं च उदरे वेशयेत्पुनः ।
इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद् ध्रुवम् ॥23॥
यामार्ध धारणाशक्तिं यावन्न धारयेन्नरः ।
बहिष्कृतं महद्धौतिस्तावच्चैव न जायते ॥24॥

अर्थ

नाभि तक जल में खड़े होकर शक्ति नाड़ी को बाहर निकालो और निकालकर नाड़ी का प्रक्षालन करो, उसे साफ करो। उससे मल का त्याग होता है। जब नाड़ी की सफाई हो जाय, उसे पुनः अन्दर ढकेल दो। यह प्रक्षालन की क्रिया,

धौति की क्रिया अत्यन्त गोपनीय है। देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। केवल इस धौति के अभ्यास से देवता समान शरीर की प्राप्ति होती है। जब तक साधक में इतना सामर्थ्य उत्पन्न न हो जाय कि वह वायु को आधे प्रहर तक उदर में रोक सके, तब तक उसे यह बहिष्कृत संज्ञक महाधौति नहीं करनी चाहिए ॥22-24॥

व्याख्या

आप एक छोटे-से बर्तन में यह अभ्यास नहीं कर सकते। अभ्यास नदी में करना है, जहाँ पानी चलायमान हो। जहाँ पर पानी रुका हुआ है, जैसे कुएँ या हौज में इसका अभ्यास नहीं करना है। जहाँ पानी प्रवाहित हो रहा हो, वैसे स्थान में इसका अभ्यास किया जाता है।

विधि– वास्तविक अभ्यास है कि हम नाभि तक पानी में खड़े हो जायें और गुदा द्वार से अश्विनी-वज्रोली के माध्यम से पानी अन्दर खींचें। जब थोड़ा-बहुत पानी अन्दर जाता है, तब उसे पहले निष्कासित कर देते हैं, ताकि जो मल गुदा द्वार के चारों ओर, इस चार-पाँच इन्च के क्षेत्र में लगा है, वह निकल जाये। उसके बाद थोड़ा-सा घी या तेल लेकर अंगुली द्वारा गुदा द्वार में चारों ओर चुपड़ देते हैं। यह सब क्रम पानी के भीतर ही होता है।

लाभ– जब हम अंगुली को अन्दर डालते और उससे घी चुपड़ते हैं, तब अंगुली के साथ थोड़ा पानी भी अन्दर जाता है। जब पानी अन्दर प्रवेश करता है, तो उस समय शक्ति नाड़ी की धुलाई होती है। यह नाड़ी ज्यादा बड़ी नहीं है। इस अभ्यास से शक्ति नाड़ी में संवेदना उत्पन्न होती है और वह संवेदना पिंगला नाड़ी को जाग्रत करती है। पिंगला नाड़ी की जागृति के बाद शरीर में प्राण जाग्रत होते हैं। इस अवस्था को प्राणोत्थान कहते हैं, और उसके बाद कुण्डलिनी जाग्रत होती है।

क्रिया विज्ञान– बहिष्कृत धौति अन्तिम और कठिन अभ्यास है। पर चूँकि योग शास्त्रों में इसका वर्णन किया गया है, इसलिए बतलाना आवश्यक है, ताकि हमें यह ज्ञात रहे कि भले ही क्रिया कठिन क्यों न हो, उसका हमेशा एक उद्देश्य होता है– किसी नाड़ी या चक्र को प्रभावित करना। योग में गुदा द्वार और मूत्रेन्द्रिय के लिए विशेष अभ्यास होते हैं। वहाँ के नाड़ी तन्तुओं को जाग्रत करने, उनमें संवेदना उत्पन्न करने और शरीर के अलग-अलग क्षेत्रों को, जहाँ पर नाड़ियों के गुच्छे रहते हैं, स्पन्दित करने के लिए अलग-अलग अभ्यास हैं। ये अभ्यास मुद्रा और बन्ध कहलाते हैं।

मूलाधार क्षेत्र से अनेक तन्त्रिकाओं का प्रारम्भ तथा इसी में अनेक तन्त्रिकाओं का अन्त होता है। यदि नाड़ी ऊपर की ओर बढ़ रही है, तो प्रारम्भ होता है और यदि नीचे की ओर आ रही है, तो अन्त होता है। गुदा द्वार की दाहिनी ओर एक नाड़ी होती है, जिसे शक्ति नाड़ी कहते हैं और बायीं ओर दूसरी नाड़ी होती है, जिसे वज्र नाड़ी कहते हैं। जब हम वज्रासन का अभ्यास करते हैं, तब वज्र नाड़ी पर प्रभाव पड़ता है। इस नाड़ी का हमारे पाचन-संस्थान से सीधा सम्बन्ध है। इसका सम्बन्ध सायटिका नाड़ी से भी रहता है। सायटिका में दर्द पीछे से शुरू होता है और पैरों की तरफ बढ़ता है। सायटिका के दर्द का सम्बन्ध वज्र नाड़ी से रहता है, अर्थात् वज्र नाड़ी में कहीं पर अवरोध या बाधा रहती है। इस नाड़ी की संवेदना शक्ति का संचार ठीक ढंग से नहीं हो रहा होता है। दूसरी नाड़ी है शक्ति नाड़ी। यह गुदा द्वार की दाहिनी ओर से शुरू हो मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र तक ही जाती है और योग विज्ञान के अनुसार स्वाधिष्ठान चक्र में पिंगला नाड़ी से मिल जाती है। पिंगला है सूर्य शक्ति या प्राणशक्ति। अत: धौति का यह पाँचवाँ अभ्यास अत्यन्त कठिन और गोपनीय है। यह शक्ति नाड़ी की सफाई का अभ्यास है।

श्वास– साधारण व्यक्ति एक मिनट में 11 से 15 बार श्वास लेता है। डेढ़ घण्टे तक श्वास रोकना अत्यधिक कठिन है। वही व्यक्ति आधे याम तक श्वास रोक सकता है, जिसने प्राणायाम के अभ्यास को सिद्ध किया हो।

सावधानियाँ– यहाँ महर्षि घेरण्ड इस बात के लिए सचेत कर रहे हैं कि वही व्यक्ति महाधौति का अभ्यास करे, जिसे डेढ़ घण्टे से अधिक श्वास रोकने का पूरा अभ्यास हो, अन्यथा इसमें शरीर को खतरा रहता है। इसलिए सब व्यक्ति महाधौति का अभ्यास न करें। पहले प्राणायाम के अभ्यासों तथा योग के अन्य प्रारम्भिक अभ्यासों को सिद्ध करें, और जब शरीर में वह क्षमता आ जाये कि आप डेढ़ घण्टे से अधिक श्वास रोक सकें, तब महाधौति के अभ्यास का प्रयास करें।

अन्तर्धौति की ये चारों क्रियायें शरीर को विकार रहित बनाने की विधियाँ हैं। इसके बाद शेष षट्कर्मों का जो वर्णन किया गया है, उससे आपको ज्ञात होगा कि किसी नाड़ी केन्द्र को जाग्रत कर हम अपने पूरे शरीर में, अन्नमय कोश, प्राणमय कोश या मनोमय कोश में परिवर्तन लाते हैं। अन्तर्धौति की सीमा है अन्नमय कोश (पदार्थ शरीर)। अन्तर्धौति के अभ्यास से अन्नमय कोश को विकार रहित बनाते हैं।

2. दन्तधौति

> दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयो:।
> कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौतिर्विधीयते ॥25॥

अर्थ

दन्तधौति के पाँच भेद हैं– दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्र और कपालरन्ध्र। ये चार प्रकार की धौतियाँ हुईं, इनमें दोनों कानों के रन्ध्रों से होने वाली दो धौति मानी गयी हैं। इस प्रकार पाँच हुईं ॥25॥

व्याख्या

दन्तधौति का शब्दार्थ है–दाँत की सफाई। लेकिन यहाँ पर इसका जो अर्थ लिया गया है वह है शीर्ष प्रदेश की सफाई, शीर्ष प्रदेश की स्वच्छता। इसमें पहला अभ्यास है– *'दन्तमूलं'*, अर्थात् दाँतों की जड़ की सफाई। दूसरा अभ्यास है– *'जिह्वामूलं'*, अर्थात् जीभ और उसके मूल की सफाई। *'रन्ध्रं च कर्णयुग्मयो:'*–कर्णरन्ध्रों की सफाई। दोनों कानों को अलग-अलग लिया गया है। दाहिने कान की सफाई एक प्रकार की धौति मानी गयी है और बायें कान की सफाई दूसरे प्रकार की धौति मानी गयी है। *'कपालरन्ध्रं'*, अर्थात् सिर के अग्रभाग का ऊपरी हिस्सा। *'पञ्चचैते दन्त धौतिर्विधीयते'*–दन्तधौति के ये पाँच प्रकार होते हैं।

ये सभी क्रियायें हमारी ज्ञानेन्द्रियों की सम्पूर्ण स्वच्छता के लिए प्रयोग में लायी जाती हैं। ज्ञानेन्द्रियों पर अन्य शारीरिक क्रियायें अवलम्बित हैं। प्रात:काल बिना भूले ज्ञानेन्द्रियों की सफाई करनी चाहिए। दाँत, मुख, जिह्वा, कर्ण एवं नासिका की सफाई योगी का प्रथम कर्तव्य है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही हमें अस्तित्व का ज्ञान होता है, अत: इनकी सफाई न रखने से इनमें दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी सफाई को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है।

2.(क) दन्तमूल धौति

> खादिरेण रसेनाथ शुद्धमृत्तिकया तथा ।
> मार्जयेद्दन्तमूलं च यावत्किल्विषमाहरेत् ॥26॥
> दन्तमूलं पराधौतिर्योगिनां योग साधने ।
> नित्यं कुर्यात्प्रभाते च दन्तरक्षाच योगवित् ।
> दन्तमूलं धावनादिकार्येषु योगिनां मतम् ॥27॥

अर्थ

जब तक मैल न छूटे, तब तक खादिर के रस अथवा विशुद्ध मिट्टी से दाँतों की जड़ों को माँजना चाहिए। योगियों को यह साधन अपने दाँतों की रक्षा के लिए नित्य प्रात:काल अवश्य करना चाहिए। योग के जानने वाले पुरुष इस दन्तमूल धौति को प्रमुख कर्म मानते हैं ॥26-27॥

व्याख्या

यह क्रिया दाँत एवं मसूड़ों की सफाई के लिए है। आजकल की जो प्रथा है, हम दाँतों को ब्रश से साफ करते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उससे तो केवल दाँतों की सफाई होती है, मसूड़ों की मालिश नहीं हो पाती, जो कि अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि दाँतों को आधार मसूड़े ही प्रदान करते हैं। लेकिन जब हाथ की अंगुली का प्रयोग किया जाता है, तब मसूड़ों को भी रगड़ना चाहिए, इससे मसूड़ों की मालिश होती है। यह सुझाव आज के वैज्ञानिक युग में भी लागू होता है। आप चाहे किसी प्रकार के पेस्ट का प्रयोग करें, ब्रश का प्रयोग करें, लेकिन उसके पश्चात् अपनी अंगुली से दो-चार मिनट तक मसूड़ों की मालिश अवश्य करनी चाहिए। इसी बात को महर्षि घेरण्ड ने इस मन्त्र में बतलाया है। इस प्रकार दाँतों के मूल को साफ करने से *'किल्विष'* अर्थात् गन्दगी, विकार इत्यादि दूर हो जाते हैं। योगी दन्तमूल के इस अभ्यास से अपने दाँतों की रक्षा करते हैं।

सामान्य रूप से यह देखा गया है कि हम अपने आहार एवं वस्त्रों के प्रति तो काफी सजग रहते हैं, लेकिन प्राय: अपने दाँतों एवं मुँह के विषय में असावधान हो जाते हैं। हम सोचते हैं कि दाँत को साफ करने का अर्थ केवल उससे मैल को हटा देना है।

विधि–यहाँ एक विशेष ओषधि का प्रयोग किया गया है, जिसे खादिर कहते हैं। खादिर है कत्था, जो पान में खाते हैं। खादिर या कत्थे का रस और शुद्ध चिकनी, काली या पीली मिट्टी–इन दोनों का प्रयोग बतलाया गया है। कत्थे को भिगाकर, उसका जो रस निकलता है, उसे अपनी अंगुली पर रखकर दाँतों के मूल को घिसना है। कत्था अपने आप में एक ओषधि है, जिसका प्रयोग आयुर्वेद में किया जाता है। अगर मसूड़ों में सूजन आ जाए या मुँह में छाले पड़ जाएँ, तो सुझाव दिया जाता है कि व्यक्ति अपने मुँह में कत्थे को रख ले और उसको चूसता रहे। दाँतों में दर्द हो, उनमें विवर हो जाएँ या कीटाणु लग जाएँ, तो सुझाव दिया जाता है कि कत्थे को अपने मुँह में रख लें। अत:

कत्थे का प्रयोग तो पहले से ही दाँतों की सुरक्षा और उन्हें शक्ति प्रदान करने के लिए किया जाता रहा है।

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि यदि कत्था उपलब्ध न हो तो जमीन को, जहाँ वह गीली हो, खोदकर चिकनी मिट्टी को, जो काली या पीली हो, निकाल कर, उसका प्रयोग भी किया जा सकता है। यह निश्चित कर लेना कि उसमें कंकड़ न हों। केवल एक पेस्ट के रूप में उसका प्रयोग किया जाता है। उसे दो-तीन मिनट तक मसूड़ों की जड़ में घिसते हैं, कुल्ला करते हैं और फिर इस क्रिया को दुहराते हैं। ऐसा पाँच या छ: बार करते हैं, तब कहीं मसूड़ों में स्वास्थ्य का अनुभव होता है, मसूड़ों में रक्त का संचार होता है।

यह भी देखा गया है, और विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है कि यदि दाँतों की रक्षा प्रारम्भ से न की जाय, तो दाँतों के बीच जो तत्त्व एकत्र हो जाते हैं और उनसे जो कीटाणु उत्पन्न होते हैं, वे दाँतों के लिए ही नहीं, बल्कि स्वास्थ्य के लिए भी हानिकर हैं। यदि हमें मात्र दाँतों को साफ करने की आदत हो तो कुछ समय पश्चात् स्वास्थ्य पर दाँतों के विकार का असर दिखलायी देने लगता है। मुँह में रोग तो उत्पन्न होंगे ही, मसूड़ों से खून निकलेगा, पायरिया होगा और मुँह में छाले पड़ जायेंगे। साथ-ही भोजन, पानी और लार के साथ कीटाणु हमारे शरीर के भीतर प्रवेश करके हमारी पाचन-क्रिया को प्रभावित करेंगे। चूँकि वे विषाक्त कीटाणु हैं, इसलिए उनके प्रभाव से हमारे शरीर के अन्य भागों या अन्य संस्थानों में भी उनका जहर फैलेगा। असमय ही दाँत गिरने का कारण उनकी उचित देखभाल की कमी है। इन्हीं बातों पर विचार करते हुए महर्षि घेरण्ड ने दाँतों की स्वच्छता का उल्लेख किया है।

इस प्रकार दन्तधौति का जो अभ्यास महर्षि घेरण्ड ने बताया है, उसका मुख्य उद्‌देश्य है शारीरिक स्वास्थ्य। अन्तर्धौति के अभ्यास से तो हम अपने आप को शुद्ध करते ही हैं, लेकिन अन्तर्धौति की क्रियाओं के अतिरिक्त भी, सामान्य जीवन में यदि हम सावधानी बरतें और अपने दाँतों एवं कानों की रक्षा करें, तो उनसे विकार दूर होंगे और उनमें शक्ति तथा स्फूर्ति का अनुभव होगा।

भोजन भी दाँत और मसूड़ों के स्वास्थ्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जो भोजन अधिक शर्करायुक्त होता है, वह दाँत और मसूड़ों के लिए घातक है। शर्करायुक्त भोजन बहुत शीघ्रता से अम्ल में परिवर्तित होकर दाँतों की चमक को नष्ट कर देता है। भोजन में शर्करा की मात्रा कम कर दन्त विकारों को निश्चित रूप से रोका जा सकता है।

आवृत्ति– योगियों का मत है कि दिन में कम-से-कम तीन बार अन्दर-बाहर से मसूड़ों की मालिश होनी चाहिए, ताकि दोनों ओर की जड़ों पर, दोनों ओर के मसूड़ों पर दबाव पड़े। इस प्रकार जो खून मसूड़ों में जमा रहता है और शुद्ध नहीं होता, मालिश के कारण उसमें प्रवाह और संचार के उत्पन्न होने से उसके स्थान पर नया खून जाकर नाड़ी तन्तुओं को पुन: शक्तिशाली बनाता है। यह पहला निर्देश है। दूसरा निर्देश है– भोजन के पश्चात् जिस प्रकार हम हाथ धोते हैं, उसी प्रकार मुख प्रक्षालन भी होना चाहिए, कुल्ला करना चाहिए। भोजन के कण जो इधर-उधर चिपके रहते हैं, या किसी कोने में घुसे रहते हैं, उन्हें निकाल देना चाहिए। इसके बाद यदि आप किसी खाद्य पदार्थ को ग्रहण करें, चाहे वह एक बिस्कुट या एक मिठाई का टुकड़ा ही क्यों न हो, उसे खाने के बाद पानी पीना चाहिए, भले ही आप दो-तीन घूँट पीयें– यह आवश्यक है।

योग अभ्यास सीखने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों के लिए *'दन्तमूल धौति'* एक आवश्यक क्रिया है। इस विधि द्वारा योगी अपने दाँतों को स्वस्थ रखते हैं। अत: इस धौति का अभ्यास नियमित होना चाहिए।

सावधानी– मिट्टी अथवा कत्था एकदम बारीक चूर्ण की तरह हो। अन्यथा मसूड़े छिल कर घाव बन सकता है। दाँतों में पीब पड़ने तथा कीड़े लग कर छेद होने पर उचित ओषधीय चिकित्सा के उपरान्त इस अभ्यास को करें।

लाभ– प्रात:काल नित्यप्रति यह अभ्यास करने से दाँतों की रक्षा होती है।

2.(ख) जिहवाशोधन धौति

अथात: सम्प्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधन कारणम् ।
जरामरणरोगादीन्नाशयेद्दीर्घलम्बिका ॥28॥

अर्थ

अब जिह्वा शुद्धि का कारण बताता हूँ। यह दीर्घ लम्बिका कहलाने वाला प्रयोग जरा-मरण एवं रोगादि का नाशक है ॥28॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड जब *'जिह्वा-शोधन'* क्रिया का वर्णन करते हैं, तो उसका अर्थ होता है जीभ की स्वच्छता। जीभ की स्वच्छता ही *'जिह्वा-शोधन'* क्रिया या *'जिह्वमूल धौति'* कहलाती है।

इस प्रक्रिया द्वारा जिह्वा की लम्बाई बढ़ती एवं व्याधि, बुढ़ापा तथा मृत्यु को दूर भगाया जाता है। शरीर में निरन्तर कई तरह की रासायनिक क्रियाएँ होती रहती हैं। अनेक नयी कोशिकायें बनती एवं पुरानी का ह्रास होता है। शरीर के विभिन्न अंगों से अनावश्यक द्रव्य बाहर किये जाते हैं। जीभ पर जमी हुई प्रतिदिन की मोटी पीली परत वास्तव में शरीर से निकलने वाली अशुद्धि है। यह अशुद्धि कीटाणुओं की वृद्धि में सहायक होती है। ये कीटाणु भोजन के साथ शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और शरीर को रोगी बनाते हैं। अतः इन अशुद्धियों को प्रतिदिन जिह्वा धौति द्वारा दूर करना आवश्यक है।

तर्जनीमध्यमानामा अङ्गुलित्रययोगतः ।
वेशयेद्गलमध्ये तु मार्जयेल्लम्बिकामूलम् ।
शनैः शनैः मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ॥29॥
मार्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः ।
तदग्रं लोहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः ॥30॥
नित्यं कुर्यात्प्रयत्नेन वेरुदयकेऽस्तके ।
एवं कृते च नित्यं सा लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ॥31॥

अर्थ

तर्जनी, मध्यमा और अनामिका, तीनों अंगुलियों को मिलाकर कण्ठ में डाल जिह्वा की जड़ को स्वच्छ करना चाहिए। धीरे-धीरे कोमलता से रगड़ने से कफ दोष का निवारण होता है। जब यह सफाई और रगड़ना हो जाय, तब जीभ में थोड़ा मक्खन लगा लें। पुनः दूध दुहने जैसी क्रिया करें। तत्पश्चात् लोहे की चिमटी से जीभ को पकड़कर बाहर खींचें। अभ्यास को प्रतिदिन सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय करने से जिह्वा की लम्बाई बढ़ जाती है ॥29-31॥

व्याख्या

विधि– जिह्वा पर मक्खन मलिये। तर्जनी, मध्यमा और अनामिका, तीनों अंगुलियों को एक साथ मिलाकर जीभ की जड़ तक गले में ले जायें और कुछ समय उस पर मालिश करें। तत्पश्चात् जीभ के दोनों बगल से अँगूठे तथा अंगुलियों की सहायता से दोहन क्रिया, अर्थात् दूध दुहने-सी क्रिया करें। मक्खन के कारण जिह्वा चिकनी हो जाती है और दोहन क्रिया सरल होती है।

आवृत्ति– इस क्रिया को सुबह-शाम सात से दस बार करिये।

सावधानियाँ– जीभ में छाले होने पर हलके से अभ्यास करें। नाखून बारीक कटे होने चाहिए, अन्यथा चोट लग सकती है। ज्यादा भीतर तक अंगुलियाँ घुसाने पर स्वर यन्त्र में चोट लग सकती है।

लाभ– इस क्रिया के द्वारा जिह्वा की मालिश होती है। गले और श्वास नली में जो श्लेष्मा एकत्र हो गया रहता है, वह साफ हो जाता है तथा कफदोष का निवारण होता है। जीभ एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका सम्बन्ध कई महत्त्वपूर्ण नाड़ियों से है। अधिकतर देखा जाता है कि जिह्वा के निष्क्रिय हो जाने पर मस्तिष्क एवं श्वसन क्रिया में भी शिथिलता आ जाती है। अत: जिह्वा की उचित देख-भाल की आवश्यकता है। दोहन क्रिया जीभ एवं नाड़ियों की स्वच्छता के लिए उत्तम साधन है।

लम्बी जीभ बोलने के लिए अधिक उपयोगी मानी गयी है। छोटी जिह्वा के कारण भाषण विकार पाये जाते हैं। जीभ की लम्बाई आवश्यकता की अपेक्षा कम होने पर स्पष्टतापूर्वक बोला नहीं जा सकता। जीभ के इस विकार को दूर करने की यह एक उत्तम विधि है।

दोहन क्रिया के पश्चात् एक जोड़ा साफ लोहे के चिमटे से जीभ को पकड़कर धीरे-धीरे बाहर की ओर खींचा जाता है। दो-तीन मिनट तक प्रतिदिन ऐसा करिये। हिचकी की बीमारी के लिए यह विधि उपचारात्मक है। यदि चिमटी न हो तो अँगूठे और अंगुलियों से पकड़ कर जिह्वा को खींचा जा सकता है।

इस अभ्यास से मांसपेशियाँ लचीली होती हैं। उचित व्यायाम उनका उचित दिशा में विकास करता है। हम अपने इच्छानुसार उन्हें आकार दे सकते हैं। अत: प्रतिदिन के अभ्यास से जिह्वा लम्बी हो जाती है। साधारणत: योग साधक की जीभ इतनी लम्बी हो कि वह भ्रूमध्य को स्पर्श कर सके, या कम-से-कम नासिका के सिरे को छू सके, ताकि वह विकार रहित हो। जिह्वा धौति एवं दोहन क्रिया द्वारा जिह्वा मजबूत होती है।

2.(ग) कर्णरन्ध्र धौति

कर्ण धौति का वर्णन दन्त धौति के अन्तर्गत आता है। यह दन्त धौति का तीसरा एवं चौथा प्रकार है। तरीका एक ही है, लेकिन महर्षि घेरण्ड ने दो कानों के लिए उन्हें क्रमश: क्रमांक 3 और क्रमांक 4 की प्रक्रिया मानी है।

तर्जन्यनामिका योगान्मार्जयेत्कर्णरन्ध्रयोः ।
नित्यमभ्यास योगेन नादान्तरं प्रकाशयेत् ॥32॥

अर्थ

तर्जनी और अनामिका को मिलाकर योगीजन दोनों कानों के छिद्रों की सफाई करते हैं। इस योग विधि के नित्य अभ्यास से नाद की अनुभूति होती है ॥32॥

व्याख्या

तर्जनी और अनामिका अंगुलियों से कान के छिद्रों को साफ करने की विधि को कर्ण धौति कहते हैं। कर्णछिद्रों की सफाई के तो अनेक वैज्ञानिक तरीके आज सामने आ चुके हैं। कई कम्पनियाँ प्लास्टिक की सीक में रुई लगाकर बेचती हैं। किन्तु योग कहता है कि सफाई अंगुली से ही होनी चाहिए, क्योंकि अंगुली में एक विशेषता होती है, जो किसी सीक या माचिस की तीली में नहीं होती। सीक या तीली तो बहुत पतली होती है। यदि गलती से अन्दर घुस जाये तो कान के पर्दे फट सकते हैं। लेकिन अंगुली तो उतनी अन्दर घुसेगी नहीं कि आपके कान के पर्दे फटें और उतना अन्दर जाने की आवश्यकता भी नहीं है, जब तक कान में कोई रोग, फुन्सी या फोड़ा न हो। चिकित्सक तो पानी से धो देते हैं। पिचकारी से पानी अन्दर डालते और फिर खींच लेते हैं।

कर्ण की रचना शंखाकृत है। कान के बाहरी भाग से दिखने वाले छिद्र से एक नली सीधे मस्तिष्क से सम्बन्धित भीतरी कान में जाती है। यह नली डेढ़ इन्च लम्बी है। इस नलिका में कोमल छोटे-छोटे केश होते हैं, जो बाहरी वायु में रहने वाले सूक्ष्म कीटाणु को कान के भीतरी भाग एवं मस्तिष्क में प्रवेश करने से रोकते हैं। इस नली में छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनसे मोम जैसे पदार्थ का स्राव होता रहता है। जो कृमि और गन्दगी कानों में प्रवेश करती है, वह छोटे केशों द्वारा रोक दी जाती है और वह मोम के साथ चिपक जाती है। इस विशेष प्रबन्ध से कानों के स्वर यन्त्र की रक्षा होती है। परन्तु ध्वनि तरंग के स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित होने के लिए आवश्यक है कि इस नलिका में जमे मल का निष्कासन होता रहे, क्योंकि कभी-कभी ग्रन्थियाँ अधिक मात्रा में मोम पैदा करती हैं, जिनसे कर्ण छिद्र बन्द हो जाते हैं अथवा सफाई समय पर न होने से मैल अधिक मात्रा में जमा

हो जाता है, जिससे सुनने की क्रिया में बाधा पहुँचती है और स्वर यन्त्र भी कमजोर पड़ जाते हैं।

विधि– अंगुली को गीला कर लें, ताकि वे ठीक से कर्णनली के मुहाने पर चिपक जायें। तदुपरान्त अंगुलियों को धीरे-धीरे दबाव के साथ अन्दर डालें और गोलाकर घुमाते हुए कान के भीतर ले जाने का प्रयास करें। एक सीमा तक जाकर फिर उन्हें गोलाकर घुमाते हुए बाहर खींच लें, ताकि अन्दर निर्वात बन कर चूषण हो सके। सप्ताह में एक बार तिल्ली या किसी खाद्य तेल में लहसुन की दो कली डालकर उबालें और कपास का फोआ बनाकर कानों में दो-चार बूँद डालें। उसके बाद थोड़ी देर कानों को कपास से बन्द रखें। उससे मैल एवं मोम फूल जाते हैं तथा अंगुली से साफ करने पर तुरन्त मैल साफ हो जाता है।

लाभ– कानों की भीतरी सतह पर लगातार मोम की तरह मैल बनता रहता है। यदि इसकी नियमित सफाई न हो तो मैल के टुकड़े जम कर कानों को बन्द कर देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप भीतर में फफूंद संक्रमण तथा बहरापन उत्पन्न हो जाता है। योगियों का मत है कि जब हम अपनी अंगुली को कान में डालकर तीव्रता से हिलाते हैं, तब जो मैल निकलता है वह अंगुली में चिपक कर बाहर निकल आता है। यह क्रिया चाहे किसी अंगुली से कर सकते हैं; चाहे तर्जनी से करें या अनामिका से। कान एक लाउड स्पीकर की भाँति है। यदि आप शरीर विज्ञान में कान की रचना को देखेंगे, तो वह ठीक लाउड स्पीकर के समान दिखायी देगा।

अंगुली को जल्दी-जल्दी हिलाने से अन्दर की रक्त वाहिनियों में रक्त का संचार होता है, जो किसी सींक से नहीं हो सकता। जब अन्दर रक्त संचार तीव्र होता है, तब बहुत-सी बीमारियाँ भी, जो कान के भीतर उत्पन्न होती रहती हैं, नहीं होतीं। साथ-ही-साथ अंगुलियों की बनावट ही इस प्रकार की है कि अन्दर जाकर वे एक प्रकार का शून्य उत्पन्न करती हैं। यदि आप अपने कानों को ठीक प्रकार से बन्द करें, तो शून्य उत्पन्न होता है; हवा का दबाव पड़ता है; हवा पार नहीं होती और उस शून्य में फिर एक चूषण की क्रिया होती है, जो धीरे-धीरे अन्दर के मैल को बाहर की ओर खींचने लगती है। कान की त्वचा से परानुकम्पी वैगस नाड़ी का सम्बन्ध होता है, जो भीतरी अंगों को शिथिल एवं सुचारु रूप से कार्यरत बनाती है। इस प्रक्रिया से स्वैच्छिक तन्त्रिका-तन्त्र में सन्तुलन आता है।

योगियों के मत के अनुसार कर्णछिद्रों की सफाई के लिए तर्जनी या अनामिका का ही प्रयोग करना चाहिए। जब कान साफ रहता है, तब श्रवण इन्द्रियों में तीव्रता आ जाती है, क्योंकि कान की सफाई का सम्बन्ध हमारी श्रवण इन्द्रिय के साथ है। श्रवण इन्द्रिय तीव्र होती है; सुनने की क्षमता बढ़ती है और धीरे-धीरे साधक अपने भीतर उत्पन्न नाद को सुनने में सक्षम हो जाता है। *'नित्यं अभ्यास योगेन नादान्तरं प्रकाशयेत्'*– नित्य अभ्यास करने से नाद (ध्वनि) सुनायी देता है।

नाद योग– योग के अन्तर्गत, नादयोग एक स्वतन्त्र शाखा है। नादयोग का अर्थ होता है, भीतर में उत्पन्न नाद या ध्वनि को सुनना। यह धारणा और ध्यान की एक अवस्था है। जब हमारे कानों में मैल जमा होता है तब बाहर की आवाजें कम सुनायी देती हैं। यह तो एक बाह्य शारीरिक लक्षण है, लेकिन योगियों का कहना है कि इसके साथ-ही-साथ श्रवण इन्द्रियों की शक्ति में भी कमी आती है। योगियों के मत और नादयोग के सिद्धान्त के अनुसार श्रवण इन्द्रियाँ केवल बाह्य आवाजों को ग्रहण नहीं करतीं, बल्कि शरीर के भीतर उत्पन्न सूक्ष्म आवाजों को भी सुनती हैं। श्रवण शक्ति के अभाव के कारण हम अपने भीतर की सूक्ष्म आवाजों को नहीं सुन पाते। केवल स्थूल आवाजें सुनायी पड़ती हैं। लेकिन जब साधना-मार्ग में व्यक्ति आगे बढ़ता है, धारणा या ध्यान की अवस्था को प्राप्त करता है तब सूक्ष्म आन्तरिक आवाजें भी सुनायी देती हैं और व्यक्ति उन आवाजों को पकड़कर चेतना की गहराई में प्रवेश करता है। यह नादयोग की एक विधि है।

जो नादयोग के अभ्यास से परिचित हैं, सम्भवत: उन्हें यह ज्ञान होगा, यह अनुभव होगा कि सबसे पहले हम शरीर के भीतर उत्पन्न शारीरिक ध्वनियों को सुनते हैं, जैसे– श्वास की ध्वनि, रक्त संचार की ध्वनि, दिल की धड़कन इत्यादि। उनको सुनते-सुनते चेतना की एक ऐसी अवस्था में पहुँचते हैं, जहाँ पर हमें विभिन्न आवाजें सुनायी देने लगती हैं। कभी घण्टी की आवाज सुनायी देती है; कभी शंख की ध्वनि सुनायी देती है; कभी बांसुरी की आवाज सुनायी देती है; कभी किसी झरने की आवाज सुनायी देती है। ये आवाजें बदलती रहती हैं। सूक्ष्म आवाजों में परिवर्तन होता है। सूक्ष्म अवस्था में हम स्थूल ध्वनि के पार जाते और सूक्ष्म अवस्था में ही अति सूक्ष्म ध्वनियों को सुनते हैं। जैसे-जैसे हमारी एकाग्रता बढ़ती है; हम गहराई में जाते हैं, वैसे-वैसे नाद को (जिसने हमारे शरीर को बनाया है, या जोड़ा है), अणु में

स्पन्दन की जो ध्वनि होती है, उसे हम सुन सकते हैं। यह है नाद योग का अभ्यास। चेतना को इतना सूक्ष्म बना देना कि नाद सुनायी दे। इसके लिए महर्षि घेरण्ड कर्णधौति की व्याख्या करते हैं।

2.(घ) कपालरन्ध्र धौति

> वृद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेण मार्जयेद्भालरन्ध्रकम् ।
> एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥33॥
> नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।
> निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने ॥34॥

अर्थ

अपने दाहिने हाथ की अंगुलियों को समेटकर एक कप की आकृति बनानी चाहिए और उस कप की आकृति वाले हाथ में पानी भरकर अपने कपालरन्ध्र में, ब्रह्मरन्ध्र में थपकी देनी चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से कफदोष से मुक्ति मिलती है। खोपड़ी के ऊपर जो नाड़ियाँ हैं, वे निर्मल बनती हैं और दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है। निद्रा की समाप्ति पर, भोजन करने के बाद और निद्रा के पहले तथा दिन की समाप्ति पर अपनी खोपड़ी को थपकी देनी है ॥33-34॥

व्याख्या

ब्रह्मरन्ध्र या कपालरन्ध्र, जो कि सिर के ऊपर का भाग है, वास्तव में एक द्वार है, दरवाजा है। यदि आप नवजात शिशु की खोपड़ी के इस भाग को छूकर देखेंगे, तो आपको एक गड्ढा दिखायी देगा। जैसे-जैसे हम बड़े होते हैं; शरीर बढ़ता है, वैसे-वैसे वह बन्द होने लगता है, किन्तु वह सहस्रार का क्षेत्र है।

योगी लोग जब अपने शरीर से प्राण त्याग करते हैं, तब सच्चा योगी यहीं से, अर्थात् सहस्रार चक्र से अपने प्राणों को निकालता है। इसका तात्पर्य है, जीवनीशक्ति ब्रह्मरन्ध्र में समाप्त होती और उसी से शरीर में प्रवेश करती है। ब्रह्मरन्ध्र शरीर के विकास के साथ धीरे-धीरे बन्द होता है। योगी कहते हैं कि ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार है। मस्तिष्क की जितनी संवेदनशील नाड़ियाँ हैं, वे इसी क्षेत्र में अवस्थित हैं।

विधि– दाहिने हाथ की अंगुलियों तथा अँगूठे को जोड़कर हथेली को कपनुमा आकृति में बना लें। फिर हाथ में पानी लेकर सिर को सामने झुकाते हुए सिर के ऊपरी हिस्से में पानी के छपके मारें, ताकि ब्रह्मरन्ध्र का हिस्सा गीला हो तथा हथेली से उस पर 3-4 बार थपकी लगे। इसी प्रक्रिया को पुन: 4-5 बार दुहराइये।

अत: ब्रह्मरन्ध्र की सफाई ही इस धौति क्रिया का उद्देश्य है, यह न मानकर यदि यह कहा जाये कि ब्रह्मरन्ध्र में शीतलता या ठण्ढक पहुँचाना इस धौति क्रिया का उद्देश्य है, तो ज्यादा मान्य होगा, क्योंकि यदि हमारे शरीर का यह भाग ठण्ढा रहे, तो इसमें स्फूर्ति और ताजगी का अनुभव होता है। आप सिर धोते हैं, तो आपको अच्छा लगता है। यदि आप अपने सिर पर पानी डालते हैं, तो ताजगी का अनुभव होता है; चाहे गरमी का मौसम हो या ठण्ड का, सभी मौसमों में ऐसा होता है। कपालरन्ध्र धौति से हम अपने मस्तिष्क को ठण्ढक और शीतलता प्रदान करते हैं, जिससे कि हम ताजगी और स्फूर्ति का अनुभव करें। एक बात यहाँ पर स्पष्ट नहीं है कि सिर पर बाल रहने चाहिए या नहीं, क्योंकि अगर बाल रहते हैं तो पानी चमड़ी तक नहीं पहुँचता, जब तक आप उसे पूरा गीला न करें। बाल एक तरह का अवरोध बन जाता है, पानी को अन्दर नहीं जाने देता।

आवृत्ति– यह क्रिया दिन में तीन बार करनी चाहिए। प्रात:काल उठने पर, भोजन के बाद, अर्थात् मध्याह्न बारह बजे के लगभग और संध्या को।

सिर में जो गरमी उत्पन्न होती है, जिसे हम लोग कहते हैं आदमी का सिर गरम हो गया, वह गरमाहट इस क्रिया से दूर हो सकती है और उसके पश्चात् शीतलता का अनुभव होता है। इस सहस्त्रार चक्र की सुरक्षा के लिए, यदि दिन में तीन बार सम्भव न हो, तो कम-से-कम एक बार, नहाते समय तो इस अभ्यास को अवश्य कर लेना चाहिए।

लाभ– महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि इस क्रिया से मस्तिष्क ठण्ढा तो होगा ही, मोतियाबिन्द में भी लाभ पहुँचेगा। जो लोग चश्मा लगाते हैं, उनके लिए भी यह अभ्यास बहुत अच्छा है। आँखों के दोष को दूर करने के लिए; उच्च रक्तचाप को कम करने के लिए; सर्दी और खाँसी से बचाव के लिए इसका अभ्यास करना चाहिए। यह प्रयोग उच्च रक्तचाप में करके देखा भी गया है। उच्च रक्तचाप के रोगी यदि दवाई के बदले ठण्ढे पानी के साथ पर्याप्त मात्रा में अपने सिर को थपथपी देते हैं, तो उन्हें बहुत लाभ होता है।

3. हृद्धौति

हृद्धौतिं त्रिविधां कुर्याद्दण्डवमनवाससा ॥35॥

अर्थ

हृद्धौति के तीन भेद हैं–दण्ड धौति, वमन धौति और वसन धौति अर्थात् वस्त्र धौति ॥35॥

व्याख्या

हृद् का अर्थ है हृदय; धौति का अर्थ है स्वच्छता। हृदय की सफाई की यह क्रिया हृद्धौति कहलाती है। हृदय प्रदेश की सफाई में अन्न नलिका, फेफड़े और पेट (आमाशय) तीनों का वर्णन किया जाता है। अन्न नलिका की सफाई करना तो सरल है; पेट की सफाई भी सरल है, लेकिन फेफड़ों की सफाई कैसे की जाये?

यहाँ पर हृद्धौति का जो तरीका बतलाया गया है, वह है–छाती में एक शून्य उत्पन्न करना, जिसके द्वारा हमारे फेफड़े अपने भीतर एकत्र कफ और अशुद्ध तत्त्वों को बाहर निकाल सकें। श्वसन नली से भी इन्हें बाहर निकालें। इन तीन प्रक्रियाओं के समूह को हृद्धौति नाम दिया गया है।

हृद्धौति का अभ्यास तीन प्रकार से किया जा सकता है। पहला प्रकार है–दण्ड धौति; दूसरा प्रकार है–वमन धौति और तीसरा प्रकार है–वस्त्र धौति। दण्ड धौति के लिए बेंत, केले का डण्डा और हल्दी का पतला तना, इन तीनों का प्रयोग किया जाता है। वस्त्र धौति के लिए कपड़े का प्रयोग किया जाता है।

3.(क) दण्डधौति

रम्भादण्डं हरिद्दण्डं वेत्रदण्डं तथैव च ।
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेच्छनैः ॥36॥
कफं पित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्ववर्त्मना ।
दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद् ध्रुवम् ॥37॥

अर्थ

केले के मृदु भाग के डण्डे, हल्दी के डण्डे या बेंत को हृदय के मध्य बार-बार घुसा कर धीरे-धीरे निकालना चाहिए। फिर कफ, पित्त, क्लेद का मुख द्वार से रेचन करना चाहिए। यह कर्म हृदय रोग का भी निश्चित रूप से नाश कर देता है ॥36-37॥

व्याख्या

विधि– केले के डण्डे, हल्दी के डण्डे या बेंत को हृदय के मध्य में डालकर उसको चलाना है। इसका एक तरीका होता है। हठयोगी इसका अभ्यास करते हैं। केले के तने को छीलते हैं और लगभग आधा इन्च व्यास का डण्डा बनाते हैं। यह इस बात पर निर्भर है कि लोगों का गला कितना बड़ा है। सामान्यत: यह चार-पाँच इन्च लम्बा होता है। केले या हल्दी के पतले तने को लेकर पानी में उबाल देते हैं, जिससे यह नरम हो जाता है।

केले और हल्दी के डंठल के अतिरिक्त बेंत का भी प्रयोग कर सकते हैं। बेंत को अच्छी तरह साफ कर देते हैं। यह भी बहुत पतला होना चाहिए। इसे हाथ में लेकर हठयोगी सिर को ऊपर करते हैं। जब सिर को ऊपर करते हैं, एक विशेष स्थिति में लाते हैं, तब अन्न नलिका सीधी हो जाती है। जैसे, सर्कस आदि में देखते हैं, लोग सिर को ऊपर उठाकर तलवार को मुँह के भीतर घुसा देते हैं, उसी प्रकार हठयोगी डंठल को घुसाता है। उस डंठल को छोड़ना नहीं, पकड़े रहना है। उसे पकड़ कर आप जितना अन्दर डाल सकते हैं, डालिये और कुछ समय तक उसे थोड़े-से कम्पन के द्वारा गर्दन में हिलाइये। उससे वमन की इच्छा उत्पन्न होती है। फिर डण्डे को निकाल देते हैं और उसके साथ-साथ जो निकलता है, चाहे कफ हो, चाहे पित्त हो, चाहे श्लेष्मा हो, उसे बाहर थूक देते हैं। यह है दण्ड धौति का अभ्यास। इसमें एक कार्य और भी करते हैं, वह है– डण्डे में घी लगा देना, ताकि वह गले में आसानी से सरके। उसको ठेलना नहीं, नहीं तो गले में खरोंच आ जायेगी। इस अभ्यास को करने के लिए सबसे पहले कुम्भक सिद्ध होना चाहिए। जब तक आप श्वास लेते रहेंगे, यह अभ्यास होगा नहीं, क्योंकि गला फैलेगा और संकुचित होगा। श्वसन नलिका फैलेगी और संकुचित होगी। श्वास को अन्दर रोक कर डण्डे को अन्दर डाला जाता है। डॉक्टर भी ऐसा करते हैं। उनके पास प्लास्टिक की एक समतल चीज होती है, जिसे जीभ के ऊपर रख कर गले के भीतर ले जाते हैं। उससे भी वमन की इच्छा होती है।

लाभ– इस क्रिया के द्वारा कफ, पित्त और क्लेद बाहर निकल जाते हैं। क्लेद का अर्थ होता है श्लेष्मा। कफ, पित्त और श्लेष्मा रेचक क्रिया के साथ, अर्थात् जब हम श्वास को छोड़ते हैं, तब बाहर निकलते हैं। पहले कुम्भक किया, फिर कुम्भक में डण्डे को धीरे-धीरे घुमाया, जिससे वमन की इच्छा हुई। डण्डे को निकाला और उसके बाद खाँस कर कफ, पित्त और श्लेष्मा को बाहर थूक दिया।

कफ और श्लेष्मा में बहुत सूक्ष्म अन्तर है। श्लेष्मा उसे कहते हैं, जो ऊपर के भाग में रहता है और कफ वह चिकना पदार्थ है, जो पूरी अन्न नलिका में, पेट में व्याप्त है। इसे चिकनाई भी कहते हैं। ऊर्ध्व रेचक के साथ, अर्थात् बाहर निकलती हुई श्वास के साथ वायु, श्लेष्मा और पित्त बाहर निकलते हैं। इनके बाहर निकलने के कारण हृदय रोग समाप्त होता है।

यह बहुत कठिन क्रिया है, क्योंकि अन्न नलिका की आन्तरिक दीवारें कफ, पित्त और श्लेष्मा से आच्छादित रहती हैं। जब ये भीतर में जमने लगते हैं, तब बहुत बार हृदय और फेफड़ों पर इनका प्रभाव पड़ता है। श्वास लेने की क्षमता कम हो जाती है। श्वास लेते समय घरघराहट की आवाज होने लगती है। बहुत बार जब वह जमने लगता है तो वही पदार्थ फेफड़ों के भीतर प्रवेश करने लगता है और फेफड़ों के रोग भी उत्पन्न होने लगते हैं। अत: यह विधि भले ही हर एक व्यक्ति के अभ्यास योग्य नहीं है, लेकिन मात्र एक विधि मान कर इसका वर्णन किया गया है। इसका अन्य रूप है–वमन धौति, जिसे हम कुंजल क्रिया कहते हैं।

3.(ख) वमन धौति

भोजनान्ते पिबेद्वारि चाकण्ठं पूरितं सुधीः ॥38॥
उर्ध्वां दृष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत्पुनः ।
नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत् ॥39॥

अर्थ

ज्ञानी साधक को भोजन के अन्त में कण्ठ पर्यन्त जल पीना और फिर क्षण भर बाद ऊपर की ओर देखते हुए उसे वमन द्वारा निकाल देना चाहिए। इस प्रयोग से कफ और पित्त का निवारण होता है ॥38-39॥

व्याख्या

वमन धौति के दो प्रकार होते हैं। पहले प्रकार के अभ्यास को खाली पेट किया जाता है और दूसरे को भोजन के बाद। वमन धौति के प्रथम प्रकार को कुंजल क्रिया और द्वितीय को व्याघ्र क्रिया कहते हैं। कुंजल क्रिया का अभ्यास सामान्य और स्वस्थ व्यक्ति के लिए है। व्याघ्र क्रिया का अभ्यास रोग की अवस्था में करना चाहिए, जब पेट में तकलीफ हो। उपर्युक्त मन्त्र में व्याघ्र क्रिया का वर्णन किया गया है।

1. कुंजल क्रिया– यह क्रिया आमाशय से मुँह तक अन्न नली की सफाई करती है। इसका अभ्यास खाली पेट किया जाता है और सुझाव दिया जाता है कि प्रातःकाल नाश्ते के पूर्व इसका अभ्यास किया जाये। इसमें नमकीन कुनकुना पानी पीकर मुँह से उसका वमन कर दिया जाता है। यह क्रिया पाचन क्रिया में बहुत सहायक होती हैं तथा शरीर के कार्य को सन्तुलित रखती है।

पाचन प्रणाली– जो अन्न हम खाते हैं, वह सर्वप्रथम मुख गह्वर में चबाया जाता है, जिससे लार के साथ मिलकर लुगदी जैसी बनती है। लार कार्बोहाइड्रेट को पचाने में सहायक होती है। यहाँ से भोजन गले के नीचे पेट तक जाने वाली अन्न नलिका में उतरता है। हमारा जठर एक थैले जैसा अंग है। यह पसलियों के नीचे की ओर स्थित लम्बा और लचीला होता है तथा जब हम भोजन करते हैं तो यह फैलता है। यह मोटी मांसपेशी की दीवार से बना है, जो कि पाचन-प्रणाली के अन्य अंगों में सबसे मोटी होती है।

जठर का कार्य है अन्न को छोटी आँत में भेजने के पूर्व अच्छी तरह टुकड़े करके मथ देना। इसकी मोटी दीवार में लगभग 35,000,000 ग्रन्थियाँ हैं, जिनसे पाचक रसों का स्राव होता रहता है। प्रतिदिन औसतन कुछ लीटर रस स्राव भोजन के पाचन के प्रयोग में आता है। इसमें हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की मात्रा अधिक होती है, जो जीवन-सत्व को विभाजित करता है। इनकी अधिकता कभी-कभी अल्सर तथा अति अम्लता नामक रोगों को जन्म देती है।

भोजन कुछ समय तक आमाशय में रहता है। यह समय भोजन के प्रकार पर निर्भर है। सरल सुपाच्य भोजन कम समय तक रहता है। भोजन को उसकी जटिलता के अनुसार छोटी आँत के ऊपरी भाग पक्वाशय में अधिक अच्छी तरह पीसा जाता है। जब भोजन छोटी आँत में भेजने लायक नरम हो जाता है, तो उसे छोटी आँत में भेज दिया जाता है। छोटी आँत में भोजन के पाचन के बाद अनुपयोगी पदार्थ मल द्वार से बाहर फेंक दिये जाते हैं।

उपर्युक्त विधि से भोजन नीचे उतरता है। इसके जाने के मार्ग को स्वच्छ एवं स्वस्थ रखना चाहिए। यह मार्ग खुला एवं स्वस्थ नहीं रहेगा तो भोजन पाचन में कठिनाई होगी तथा रोगों का कारण बनेगा। कुंजल क्रिया इस मार्ग की स्वच्छता एवं स्वास्थ्य के लिए बहुत उपयोगी है, अतः जिन्हें पेट सम्बन्धी रोग हैं, उनके लिए यह विशेष लाभकारी है।

पूर्व तैयारी–हाथों को अच्छी तरह धो लें। नाखून बारीक कटे हों। गर्म पानी में एक चम्मच प्रति लीटर के हिसाब से नमक तथा ठण्ढा पानी मिलाकर

नमकीन, कुनकुना पानी तैयार करें। पानी शरीर के तापमान के बराबर गर्म होना चाहिए। योग की मान्यता है कि अगर पानी कुनकुना हो और उसमें थोड़ा नमक मिला हो तो शरीर की मांसपेशियाँ पानी को ग्रहण नहीं करेंगी। जो पानी पेट में रह जाता है, या जो यकृत में चला जाता है, वह तो मूत्र-मार्ग से बाहर निकल जायेगा और उसके साथ नमक का कुछ अंश भी निकल जायेगा। कुछ अंश जो शरीर में बचा रहता है वह पसीने के माध्यम से बाहर निकल जायेगा।

स्थिति– सीधे खड़े होकर सामने झुकें। धड़ एवं सिर जमीन के समानान्तर रहें। इस स्थिति में पेट से पानी बाहर निकालने में सुविधा होती है।

विधि–सीधे खड़े होकर जल्दी-जल्दी एक गिलास पानी पीयें। शीघ्रता से एक और गिलास पानी पीयें। इस प्रकार पानी पीते जायें जब तक यह न लगने लगे कि और नहीं पी सकते। फिर एक और गिलास पानी पीयें। यह सम्भवत: कठिन लगे, किन्तु पेट को यथासम्भव पूरी तरह भरना आवश्यक है। औसतन छ: गिलास पानी पेट को भरने के लिए पर्याप्त होता है। जब पेट भर जाये, पानी को बाहर निकालने की इच्छा होने लगे या स्वत: वमन करने की इच्छा हो जाये, तो सामने झुकें, धड़ जमीन के समानान्तर रहे। फिर मुँह खोलकर दो-तीन अंगुलियों को जीभ के ऊपर रखें। जिह्वा मूल को दबाते हुए अंगुलियों को जीभ के ऊपर धीरे-धीरे आगे-पीछे करें। इससे पानी बिना प्रयास के पेट से बाहर निकल आता है। यदि पानी बाहर नहीं आता तो इसका अर्थ है



कि अंगुलियों का अग्रभाग गले के भीतर पर्याप्त दूरी तक नहीं गया है या आप जिह्वा मूल को नहीं दबा रहे हैं। शरीर को शिथिल कर जल को स्वतन्त्रतापूर्वक बाहर आने दें। पानी का वमन करते समय अंगुलियों को मुँह से बाहर निकाल लें। जब पानी बाहर आना बन्द हो जाए, तो अंगुलियों को पुन: मुँह के भीतर ले जायें और पुन: वही क्रिया तब तक दोहरायें जब तक पेट पूरी तरह खाली न हो जाए। इसके पश्चात् यदि आवश्यक लगे तो नासिका को साफ करने के लिए जल नेति का अभ्यास करें।

समय एवं आवृत्ति– यदि मौसम ठण्ढा हो तो इस क्रिया का अभ्यास बाहर खुले में नहीं करना चाहिए, क्योंकि कुंजल क्रिया आमाशय से श्लेष्मा की पर्त को हटा देती है। इस प्रकार आमाशय अस्थायी रूप से ठण्ढ के प्रति ज्यादा ग्रहणशील हो जाता है। लेकिन कुछ समय पश्चात् श्लेष्मा की पर्त पुन: निर्मित हो जाती है और आमाशय को आवश्यक सुरक्षा प्रदान करती है। कुंजल क्रिया के लिए सर्वोत्तम समय है– सुबह नाश्ते के पूर्व। कुंजल करने के आधे घण्टे बाद ही कुछ खाना-पीना चाहिए। इससे आमाशय को विश्राम करने तथा पुनर्व्यवस्थित होने के लिए पर्याप्त समय मिल जायेगा।

सावधानियाँ– भोजन के बाद कम-से-कम चार घण्टे तक कुंजल क्रिया न करें। इससे आमाशय को अपने कार्यों को पूरा करने तथा अपने को खाली करने का पर्याप्त समय मिलेगा। इस अभ्यास से रक्तचाप में वृद्धि होती है। इसीलिए यह सुझाव दिया जाता है कि उच्च रक्तचाप से पीड़ित व्यक्तियों को कुंजल, शंख प्रक्षालन इत्यादि अभ्यास, जिनमें कुनकुने नमकीन पानी का प्रयोग होता है, नहीं करने चाहिए। पेट या आमाशय के अल्सर, हर्निया तथा हृदय सम्बन्धी किसी व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति इसे न करें। यद्यपि कुंजल क्रिया आमाशय से अति अम्लता को दूर करती है, फिर भी हम इस रोग में कुंजल करने की सलाह नहीं देते, क्योंकि इससे लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

इस अभ्यास को बिना सीखे या बिना प्रत्यक्ष निर्देशन के नहीं करना चाहिए, वरना बहुत बुरी हालत हो जाती है। मैं आपको एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त बतलाता हूँ। भिलाई में एक शिष्या है। यहाँ आकर उसने प्रारम्भिक शिक्षा ही ली थी और उसे षट्कर्म के अभ्यास नहीं सिखलाये गये थे। घर में बैठकर वह पुस्तक पढ़ रही थी, उसने कुंजल के बारे में पढ़ा और अपने आप कुंजल का अभ्यास शुरू किया।

एक दिन उसने पानी पी लिया। अंगुली डालकर पानी निकालने का प्रयत्न किया, लेकिन पानी बाहर नहीं निकला। पेट खाली हो गया और पानी उसकी छाती में जम गया। उसे अस्पताल ले जाना पड़ा, क्योंकि उसने इतना जोर लगाया कि अन्न नलिका फट गयी और पानी फटे हुए स्थान से बाहर निकल कर मांसपेशियों और शरीर में फैल गया। मुँह से एक बूँद भी नहीं निकला। फिर शल्य-क्रिया करके पानी को निकाला गया। अब, यह कुंजल क्रिया कितनी सरल है, लेकिन उसे भी यदि व्यक्ति ठीक से न करें, तो हानि हो सकती है, होती है। सावधानी न रखने से किसी भी यौगिक क्रिया में खतरे की सम्भावना रहती है। इसलिए कोई योगाभ्यास बिना सीखे नहीं करना चाहिए।

लाभ– कुंजल क्रिया स्वस्थ व्यक्ति के लिए, उसके शरीर को विकार रहित रखने के लिए उपयोगी मानी गयी है। शरीर की क्षमता और स्वास्थ्य को देखते हुए इस अभ्यास को सप्ताह में दो-तीन बार करना चाहिए। कफ एवं पित्त से पीड़ित व्यक्तियों के लिए तो यह विशेष लाभदायक है।

कुंजल क्रिया से मुँह और आमाशय की उचित सफाई होती है। अत: यह शरीर के इस भाग में विषाक्त पदार्थों और साधारण अशुद्धियों के संग्रह से होने वाले रोगों के निदान तथा रोकथाम में सहायक है। यह क्रिया श्वास की दुर्गन्ध, गले के बलगम तथा गले की पीड़ा को भी दूर करती है। नमक मिश्रित जल आमाशय में ग्रन्थियों द्वारा होने वाले अम्ल स्राव को कम करता है। इससे आमाशय की कार्यकुशलता सामान्य की अपेक्षा बढ़ जाती है और भोजन का पाचन भी अच्छी तरह होता है। पित्त दोष से ग्रस्त व्यक्तियों को भी इस क्रिया से राहत मिलती है।

दमा के रोगी को इस क्रिया से अत्यधिक आराम मिलता है। कुंजल के दौरान दमा के रोगी द्वारा निष्कासित श्लेष्मा इसकी पुष्टि करता है। दमा के रोगियों को दौरा पड़ने के समय कुंजल का अभ्यास करना चाहिए। इस अवस्था में बेहतर परिणामों की प्राप्ति के लिए आमाशय को पूर्ण रूप से जल से भरना आवश्यक है। इसके पश्चात् जब व्यक्ति वमन करना प्रारम्भ करता है तो दमा के दौरे के कारण सख्त एवं संकुचित श्वास नली विश्रान्त हो जाती है, इससे शीघ्र ही आराम मिलता है।

2. *व्याघ्र क्रिया* – *विधि* – भोजन के बाद पानी को पीकर, कण्ठ तक पूरा भर लेना है। कुछ क्षणों के लिए अपनी दृष्टि को ऊपर करना है और उसके बाद पानी को बाहर निकाल देना है। यह है व्याघ्र क्रिया, जो प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर

सकता और करना भी नहीं चाहिए। यहाँ पर व्याघ्र क्रिया को बतलाने का एक ही उद्देश्य हैउस अन्न को बाहर निकालना जो पचा न हो।

योग शास्त्र कहता है कि भोजन करने के तीन घण्टे के भीतर वह पच जाना चाहिए। तीन घण्टे के बाद भी अगर भोजन न पचा हो, तो वह अपाच्य है। वह पच नहीं सकता। उसे बाहर निकाल देना चाहिए। जानवर भी इस अभ्यास को करते हैं। शेर, बाघ और कुत्ते भी ऐसा करते हैं। खा लेते हैं, और उसके बाद जो अपाच्य है, उसे बाहर निकाल देते हैं। भोजन करने के पश्चात्, विशेषकर जिनका पेट खराब रहता है, अपच की बीमारी है, उन्हें यह अभ्यास करना चाहिए। यदि अपाच्य अन्न पेट में रह जाये तो वायु विकार उत्पन्न होता है। जैसे, डकार आना, श्वास में बदबू आना, पेट में कीटाणुओं का उत्पन्न होना, इत्यादि। यह तो सामान्य अवस्था है, जिसको हम अनुभव करते हैं, लेकिन अगर यह शिकायत बढ़ती जाये, तो अन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

इस मन्त्र में महर्षि घेरण्ड का उद्देश्य यह बतलाना है कि भोजन के तीन घण्टे बाद, अपाच्य भोजन को शरीर से बाहर कर देना चाहिए, क्योंकि जो नीचे आँत में चला गया है, वह तो गुदाद्वार से बाहर निकल जायेगा, लेकिन अपाच्य विषाक्त तत्त्व पेट में रह जायेंगे, उन्हें एकत्र नहीं होने देना चाहिए।

हठ योगी इस विधि का अभ्यास करते भी हैं। भोजन के तीन घण्टे बाद, जिस प्रकार से कुंजल का अभ्यास करते हैं, ठीक उसी प्रकार अंगुली डालकर अपाच्य अन्न का वमन कर देते है। इसे कुछ लोग अन्न वमन धौति भी कहते हैं। यह अन्न को बाहर निकालने की प्रक्रिया है। यह भी सुझाव दिया जाता है कि व्याघ्र क्रिया करने के बाद थोड़ा (20 या 25 मिनट) रुककर कोई हलका और नरम पदार्थ पेट में डालना चाहिए। जैसे, दूध या दूध से बनी पतली खीर।

आवृत्ति– इस क्रिया को कम-से-कम सप्ताह में एक बार तो अवश्य करना चाहिए, ताकि हमारा पेट विकार रहित रहे, उसमें कीटाणु उत्पन्न न हों, वह किसी प्रकार के विषाक्त तत्त्व, वायु विकार या पित्त विकार या अपाच्य भोजन के कारण और अधिक दूषित न हो।

सावधानियाँ–यह सुझाव नहीं दिया जाता कि आप रोज खाने के बाद, सुबह-शाम व्याघ्र क्रिया करें। इससे हानि भी हो सकती है। इसलिए सुझाव दिया जाता है कि सप्ताह में एक बार करें और 25-30 मिनट के बाद कोई

हलका तरल पदार्थ लें, क्योंकि आप व्याघ्र क्रिया के क्रम में पेट के स्वभाव के विपरीत कर्म कर रहे हैं।

एक बार जब भोजन पेट में चला जाता है तब पेट और अन्न नलिका के बीच जो दीवार है, वह स्वत: बन्द हो जाती है और हमारी पूरी शक्ति पाचन-प्रक्रिया में केन्द्रित हो जाती है। इसका उद्देश्य होता है, अन्न को पचाकर आँतों में भेज देना। योगियों के मतानुसार मल निष्कासन का कार्य अपान वायु द्वारा संचालित होता है। पाचन क्रिया को अपान वायु का कर्म माना गया है। पाचन के समय शरीर की सभी शक्तियाँ अन्न को आँतों में भेजने के लिए केन्द्रित हो जाती हैं। उस समय अगर हम विपरीत कर्म करें, तो हानि हो सकती है। कभी-कभी छाती में थोड़ा धक्का लग सकता है; जलन का अनुभव हो सकता है, क्योंकि सभी प्रकार के पाचन रस पेट में केन्द्रित रहते हैं। अम्लता का अनुभव भी हो सकता है।

लाभ– व्याघ्र क्रिया आँतों को न पचने योग्य भोजन के अनावश्यक भार से बचाती है। यदि हम अति दूषित, अति भारी अथवा सड़े भोज्य पदार्थ ग्रहण करते हैं, तो हमारा पेट प्राय: हमें वमन करने हेतु बाध्य कर देता है। वैसे यह शरीर की स्वाभाविक प्रक्रिया है, परन्तु यह शरीर के लिए अन्तिम उपाय भी है, क्योंकि हम जो कुछ भी पेट में भर लेते हैं, शरीर उसे पचाने का प्रयास करता ही है। इससे हमें भारीपन तथा कष्ट आदि का अनुभव होता है तथा पाचन प्रणाली को सामान्य होने में कई घण्टे लग जाते है। आँतों को इन अनावश्यक कष्टों से बचाने के लिए यद्यपि यह अभ्यास कुछ अरुचिकर लगता है, लेकिन इसमें कुछ ही मिनटों का समय लगता है और हम बहुत-से कष्टों और असुविधाओं से बच जाते हैं।

3.(ग) वस्त्र धौति

वस्त्र धौति वह क्रिया है जिसके द्वारा गले, अन्न नलिका तथा आमाशय को लम्बे कपड़े की सहायता से साफ किया जाता है। वस्त्र धौति की क्रिया कठिन होते हुए भी बहुत प्रचलित है, क्योंकि इसके गुण या लाभ अनेक हैं। महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि इस क्रिया के अभ्यास से कफ, पित्त आदि का निवारण तो होता ही है, गुर्दे की बीमारी, कोढ़ तथा त्वचा के संक्रामक रोगों में भी यह लाभदायक है। यह अभ्यास उन लोगों के लिए विशेष रूप से फलदायी है जो दमा रोग से पीड़ित हैं।

चतुरङ्गुल विस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।
पुन: प्रत्याहरेदेतत्प्रोच्यते धौतिकर्मकम् ॥40॥
गुल्म ज्वरप्लीहकुष्ठकफपित्तं विनश्यति ।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ॥41॥

अर्थ

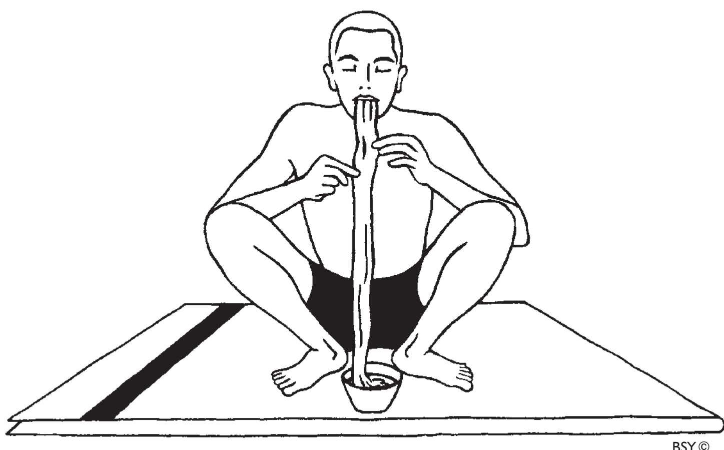
महीन वस्त्र की चार अंगुल चौड़ी पट्टी लेकर धीरे-धीरे निगलना चाहिए। फिर इसे धीरे-धीरे ही बाहर निकालें। इस वस्त्र धौति के अभ्यास से गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ एवं कफ-पित्त के विकारों का शमन होता है। यह धौति आरोग्य, बल और पुष्टि की दिनों-दिन वृद्धि करती है ॥ 40-41 ॥

व्याख्या

वस्त्र का प्रकार– वह वस्त्र, जिसके द्वारा हम इस धौति क्रिया का अभ्यास करते हैं, चार अंगुल चौड़ा होना चाहिए, अर्थात् लगभग दो इन्च चौड़ा और उसकी लम्बाई कम-से-कम छ: या सात गज होनी चाहिए। प्रयोग में लाया जाने वाला वस्त्र सूती होना चाहिए तथा बहुत-ही पतला और मुलायम होना चाहिए, खुरदुरा नहीं। प्रारम्भिक अभ्यासियों को प्रथम एक इन्च चौड़ी तथा तीन गज लम्बी पट्टी का प्रयोग करना चाहिए। जब यह अभ्यास सरलता से होने लगे तब कपड़े की लम्बाई और चौड़ाई बढ़ा सकते हैं।

तैयारी– जब वस्त्र को चार अंगुल या दो इन्च की चौड़ाई में काटते हैं, तब बगल में जितने रेशे निकले रहते हैं, उन सबको साफ कर देना चाहिए, निकाल देना चाहिए। ऐसा न हो कि रेशे आपके पेट के भीतर चिपके रह जायें। बहुत-ही सावधानी से उस वस्त्र को तैयार किया जाता है। उसे काटकर उसके रेशे निकाल देते हैं। प्रथम, कपड़े को गर्म पानी में उबालकर अच्छी तरह साफ किया जाता है और फिर उसे कुछ समय के लिए नमकीन पानी में छोड़ दिया जाता है, ताकि वह और भी मुलायम हो जाये। कुछ लोग पट्टी को दूध या चीनी मिश्रित दूध में गीला कर लेते हैं। ऐसा करने से यदि आप इस अभ्यास को अच्छी तरह से कर सकते हैं तो आरम्भ में मन को तैयार करने हेतु कुछ दिन इस विधि का प्रयोग कर सकते हैं, अन्यथा सादा गरम पानी ही उत्तम है।

स्थिति– यदि आप उकड़ू बैठ सकते हैं तो ठीक है, अन्यथा किसी तिपाई या छोटी कुर्सी पर बैठ कर इसका अभ्यास करें।



विधि– उकड़ू बैठ जायें। दोनों पैरों के मध्य कटोरी या मग में पानी एवं कपड़ा रख लें। तत्पश्चात् अभ्यास की प्रथम स्थिति को आरम्भ करें।

प्रथम अवस्था– इस वस्त्र का एक छोर लीजिए, उसके दोनों सिरों को थोड़ा-सा मोड़ दीजिए, जिससे वह थोड़ा नुकीला हो जाए और गले में आसानी से उतर सके। इस छोर को मुँह में डालकर उसे धीरे-धीरे चबाने की क्रिया करते हुए निगलना चाहिए। दूसरे हाथ से कपड़े को पकड़े रहना चाहिए, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। मुँह में एक या दो इन्च कपड़े को एकत्र कर उसे थोड़ा चबाते हैं, जिससे लार की जो चिकनाई है वह वस्त्र में चारों तरफ फैल जाये। परन्तु कपड़े को इतना अधिक न चबायें कि वह फट जाये। इसके बाद कुनकुने पानी के साथ एक घूँट वस्त्र को निगलते हैं। पुन: एक-दो इन्च मुँह में लेते हैं, फिर उसको चबाते हैं, अर्थात् थूक की चिकनाई प्रदान करते हैं, और फिर एक घूँट पानी पीकर उसको अन्दर करते हैं। इससे कपड़ा गले में सीधा उतरता जाएगा। धैर्य एवं सतर्कतापूर्वक निगलना चाहिए। मुँह में अधिक कपड़ा इक्ट्ठा मत कीजिए, अन्यथा यह गुच्छा बन जाएगा और निगलने में दिक्कत होगी। थोड़ा-थोड़ा कपड़ा ही गले में उतारना अच्छा है।

प्रारम्भ में अभ्यास न होने के कारण गले में कुछ विचित्र-सा अनुभव तो होगा ही, जैसे कुछ अटक गया हो। जब कपड़ा आपके गले के अन्दर हो, तब हो सकता है आपको खाँसी आये या गले में खरखराहट का अनुभव हो। यदि ऐसी स्थिति हो तो थोड़ी देर रुकिये और पानी का सहारा लीजिए। कभी-कभी वमन की भावना भी उत्पन्न होती है, लेकिन उसे नियन्त्रित कर

लेना चाहिए। पहले दिन कपड़ा छ: इन्च अन्दर जाता है, इसके बाद उसे निकाल देना चाहिए। दो-तीन दिन के अभ्यास के बाद वह एक फुट अन्दर जायेगा, पुन: उसे निकाल देना चाहिए। कुछ दिनों के अभ्यास के पश्चात् वह डेढ़ फुट अन्दर जायेगा, उसे पुन: निकाल देना चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास करते-करते छ: गज के कपड़े में कम-से-कम पाँच गज तो अन्दर चला ही जाना चाहिए।

सावधानियाँ– कपड़े को सदैव जीभ से सटाकर रखिये, क्योंकि तालू की तरफ सटाने से श्वास के मार्ग में बाधा पहुँचती है और खाँसी के साथ कपड़ा बाहर आ जाता है। दूसरी सावधानी यह रखनी चाहिए कि लार से लिपटा हुआ कपड़ा थोड़ा-थोड़ा करके ही नीचे गले में उतारते जायें। बीच-बीच में थोड़ा पानी पीना भी सहायक होता है।

पहला अभ्यास पक्का हो जाने पर बाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। आरम्भ में सही तरीका मालूम न होने से कपड़ा बाहर निकल आता है। परन्तु हिम्मत एवं धैर्य के साथ इस कपड़े को कई बार निगलने की कोशिश कीजिए। कई दिनों के अभ्यास के पश्चात् कपड़ा अन्न नली में तेजी से सरकने लगेगा। इस समय इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि कम-से-कम एक फुट कपड़ा बाहर बच जाए।

द्वितीय अवस्था– इसके बाद कुछ समय तक, पाँच मिनट से अधिक नहीं, कपड़े को अन्दर रखकर नौलि क्रिया का अभ्यास किया जाता है। पेट को चलाया जाता है, ताकि वह कपड़ा पेट के सभी अंगों तक पहुँचकर कफ और पित्त को अपने में समेट ले। प्रारम्भ में पेट के इस अभ्यास को एक मिनट से अधिक नहीं करना चाहिए। उसके बाद फिर धीरे-धीरे कपड़े को बाहर निकाल देते हैं। कपड़े को अधिक समय तक पेट में नहीं रखना चाहिए, क्योंकि इससे कपड़े के नीचे चले जाने की सम्भावना हो जाती है। वस्त्र धौति का पुराना अभ्यासी पाँच मिनट में बारह हाथ कपड़े को निगल सकता है।

आवृत्ति एवं समय– योग के नियमानुसार सप्ताह में एक बार ही इसका अभ्यास होना चाहिए, अधिक नहीं। यह ऐसा अभ्यास नहीं है कि इसे प्रतिदिन किया जाये। पेट जब खाली हो तभी इसका अभ्यास करना चाहिए। इसका उपयुक्त समय प्रात:काल शौच के पश्चात् और जलपान के पूर्व है। वस्त्र धौति रोग के अधिक बढ़ जाने पर और कुंजल रोग की सामान्य स्थिति में लाभप्रद है।

सावधानियाँ– प्रारम्भ में इस अभ्यास को किसी शिक्षक के निर्देशन में करना चाहिए। जब कपड़ा बाहर निकलता है तब वह पतला नहीं, बल्कि मोटा निकलता है, अर्थात् पूरे कफ को खींचते हुए अपने साथ ले आता है। जबकि कुंजल में हमेशा ऐसा नहीं होता। बाहर निकालते समय कपड़ा ऐसा दिखता है मानो घी से लथपथ हो। उसके ऊपर यदि आप हाथ फेरें तो हाथ फिसल जायेगा, ऊपर से नीचे तक।

लाभ– कपड़ा आमाशय की दीवारों को अच्छी तरह पोंछ लेता है, जिससे पाचक रस तेजी से स्रवित होने लगता है। यह सारे शरीर को प्रभावित करता है। जो लोग कफ, बलगम इत्यादि से पीड़ित रहते हैं, जैसे दमा के रोगी, उनके लिए वस्त्र धौति का अभ्यास रामबाण दवा है। जिस समय दमा का आक्रमण हो रहा हो, उस समय यदि इस क्रिया को किया जाये तो तत्काल दमा का प्रभाव समाप्त हो जायेगा। इस अभ्यास को हम दमा के प्रत्येक रोगी का सिखलाते हैं। दमा की रोकथाम और निदान के लिए यह आवश्यक है। यह प्रश्न उठ सकता है कि दमा का उपचार श्वसन संस्थान से होना चाहिए, जबकि वस्त्र धौति सीधे पाचन-संस्थान से सम्बन्धित है और उस पर सीधा प्रभाव डालती है, तो यह किस प्रकार से दमा रोग को ठीक करने में सहायक है। इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि सम्भवत: कपड़े को निगलने से नाड़ियाँ प्रभावित होती हैं। साथ-ही पाचन क्रिया और मस्तिष्क प्रभावित होते हैं। इसके परिणामस्वरूप किसी प्रकार से इसकी प्रतिक्रिया फेफड़ों पर होती है, जिससे दमा ठीक हो जाता है।

आमाशय में जो फोड़े होते हैं, उनके लिए भी इस क्रिया को लाभदायक माना गया है। चर्म रोग के लिए भी इस क्रिया को लाभदायक माना गया है। यहाँ तक कि ज्वर में भी इससे लाभ होता है। मन्त्र में कहा ही है *'गुल्मज्वरप्लीहाकुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।'* अर्थात् वायु-विकार, बुखार, चर्म रोग, कुष्ठ रोग, कफ या पित्त हो गया हो, तो इस क्रिया से वह निर्मूल हो जाता है। 'आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने'और इसके नियमित अभ्यास से आरोग्य की प्राप्ति होती है, शक्तिवर्द्धन होता है।

अत: हृद्धौति के ये तीन अभ्यास हैं। पहला अभ्यास है दण्ड धौति, जो कठिन, गुप्त और सभी के लिए नहीं है। दूसरी क्रिया है वमन धौति। इसके भी दो प्रकार हैंजल वमन और अन्न वमन, जिन्हें हम क्रमश: कुंजल और व्याघ्र क्रिया कहते हैं। हृद्धौति का तीसरा प्रकार है वस्त्र धौति, जो कठिन है, लेकिन प्रचलित है और विशेष रूप से शरीर के लिए लाभदायक सिद्ध होता है।

पूरक अभ्यास– वस्त्र धौति से पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए इस क्रिया की समाप्ति पर कुंजल और जल नेति का अभ्यास करना चाहिए। वस्त्र धौति पेट की दीवारों की गन्दगी को खुरचती है, जबकि कुञ्जल क्रिया उनको धोती है और जल नेति से नाक के अन्दर की सफाई होती है।

4. मूलशोधन

अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत् ॥42॥
पीतमूलस्य दण्डेन मध्यमाङ्गुलिनाऽपि वा ।
यत्नेन क्षालयेद्गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः ॥43॥
वारयेत्कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत् ।
कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च दीपनं वह्निमण्डलम् ॥44॥

अर्थ

मूलशोधन न होने तक अपान वायु की क्रूरता नष्ट नहीं हो पाती। इसलिए प्रयत्नपूर्वक मूल शोधन कर्म करना चाहिए। हल्दी की जड़ अथवा मध्यमा अंगुली के द्वारा जल-योग से पुनः-पुनः प्रक्षालन आवश्यक है। इस कर्म से कोष्ठ-काठिन्य (मल की शुष्कता, मलावरोध) एवं अमाजीर्ण आदि का निवारण होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है ॥ 42-44 ॥

व्याख्या

मूल शोधन धौति प्रक्रिया की अन्तिम विधि है। इसका शब्दार्थ है– शरीर के मूल भाग की सफाई। हमारे शरीर का मूल भाग है गुदा। अतः मूल शोधन का अर्थ है गुदा क्षेत्र की सफाई। तैंतालीसवें श्लोक में कहा गया है *'अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत्'* जब तक मूल भाग की सफाई नहीं हो पाती तब तक अपान वायु में विकार उत्पन्न होते हैं, या अपान वायु क्रूर हो जाती है।

पंच प्राण– योग-विज्ञान के अन्तर्गत यह माना जाता है कि हमारे शरीर के भीतर पाँच वायु हैं, जिन्हें हम पंच प्राण के नाम से जानते हैं– प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। इस क्रिया को समझने के लिए हमें संक्षेप में पंच प्राणों को समझना पड़ेगा, क्योंकि यौगिक चिकित्सा का

आधार भी पंच प्राण हैं। एक है महाप्राण और उसके ये पाँच उप प्राण या उप वायु हैं। जो हमारे शरीर के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न अंगों को नियन्त्रित एवं संचालित करते हैं।

इसमें पहला प्राण है प्राण वायु, जिसका क्षेत्र छाती प्रदेश या हृदय प्रदेश है। कण्ठ नली तथा तन्तुपट के मध्य इसकी स्थिति है। योग शास्त्र के अनुसार प्राण वायु के माध्यम से फेफड़े, हृदय और रक्त संचार पर नियन्त्रण होता है, रक्त की शुद्धि होती है। अगर प्राण वायु में किसी प्रकार की कमी आ जाये या किसी प्रकार के दोष उत्पन्न हो जायें, तो फेफड़ों पर इसका प्रभाव पड़ेगा। फेफड़ों की बीमारी उत्पन्न हो सकती है, दिल की बीमारी उत्पन्न हो सकती है, रक्त की बीमारी उत्पन्न हो सकती है, इत्यादि।

दूसरी वायु का क्षेत्र है पसलियों से नाभि के बीच। जिसको हम कहते हैं समान वायु। योग शास्त्र मानता है कि प्राण वायु ऊर्ध्व दिशा में बहने वाली वायु है। यह ऊपर की ओर बहती है, समान वायु अगल-बगल में बहती है। इसका कार्य है पाचन क्रिया को नियन्त्रण में रखना। इसका 'समान' नाम भी पाचन प्रक्रिया के कारण पड़ा है। इसका अर्थ है शक्ति को समरूप से शरीर में भेजना। अगर समान वायु में किसी प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न हो जाये, तो अपच होता और आमाशय के रोग उत्पन्न होते हैं।

तीसरी वायु है अपान वायु, जो अधोगामी है, अर्थात् नीचे की ओर बहती है। यह नाभि प्रदेश के नीचे स्थित है। यह आँतों और गुर्दों को नियन्त्रण में रखती है। इसका कार्य है निष्कासन। शरीर की जितनी भी निष्कासन प्रक्रियायें होती हैं, चाहे वह पसीना हो, मूत्र हो, मल हो, विषाक्त तत्त्वों को शरीर से बाहर निकालना हो, या खून को शुद्ध करना हो, सभी पर अपान वायु का नियन्त्रण होता है। इस प्रकार गुर्दा, यकृत, अग्न्याशय और आँतेंसभी अपान वायु द्वारा नियन्त्रित होती हैं। यदि इसके प्रवाह में दोष उत्पन्न हो जाये तो आँतों, गुर्दे और निष्कासन प्रणाली से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होते हैं, जिसमें कब्जियत भी शामिल है।

चौथी वायु है उदान वायु। यह सिर, दोनों भुजाओं और दोनों पैरों में क्रियाशील है। उदान वायु इनकी गतिविधियों को संचालित करती है। अगर उदान वायु में गड़बड़ी हो तो लकवा जैसी बीमारी हो जाती है, हाथ-पैर नहीं चलते।

पाँचवी वायु है व्यान। व्यान भविष्य के लिए सुरक्षित शक्ति है, जो पूरे शरीर की नाड़ियों में प्रवाहित होती रहती है और अगर किसी प्राण वायु में किसी प्रकार की कमी उत्पन्न हो जाए तो व्यान वायु वहाँ पहुँच कर उसे सहायता प्रदान करती

है। व्यान शब्द, व्याप्त शब्द से निकला है। व्यान, अर्थात् जो पूरे शरीर में व्याप्त हो, पूरे शरीर में समाहित हो, शरीर की प्रत्येक नाड़ी में जिसका प्रवाह हो।

इस प्रकार हमारे शरीर के भीतर ये पाँच वायु हैं। अपान वायु जब क्रूर हो जाती है, अर्थात् जब इसमें दोष उत्पन्न होते हैं, जैसा कि इस मन्त्र में कहा गया है, *'अपान क्रूरता'*, तब शौच ठीक से नहीं होता, बवासीर जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं, शरीर से विषाक्त तत्त्व बाहर नहीं निकल पाते। यदि आँतों से सम्बन्धित बीमारी हो, या बवासीर हो, या निष्कासन सम्बन्धी बीमारी हो, तो समझना चाहिए कि अब हमें अपान वायु को ठीक करना है। अपान वायु को मूलशोधन के द्वारा ठीक किया जाता है।

परम्परानुसार मूलशोधन के लिए हल्दी की जड़ का ही प्रयोग किया जाता है। *'पीतमूलस्य दण्डेन'* का अर्थ होता है हल्दी का डण्डा। हल्दी अपने आप में उपचार के गुणों से युक्त है। शरीर के किसी भाग में घाव हो जाए तो हल्दी लगाते हैं। यह संक्रमण निरोधक तो है ही, उपचारात्मक गुणों से भी युक्त है। यह रक्त को शुद्ध करती है। अत: इसके प्रयोग से शरीर के अधोभाग में रक्त का प्रवाह सुचारु रूप से होने लगता है, जिससे शौच सहज ही उतर जाता है और कब्ज नहीं होती। इस अभ्यास में हल्दी के डंठल या मध्यमा अंगुली का प्रयोग किया जाता है। अगर हल्दी के डंठल का प्रयोग करते हैं तो वह मध्यमा से अधिक लम्बा, चौड़ा और मोटा नहीं होना चाहिए। उसका आकार मध्यमा अंगुली के बराबर होना चाहिए।

स्थिति– इस क्रिया के लिए उकडू बैठना जरूरी है। इस अवस्था में मूल द्वार खुलता है और दोनों जाँघों से पेट पर दबाव पड़ता है, जिससे पेट से मल को नीचे की ओर खिसकने में सहयोग मिलता है।

विधि– हल्दी की जो नरम जड़ होती है, उसे पहले बहुत अच्छी तरह से साफ कर ऊपर का छिलका निकाल देते हैं, जिससे उसका रस निकलने लगता है और तब उकडू बैठकर उसे गुदा द्वार में डालते हैं। डंठल की लम्बाई लगभग चार इन्च होती है और उसे अधिक-से-अधिक ढाई-तीन इन्च अन्दर ले जाते हैं और दो-तीन मिनट के लिए उसे अन्दर ही छोड़ देते हैं, ताकि छिले हुए डंठल का रस गुदा द्वार में फैल जाये। हल्दी की एक और विशेषता है कि वह विष को खींचती है। इस प्रकार शरीर में जितने विषाक्त द्रव या विकार हैं, वे हल्दी के डंठल की ओर चले आते हैं। उसके दो-तीन मिनट बाद डंठल को निकाल कर फेंक दीजिए। इस क्रिया से मूल द्वार साफ हो जायेगा। यदि अभ्यास के समय गुदा द्वार जख्मी

हो जाये तो हल्दी की जड़ रोगाणुरोधक का कार्य करती है और उसके उपचार में सहायक सिद्ध होती है। बवासीर जैसे रोगों को दूर करने के लिए इस क्रिया को कम-से-कम एक महीना करना चाहिए। अगर हल्दी की जड़ उपलब्ध न हो तो मध्यमा अँगुली का प्रयोग भी किया जा सकता है। गाय का घी अंगुली में लगाकर उसे गुदा द्वार से लगभग डेढ़ इन्च अन्दर डालकर चारों ओर गोल-गोल घुमाया जाता है, जिससे घी चारों ओर लग जाये। घी अनेक औषधीय गुणों से युक्त होता है। यदि अंगुली अन्दर न जाती हो तो बहुत जोर मत लगाइये, अंगुली जितनी अन्दर जाए, उतना ही डालकर उसे गोल-गोल घुमाते जाइए। फिर अंगुली को बाहर निकालकर अच्छी तरह धो लीजिए। फिर ऊपर बताए अनुसार अंगुली को अन्दर डालकर घुमाइये। इसी प्रकार कई बार कीजिए।

यदि आपकी अंगुली अन्दर नहीं जाती, तो आप अँगुली को थोड़ा अन्दर डालकर मूल द्वार के स्नायुओं को खींचकर पुन: ढीला कर सकते हैं, इससे आपको अवश्य ही लाभ होगा।

सावधानियाँ– अंगुली के नाखून अच्छी तरह काट लें, क्योंकि मूल द्वार का भाग तथा अन्दर की त्वचा बहुत ही कोमल होती है। क्रिया के पूर्व एवं पश्चात् हाथों को अच्छी तरह साफ कर लेना चाहिए। जिन लोगों को बवासीर की शिकायत है, उन्हें अंगुली अन्दर डालते समय बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। अभ्यास के दौरान जब आप अंगुली बाहर निकालकर गुदा द्वार को धोते हैं, उस समय ख्याल रखें कि गर्म जल का प्रयोग न हो। हमेशा ठण्ढे जल का ही प्रयोग करें। ठण्ढे जल से रक्त वाहिनियों में संकोच होता है। यह बवासीर के लिए बहुत ही जरूरी है। गर्म पानी के प्रयोग से रक्त वाहिनियाँ उत्तेजित होती हैं और अधिक रक्त प्रवाहित होने लगता है। अत: अभ्यास में ठण्ढे जल का प्रयोग करने का विशेष ख्याल रखें।

अभ्यास का समय– जिन्हें कब्ज रहती हैं, उन्हें यह क्रिया सुबह करनी चाहिए। जिन्हें दस्त की कोई शिकायत नहीं, वे पैखाना हो जाने के बाद मूलशोधन क्रिया का अभ्यास कर सकते हैं। सबसे अच्छा समय है प्रात:काल।

लाभ– यह क्रिया जितनी सरल है, उतनी ही लाभकारी भी। इस क्रिया से नाड़ी और कोशिकाओं की ओर रक्त संचार में तीव्रता आती है, जिससे उत्सर्जक प्रणाली का कार्य ठीक ढंग से होता है, उत्सर्जक प्रणाली के दोष दूर होते हैं। अन्दर में जमे कठोर मल का निष्कासन होता है। मल द्वार के या मलाशय सम्बन्धी रोगों को दूर करता है, जैसेकब्ज, बवासीर। शरीर के अन्दर मल के

एकत्र हो जाने से वह जहर बन जाता है, उस मल को शरीर से बाहर निकाल देता है। प्रतिदिन इस विधि द्वारा पेट की सफाई से व्यक्ति का अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलता है, क्योंकि जब कब्ज रहती है, तो व्यक्ति बड़ा परेशान हो जाता है। इस क्रिया द्वारा उसे बहुत आराम मिलता है। कब्ज की शिकायत दूर होने से कई अन्य रोग भी दूर हो जाते हैं। गुदा मार्ग के अवरोध से शरीर की सभी प्रणालियाँ प्रभावित होती हैं, अत: मूलशोधन क्रिया द्वारा इस मार्ग को स्वच्छ रखना बहुत जरूरी है।

मूल शोधन की क्रिया का उद्देश्य होता है बड़ी आँत में कब्जियत के समय जमा हुए मल को बाहर निकालना। निकालते समय यह पत्थर के समान कड़ा और गुठली के रूप में निकलता है, अधिक जोर लगाना पड़ता है, दर्द देता है और बहुत बार गुदा द्वार की मांसपेशियों को जख्मी कर देता है। इस स्थिति को दूर करने के लिए मूल शोधन का अभ्यास मान्य है। इसमें अंगुली में घी लगाकर गुदा द्वार के अन्दर चारों ओर लगाते हैं, ताकि जो ठोस मल है, वह आसानी से बाहर निकल सके। बहुत बार जब हम अंगुली अन्दर घुसाते हैं, तब जो सूखी गुठलियाँ होती हैं, वे बाहर निकलते समय टूट जाती हैं, इससे गुदा द्वार जख्मी नहीं होता। जब रोग दीर्घकालिक हो जाये, अन्य कोई उपाय न रह जाये, तभी इस अभ्यास को करना चाहिए, क्योंकि इस अवस्था को उत्पन्न न होने देने के लिए अन्य अभ्यास भी है, जैस– शंख प्रक्षालन। इसमें मल पानी से ढीला होकर निकल ही जाता है। वस्ति की क्रियायें हैं, जिनका वर्णन आगे आता है। इनसे एनिमा के रूप में बड़ी आँत की पूरी सफाई हो जाती है।

मूल शोधन धौति का अन्तिम अभ्यास है। कुछ योगियों का कहना है कि अन्तर्धौति में जो पाँचवीं क्रिया है, जिसे हम महाधौति कहते हैं, वह मूलशोधन का अंग है। इसे 'जल मूल शोधन' के नाम से भी जानते हैं।

अत: जब सभी क्रियायें विफल हो जायें तो अन्तिम अभ्यास के रूप में मूलशोधन की क्रिया करायी जाती है। यदि मूलशोधन का अभ्यास भी काम न करे, तो समझिये कि अब दूसरा कोई उपाय नहीं बचा, क्योंकि घेरण्ड संहिता में जिन विधियों का वर्णन किया गया है, वे सरल भी हैं और कठिन-से-कठिन भी, अर्थात् एक सरल और एक कठिन, दोनों विधियों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार धौति के अन्तर्गत चार प्रकार के अभ्यास बताये गये हैं– अन्तर्धौति, दन्तधौति, वस्त्र धौति और मूलशोधन।

वस्ति

जल वस्ति: शुष्कवस्तिर्वस्ती च द्विविधौ स्मृतौ ।
जल वस्तिं जले कुर्याच्छुकवस्तिं सदा क्षितौ ॥45॥

अर्थ

वस्ति कर्म दो प्रकार का होता है (1) जल वस्ति और (2) शुष्क वस्ति। जल वस्ति का अभ्यास जल में किया जाता है। शुष्क वस्ति का अभ्यास भूमि पर, सूखे स्थल पर किया जाता है ॥45॥

व्याख्या

इस क्रिया में गुदा द्वार से वायु या जल भीतर की ओर खींचकर बड़ी आँत की सफाई की जाती है। आँतों को धोने एवं शुद्ध करने की यह एक सरल क्रिया है। वस्ति के दो प्रकार हैं– शुष्क वस्ति एवं जल वस्ति। शुष्क वस्ति में वायु द्वारा तथा जल वस्ति में जल द्वारा बड़ी आँत का शुद्धिकरण होता है। शुष्क वस्ति को हम थल वस्ति भी कहते हैं, क्योंकि सूखी वस्ति कहने पर लोगों को समझ में नहीं आता, इसलिए इसे 'थल वस्ति' नाम भी दिया गया है। यहाँ पर वस्ति के जिस अभ्यास का वर्णन है, वह एनिमा के समान ही है। बहुत बार यह देखा जाता है कि व्यक्ति का शरीर तो स्वस्थ रहता है, किसी रोग का लक्षण नहीं रहता, परन्तु कभी-कभी उसे ऐसे रोग घेर लेते हैं, जिनका सम्बन्ध बड़ी आँत से रहता है। जैसे, कब्जियत, मल का बड़ी आँत में जमा होना, खूनी बवासीर, गुदा द्वार के पास फोड़े होना, घाव होना, मल के निष्कासन के समय कठिनाई और दर्द का अनुभव करना।

बहुत बार यह भी देखा गया है कि अनेक प्रकार के योगाभ्यास करते रहने पर भी हमारे शरीर के भीतर कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि हम योगाभ्यास तो कर रहे हैं, लेकिन अपने शरीर के प्रति जागरूक नहीं हैं। अपने आन्तरिक परिवर्तनों को समझ नहीं पा रहे हैं, जिसके कारण रोग उत्पन्न हो रहा है। दूसरा कारण है कि प्रत्येक मनुष्य का कोई-न-कोई अंग समय-समय पर कभी शिथिल पड़ता है अथवा उसमें कभी शक्ति की कमी हो जाती है। अगर हमारे शरीर का कोई आन्तरिक अंग पहले से ही ढीला हो, कमजोर या रोगी हो, किन्तु अभी तक वह रोग बाह्य रूप से

प्रकट न हुआ हो, तो हो सकता है एक-दो साल के योगाभ्यास के बाद वह प्रकट हो, क्योंकि अब उसका निष्कासन कार्य शुरू हो चुका है। उस समय घबराना नहीं चाहिए।

योग इस बात को स्वीकार करता है कि योगी भी बीमार पड़ सकते हैं। बड़े-बड़े साधकों के जीवन में देखा गया है कि उच्च अवस्था को प्राप्त करने के बाद भी, जब उनके शरीर का नाश होता है तो किसी रोग के कारण ही होता है। रामकृष्ण परमहंस के बारे में आप जानते हैं, उन्हें गले का कैंसर था। अनेक योगियों के बारे में हम सुनते आये हैं कि किसी को लकवा हो गया, किसी की हृदय गति रुक गयी, तो किसी को ब्रेन हेमरेज हो गया।

अपनी सामान्य बुद्धि से हम सोचते हैं कि इस व्यक्ति ने इतने साल योगाभ्यास किया, इसका शरीर शुद्ध हो चुका है, इसे एक प्राप्ति भी हो चुकी है, यह एक विशेष अवस्था में पहुँच चुका है, तो क्या यह अपनी बीमारी पर नियन्त्रण नहीं रख सकता? योगियों के जीवन में यह भी देखा गया है कि वे अपने शरीर से रोग को दूर करने में सक्षम होते हैं, चाहे वे उसे अभ्यास से हटायें, चाहे अपनी सिद्धि का प्रयोग करें। लेकिन उनके शरीर में जो रोग उत्पन्न होते हैं, उसका कारण है दूसरे के कर्म, जिन्हें वे अपने ऊपर ले लेते हैं और उन्हें निर्मूल करने का प्रयास करते हैं। इसके लिए यदि वे अपनी क्षमता या सिद्धि का प्रयोग करते हैं तो उसे कर्म बन्धन से मुक्ति नहीं मान सकते, क्योंकि कर्मों का क्षय सहज रूप से होना चाहिए, किसी सिद्धि के द्वारा नहीं।

योग शास्त्रों में इसका स्पष्ट वर्णन किया गया है। कहा जाता है कि अगर हम अपनी शक्ति, सिद्धि का प्रयोग कर्मों का क्षय करने के लिए करें, तो उससे हमारे कर्म और बढ़ेंगे और उनका कभी क्षय नहीं होगा, क्योंकि यह इसकी स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है। यह तो वैसा ही होगा जैसे व्यक्ति किसी बीमारी को दूर करने के लिए दवाई खा लेता है और वह बीमारी कुछ समय के लिए दब जाती है। जब तक दवाई का प्रभाव रहता है, तब तक बीमारी का अनुभव नहीं होता। लेकिन जैसे-जैसे दवाई का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता है, समाप्त होता है, वैसे-वैसे बीमारी पुन: उभरने लगती है। दमा, मधुमेह, बुखार तथा अन्य बहुत-सी बीमारियों में ऐसा ही होता है।

अत: रोग का दमन और स्वाभाविक रूप से रोग का निर्मूलन, दोनों में अन्तर है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि अगर हमारे शरीर का कोई अंग रोग से पीड़ित हो जाये, तो उसका यह अर्थ नहीं

कि हमारे अभ्यास में त्रुटि है। यह हमारे जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। केवल उस समय साहस और सजगता की क्षमता को विकसित करना पड़ेगा। वह समय आत्म-निरीक्षण में व्यतीत करना पड़ेगा, ताकि हम रोग का कारण समझ सकें।

रोग का कारण भोग नहीं, बल्कि कर्म भी है। यों सामान्य रूप से तो लोग यही कहते हैं कि रोग तभी उत्पन्न होता है जब मनुष्य भोग से छुटकारा प्राप्त करता है या कोई भोग बाहर निकलता है, लेकिन इसका एक दूसरा पक्ष भी है। अगर रोग कर्म के कारण उत्पन्न होता है, तो यह बात तो हम जानते नहीं कि किस कारण से उत्पन्न हो रहा है, लेकिन अगर हम सजगता का प्रयोग करें और रोग की अवस्था में आत्म-निरीक्षण भी हो, तो यह मालूम पड़ सकता है कि रोग कर्म के कारण उत्पन्न हुआ है या भोग के कारण।

यही विचारधारा वस्ति के अभ्यास में दिखायी दे रही है, क्योंकि पहले धौति के अभ्यास में तो पूरे शरीर की शुद्धि की प्रक्रिया बतला चुके हैं और अगर शरीर पूर्ण रूप से धौति की प्रक्रिया में ही शुद्ध हो जाये तो वस्ति की क्या आवश्यकता है? वस्ति को अलग रूप देना भी आवश्यक नहीं है। अगर किसी को कब्ज हो तो सीधे कहा जा सकता है कि तुम शंख प्रक्षालन करो। ऊपर से नीचे तक एक बार अन्न नली साफ हो जाये। लेकिन यहाँ पर जिस प्रक्रिया को अपनाया गया है, बड़ी आँतों के लिए या आँत प्रदेश के लिए, उसका तात्पर्य यह हो सकता है कि आन्तरिक अंगों में कमजोरी के कारण अगर ऊपर के क्षेत्र में कोई रोग उत्पन्न हो तो उसका निदान हम धौति के माध्यम से कर सकते हैं और अगर नीचे के क्षेत्र में हो तो उसका निदान वस्ति के माध्यम से कर सकते हैं। पूर्ण शंख प्रक्षालन करने की आवश्यकता नहीं है, और शंख प्रक्षालन तो आप प्रतिदिन कर भी नहीं सकते। छ: महीने में एक बार इसका अभ्यास किया जाता है। अत: कब्ज दूर करने और प्रतिदिन पेट साफ करने के लिए वस्ति का अभ्यास करते हैं।

1. जल वस्ति

नाभिमग्नजले पायुन्यस्तनालोत्कटासन: ।
आकुञ्चनं प्रसारं च जल वस्तिं समाचरेत् ॥46॥
प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत् ।
भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत् ॥47॥

अर्थ

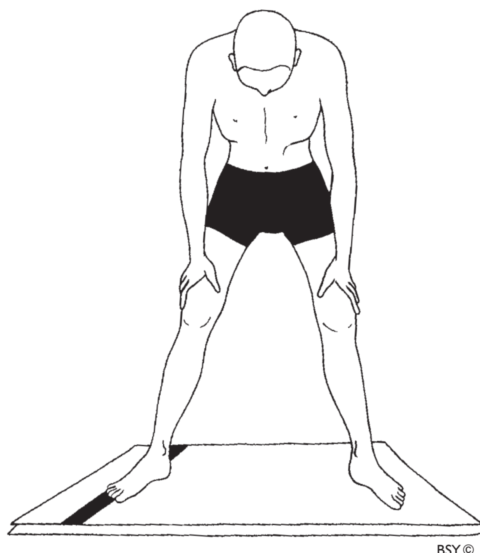
जल में नाभिपर्यन्त बैठकर उत्कट आसन लगायें और गुह्य देश का आकुंचन-प्रसारण करें यह जल वस्ति है। यह जल वस्ति कर्म प्रमेह, उदावर्त, क्रूर वायु का निवारण कर शरीर को कामदेव के समान सुन्दर बना देता है ॥46-47॥

व्याख्या

विधि– इस क्रिया के लिए नाभि तक गहरे जल में उत्कट आसन में खड़े हो जाना चाहिए। उत्कट आसन बहुत सरल है। पैरों को थोड़ा फैला लेना है और जिस प्रकार हम अग्निसार क्रिया का अभ्यास करने के लिए घुटनों को मोड़कर खड़े होते हैं, उसी प्रकार जाँघों को हाथ का सहारा देकर खड़े हो जाते हैं। इस अवस्था में श्वास के साथ पेट को नहीं हिलाना है, केवल गुदा द्वार का संकुचन और प्रसारण करना है। जब आप श्वास लेते हैं, तब गुदा द्वार को अन्दर की ओर खींचना है और जब श्वास छोड़ते हैं, तब गुदा द्वार को ढीला छोड़ देना हैआकुंचन और प्रसार। आकुंचन का अर्थ होता है बन्द करना, खींचना और प्रसार का अर्थ होता है फैलाना। इस क्रिया की अवधि में सावधानीपूर्वक गुदा-स्नायुओं का अधिकाधिक प्रसारण कीजिए, जिससे प्रवाह पूर्णरूपेण हो सके।

एक तरह से यह अश्विनी मुद्रा का ही अभ्यास है, लेकिन इसे नाभि तक गहरे जल में खड़े होकर श्वास के साथ करते हैं। जल में वैसे ही प्राकृतिक रूप से अनेक उपचारिक गुण होते हैं। कहा जाता है अभ्यास के लिए बहता पानी, जैसे, नदी इत्यादि हो तो अच्छा है, टंकी के भीतर या टब में इस अभ्यास को न करें, क्योंकि अभ्यास में जो मल निकलता है, वह बहते पानी के साथ बह जाता है। बहते पानी का जो दबाव होता है, उसका भी प्रभाव पड़ता है। इस अभ्यास से आँत की दीवार में लगे हुए मल का निष्कासन होता है।

आयुर्वेद में उपचार के लिए जल का बहुत प्रयोग किया जाता है और योग में भी शरीर शुद्धि एवं उपचार के लिए जल का बहुत प्रयोग होता है। उत्कट आसन में, जहाँ आधे खड़े रहने और आधे बैठने की स्थिति आती है, उस अवस्था में श्वास के साथ हमारे गुदा द्वार का आकुंचन और प्रसारण होता है और हम गुदा द्वार को पूर्णत: खोलने में सक्षम हो जाते हैं। इसे तनाव रहित अवस्था में करना चाहिए। अभ्यास के समय जोर नहीं लगाना है, लेकिन मांसपेशियों का पूरा विस्तार होना चाहिए।



हो सकता है कि पहली बार में थोड़ा-ही पानी अन्दर जाये, लेकिन जैसे-जैसे मांसपेशियों पर नियन्त्रण बढ़ेगा, आकुंचन और प्रसारण होगा, वैसे-वैसे गड़गड़ाहट के साथ जल शरीर के भीतर प्रवेश करेगा और गड़गड़ाहट के साथ बाहर निकलेगा। जब पानी बाहर निकलता है, तब शरीर की आँतों में जो कड़ा मल है, जो सूखा और जमा हुआ है, वह भी पानी के साथ बाहर निकलता है। आन्तरिक अंगों की, विशेषत: बड़ी आँत की सफाई इस क्रिया से होती है। बहुत लोग इस क्रिया के एक प्रकारान्तर का अभ्यास करते हैं। पाइप का प्रयोग कर एनिमा लेते हैं। एनिमा में जब हम टोंटी को अन्दर घुसाते हैं और पानी के स्तर को ऊपर रखते हैं, तब पानी का दबाव भीतर की ओर आता है, और जब टोंटी को निकालते हैं, तब पानी बाहर आता है। अन्तर केवल इतना है कि इस क्रिया में आप टोंटी नहीं घुसा रहे हैं, यहाँ केवल मांसपेशीय नियन्त्रण है।

लाभ– प्रमेह, आँतों के रोग, बवासीर और दूषित वायु से, जिसे यहाँ पर क्रूर वायु कहा गया है, शरीर को मुक्ति मिलती है और देह शुद्ध होती है। कामदेव के सदृश कान्तिपूर्ण शरीर प्राप्त होता है। जब शरीर से विषाक्त पदार्थ बाहर निकलते हैं, तब जिस स्वास्थ्य का अनुभव होता है। सम्भवत: उसी की तुलना यहाँ कामदेव के सदृश शरीर से की गयी है। स्वास्थ्य से

शरीर के तेज में, कान्ति में वृद्धि होती है और समय-समय पर जब हमारे आन्तरिक अंगों का सम्पर्क जल से होता है, तब जल के भीतर जो उपचारिक गुण हैं, उनका भी आन्तरिक अंगों पर प्रभाव पड़ता है और उन्हें स्वास्थ्य एवं शक्ति प्राप्त होती है।

शरीर की बहुत-सी नाड़ियाँ गुदा द्वार के समीप आकर समाप्त होती हैं। वहाँ पर बहुत-सी नाड़ियों के छोर होते हैं। उन नाड़ियों में जब संवेदना उत्पन्न होती है, तब हमारा पूरा नाड़ी संस्थान, जिसे हम स्नायु-संस्थान कहते हैं, जाग्रत हो उठता है, उसमें भी संवेदना और शक्ति का अनुभव होने लगता है। योगियों का यह अनुभव रहा है कि जब हम नीचे से पानी खींचते हैं, तब शरीर के तापमान में कमी होती है। शरीर की आन्तरिक गर्मी कम होती है। आन्तरिक गर्मी के कारण बहुत बार फोड़े-फुन्सी इत्यादि होते हैं। इस क्रिया से फोड़े-फुन्सी तथा चर्म रोग, जैसे सूखा एक्जीमा इत्यादि (यहाँ गीले एक्जीमा की चर्चा नहीं हो रही है, जिसमें से पानी निकलता है। सूखे एक्जीमा का वर्णन हो रहा है, जिसमें चमड़ी फटने लगती और खून एवं पीब बहने लगते हैं।), ठीक हो जाते हैं। सम्भवत: इन्हीं कारणों से प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में टब स्नान का बहुत महत्त्व है।

'उदावर्त्त' है ऊपर जाने वाली वायु। बहुत बार देखा गया है कि जब पेट में वायु भर जाती है, तब बहुत प्रयास करने से भी वह बाहर नहीं निकलती और पेट की दाहिनी ओर, विशेषत: जहाँ पर अपेन्डिक्स है, पहुँचकर धक्का मारती है, जिससे वहाँ पर दर्द होने लगता है। वायु विकार का दर्द पेट की दाहिनी ओर होता है। बच्चों में यह रोग अधिक होता है, और मातायें जब उनके पेट की मालिश करती हैं, तब वही वायु गुड़गुड़ाहट के साथ गुदा द्वार या डकार के साथ मुँह से बाहर निकलती है। जल वस्ति के अभ्यास से इस वायु विकार से भी मुक्ति मिलती है।

2. स्थल वस्ति

पश्चिमोत्तानतो वस्तिं चालयित्वा शनैः शनैः ।
अश्विनीमुद्रया पायुमाकुञ्चयेत्प्रसारयेत् ॥48॥
एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषो न विद्यते ।
विवर्द्धयेज्जठराग्निमामवातं विनाशयेत् ॥49॥

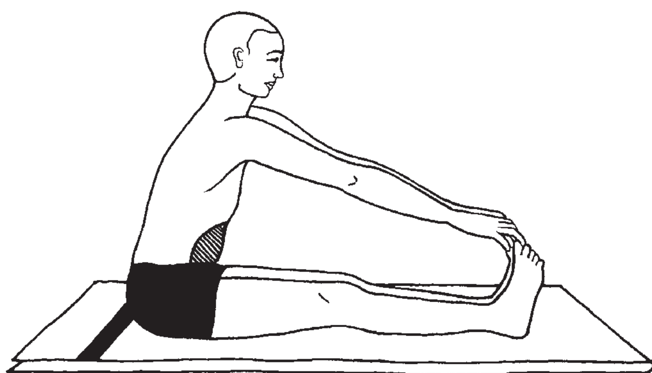
अर्थ

अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा का आकुंचन एवं प्रसारण करना चाहिए। पश्चिमोत्तानासन में बैठकर नीचे के भाग में वस्ति का परिचालन करें। इसे स्थल वस्ति कहते हैं। इसके साधन से कोष्ठ के दोष एवं आमवात आदि रोगों का शमन और जठराग्नि का वर्द्धन होता है ॥ 48-49॥

व्याख्या

विधि– इस वस्ति का अभ्यास करने के लिए, जमीन पर पश्चिमोत्तानासन में बैठकर, अश्विनी मुद्रा का अभ्यास करते हुए गुदा द्वार का आकुंचन और प्रसारण करते हैं। इस क्रिया में पश्चिमोत्तानासन का जो अभ्यास होता है, वह सामान्य अभ्यास से थोड़ा भिन्न है।

सामान्य रूप से जब हम पश्चिमोत्तानासन का अभ्यास करते हैं, तब उसमें सिर को घुटनों से छुआने का एवं अपने शरीर को जितना सम्भव हो आगे झुकाने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन यह अभ्यास बहुत सरल है। इसे सरल पश्चिमोत्तानासन कह सकते हैं। इसमें हम पैरों को फैलाकर उनके बीच 12 इन्च की दूरी रखते हैं। अब इसमें आगे उतना ही झुकना है जितने में आप अपने पैरों की अंगुलियों को पकड़ सकें। रीढ़ की हड्डी को सीधा रखना है। यह स्थिति है सरल पश्मिोत्तानासन की। इसमें अधिक आगे नहीं झुकना है और अगर झुकते भी हैं तो पीछे आकर हाथों को सीधा कर लेते हैं। इस स्थिति में अश्विनी मुद्रा का अभ्यास होता है। अश्विनी मुद्रा का अभ्यास है– गुदा द्वार का संकुचन और प्रसारण। इसमें श्वास की क्रिया भी जोड़ दी जाती है। श्वास



लेते समय गुदा द्वार को ऊपर की ओर खींचते हैं, उसका आकुंचन होता है और श्वास छोड़ते समय उसका प्रसारण होता है।

इसमें वायु को अन्दर, शरीर के भीतर खींचा जाता है। हठयोग की पुस्तकों में एक स्थान पर यह भी लिखा है कि अगर आरम्भ में वायु को अन्दर खींचने में कठिनाई हो तो डेढ़ इन्च लम्बे और एक से डेढ़ सेमी व्यास वाले रबर पाइप का प्रयोग कर सकते हैं। रबर पाइप का डेढ़ से दो इन्च लम्बा टुकड़ा लेते हैं और उसमें घी लगाकर हलके से गुदा-द्वार के अन्दर डाल देते हैं। गुदा द्वार के स्नायुओं के प्रसारण के लिए अंगुलियों की सहायता ली जाती है। किसी प्रकार का तनाव नहीं पड़ना चाहिए। अंगुलियों एवं नलिका के गुदा में प्रवेश के साथ स्वाभाविक रूप से स्नायुओं में प्रसारण होता है। इसके कारण नलिका का अधिक प्रवेश सहज हो जाता है तथा किसी प्रकार की चोट की सम्भावना नहीं रह जाती। इतना अन्दर नहीं डालना है कि अश्विनी मुद्रा करते समय वह पूरा ही अन्दर खिंच जाये। वह थोड़ा बाहर निकला रहना चाहिए। जब श्वास खींचते हैं तब मध्यपट की मांसपेशियाँ ऊपर की ओर खिंच जाती है। श्वास खींचने की प्रक्रिया हो जाती है, छाती को फुलाना और पेट को अन्दर की ओर कर ऊपर खींचना। इससे एक ऋणात्मक दबाव उत्पन्न होता है। ऋणात्मक वायु दाब का तात्पर्य हम अपने भीतर, आँतों में एक प्रकार का शून्य उत्पन्न करते हैं। जैसे-ही शून्य उत्पन्न होता है, वैसे ही वायु अपने आप पाइप के माध्यम से ऊपर की ओर खिंचती है और जब श्वास छोड़ते हैं तब पेट को नीचे की ओर दबाया जाता है, जिससे वायु बाहर निकल जाये।

सावधानियाँ– पाइप के साथ अश्विनी मुद्रा का अभ्यास नहीं किया जाता। इसका केवल एक कारण है कि पाइप अन्दर न खिंच जाये। जब पाइप के माध्यम से पहले आपको यह अनुभव हो जाये कि किस प्रकार का दबाव भीतर में उत्पन्न करना है; किस प्रकार का दबाव उत्पन्न कर वायु को बाहर निकालना है, तब आप पाइप हटा सकते हैं। अश्विनी मुद्रा के माध्यम से इस वस्ति क्रिया का अभ्यास किया जाता है। बतलाने में तो बहुत सरल है, किन्तु इसे योग्य शिक्षक के निर्देशन में ही करना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति को वस्ति का अभ्यास नहीं करना चाहिए। निम्नांकित शारीरिक दोषों की अवस्था में अभ्यास वर्जित हैउच्च रक्तचाप, हर्निया, पाचन सम्बन्धी कोई गंभीर दोष। उदर के कुछ सामान्य रोगों एवं पेचिस आदि की अवस्था में वस्ति का अभ्यास लाभप्रद होता है, परन्तु कुछ रोगों में यह वर्जित है। यदि आप उदर के किसी रोग से पीड़ित हैं, तो योग विशेषज्ञ से निर्देश लें।

अभ्यास काल– दोनों प्रकार की वस्ति का अभ्यास किसी भी समय किया जा सकता है, परन्तु प्रात:काल जलपान के पूर्व अभ्यास करना उचित होता है। यदि शरीर शुद्धिकरण के लिए आप उपवास कर रहे हैं, तो उपवास आरम्भ करने के पूर्व वस्ति का अभ्यास लाभदायक होगा। इससे अधिकतम सीमा तक शरीर का शुद्धिकरण होगा।

आवृत्ति– यदि आपके पास पर्याप्त समय है तो इस अभ्यास को तब तक कीजिए जब तक कि मल रहित स्वच्छ जल न निकलने लगे। थल वस्ति के अभ्यास की पुनरावृत्ति के लिए कोई सीमा नहीं है। परन्तु जल वस्ति का अभ्यास आवश्यकता पड़ने पर ही करना चाहिए। अत: साधारण सफाई के लिए सप्ताह में एक बार अभ्यास पर्याप्त होगा। यदि कोष्ठबद्धता रहती है तो कुछ दिनों के अन्तर से अभ्यास किया जा सकता है। जल वस्ति नियमित, अर्थात् प्रतिदिन करने का अभ्यास नहीं डालना चाहिए। बड़ी आँत में कुछ मल शेष रहना चाहिए, इसमें उन जीवाणुओं की वृद्धि होती हैं जो सामान्य स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं। वस्ति का अधिक अभ्यास करने से जीवाणुओं की वृद्धि की क्रिया में अवरोध उत्पन्न हो जाता है, साथ-ही बड़ी आँत के स्नायु को क्षति पहुँचती है।

लाभ– वस्ति बड़ी आँत की सफाई के लिए सर्वोत्तम विधि है। *'एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषं न विद्यते'* इस अभ्यास द्वारा योगी के शरीर में कोष्ठ दोष नहीं होता। आमाशय और आँत में दोष उत्पन्न नहीं होते। *'विवर्द्धयेज्जठराग्निमामवातं विनाशयेत'* जठराग्नि के अभाव में पाचनशक्ति में कमी होने के कारण जो बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे– वायु विकार, अपच, कब्जियत, पित्त, कफ इत्यादि, उन सबका नाश होता है।

इससे शक्ति का विकास होता है, उदरस्थ स्नायुओं पर नियन्त्रण प्राप्त होता है। पानी या वायु को ऊपर खींचने के लिए स्नायु-नियन्त्रण आवश्यक है। मात्र इसी क्रिया से उदर के अंगों के स्वास्थ्य एवं क्षमता में वृद्धि होती है। रक्त परिसंचरण सुचारु रूप से होता है। आन्तरिक अंगों की मालिश होती है, फलस्वरूप नाड़ियों को स्वस्थ बनाती है। रक्त शुद्ध होता है।

यदि आप बवासीर के रोग से ग्रस्त हैं, तो कुछ सावधानी के साथ जल वस्ति का अभ्यास करें। शीतल जल का प्रयोग करें, क्योंकि यह रक्ताभिसरण क्रिया को उत्तेजित करेगा। इससे तात्कालिक लाभ प्राप्त होगा। यदि आप गुदा द्वार के किसी रोग से ग्रस्त हैं, तो आपको वस्ति के बहुत आराम मिलेगा।

नेति क्रिया

नेति क्रिया षट्कर्म के अन्तर्गत शुद्धिकरण की तीसरी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य है शीर्ष प्रदेश, खोपड़ी के क्षेत्र की सफाई। नेति क्रिया आन्तरिक नाड़ियों को संवेदनशील बनाने में सहायक है। ऐसी मान्यता है कि दृष्टि से सम्बन्धित नाड़ियों का भी नेति क्रिया के द्वारा शोधन होता है और नासिका का भीतरी क्षेत्र भी नेति क्रिया से शुद्ध होता है। वैसे हठयोग में नेति के अनेक अभ्यास बताये गये हैं। पहले अभ्यास में जल का प्रयोग किया जाता है। यह बहुत प्रचलित अभ्यास है। दूसरा अभ्यास है 'सूत्र नेति'। इसमें एक धागे को नासिका छिद्रों से पार करते हैं। इसके अतिरिक्त नेति क्रिया में दूध, घी, तेल एवं मूत्र का प्रयोग भी किया जाता है।

वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्मकम् ॥50॥
साधनान्नेतिकार्यस्य खेचरीसिद्धिमाप्नुयात् ।
कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टि: प्रजायते ॥51॥

अर्थ

बालिश्तभर (आधा हाथ) लम्बा डोरा लेकर नासिका में घुसायें और मुख से बाहर निकल दें। इसे नेति कर्म कहते हैं। इसका साधन करने से खेचरी की सिद्धि, कफ-दोषों की निवृत्ति और दिव्य दृष्टि की उपलब्धि होती है ॥50-51॥

व्याख्या

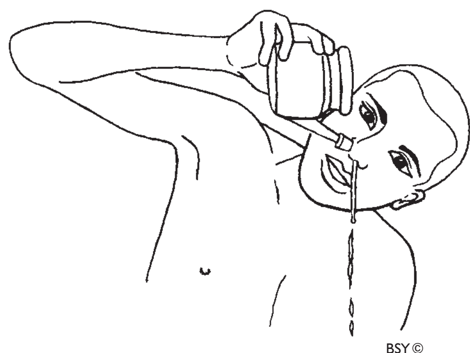
इस सूत्र को समझाने के पहले नेति से सम्बन्धित शरीर विज्ञान की चर्चा की जा रही है। इसको समझने के लिए जल नेति को पहले समझिये।

जल नेति– यह नेति क्रिया नासिका से की जाने वाली क्रिया है। इसके लिए एक टोंटी वाला लोटा होता है। इसकी टोंटी विशेष प्रकार से बनी रहती है, ताकि वह नासिका छिद्र में भलीभाँति जम जाए और जल उस नासिका छिद्र से बाहर न निकल सके।

स्थिति– उकड़ू अथवा एड़ियों पर झुककर बैठें। इसे कागासन भी कहते है। कन्धों और सिर को आगे झुकाए हुए खड़े होकर भी इस क्रिया को किया जा सकता है।

विधि– शरीर के तापमान के बराबर ताप वाले पानी को लोटे में भरकर, उसमें स्वाद के लिए थोड़ा नमक मिलाया जाता है। पानी हलका नमकीन होना चाहिए। ध्यान रहे कि सारा नमक जल में घुल जाए। साधारण जल के बदले नमकीन जल नाक में डालने का विशेष कारण है। नमकीन जल में रसाकर्षण दबाव साधारण जल से अधिक होता है। अत: कोमल रक्त वाहिकाओं और झिल्लियों में नमकीन जल इतनी आसानी से प्रवेश नहीं कर पाता, जितना कि साधारण जल। यदि आप साधारण जल से इस क्रिया को करें, तो हो सकता है आपको नाक में थोड़ा दर्द हो या और कुछ असुविधा होने लगे। यद्यपि साधारण जल लेने में नुकसान नहीं है, फिर भी नमकीन जल के साथ अभ्यास अधिक उपयुक्त होगा। लोटे की पेंदी को एक हाथ से पकड़ें, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है, फिर लोटे की टोंटी को एक नासिका छिद्र में घुसायें। टोंटी का मुँह नाक द्वार में ठीक से बैठ जाए, जिससे जल बाहर की ओर न गिर सके। सिर को एक ओर झुकाकर पानी को उसके ही दबाव से नासिका के अन्दर बहने दें। मुँह को खोलकर रखें। पानी एक नासिका से प्रवेश करके दूसरी से बाहर निकलता है। इस क्रिया के समय श्वसन-क्रिया मुँह से होती रहती है। नेति करते समय नाक से श्वास कभी नहीं लेनी चाहिए।

कभी-कभी मुँह में थोड़ा पानी चला भी जाए तो कोई बात नहीं। यदि सही विधि से इस क्रिया को करेंगे तो ऐसा कभी नहीं होगा। 10-20 सैकण्ड तक पानी को नासिका नली से बहने दें। अब नेति लोटे की टोंटी को नाक से निकालकर



एक नाक बन्द कर नाक को जोर से छिड़कें, जिससे सारा जल बाहर निकल जाए। अधिक जोर से नहीं छिड़कें, अन्यथा नासिका नली में चोट पड़ने पर खून निकल सकता है। उसके बाद दूसरी नाक को बन्द कर नाक छिड़कें। अब दूसरी नाक से इस नेति-क्रिया को 10-20 सैकण्ड तक करें।

नाक सुखाना– उपर्युक्त क्रिया के बाद नाक की नलियों को सुखा देना और उसमें पड़े सम्पूर्ण जल को निष्कासित कर देना अत्यावश्यक है। सीधे खड़े हो जायें। आगे झुकें, जिससे धड़ सीधा पृथ्वी के समानान्तर हो जाए। अँगूठे से एक नाक को उसकी बगल से दबाकर बन्द करें। अब जोर से जल्दी-जल्दी श्वास लें और छोड़ें। श्वास छोड़ने की इस क्रिया में नाक से बचे हुए जल को निकालने पर ही अधिक ध्यान दें। उसके बाद इस क्रिया को दूसरी नाक से दुहरायें। इस साधारण से अभ्यास से नाक में बचा-खुचा जल निष्कासित हो जाएगा। यदि ऐसा लगे कि अभी कुछ जल भीतर में बाकी है, तो पुनः जोर से उपर्युक्त क्रिया करें, जब तक नाक से सारा जल पूरी तरह निकल न जाए।

आवृत्ति एवं समय– इस क्रिया को प्रतिदिन किया जा सकता है। इसके लिए सबसे उपयुक्त समय प्रातःकाल है। आवश्यक हो तो इसे अन्य समय में भी किया जा सकता है। नासिका सम्बन्धी बीमारी होने पर इसे दिन में एक से अधिक बार भी किया जाता है।

सावधानियाँ– जिन्हें नाक से खून आने की पुरानी बीमारी हो, उन्हें किसी सुयोग्य और जानकार व्यक्ति के निर्देशन के बिना नेति क्रिया नहीं करनी चाहिए। नाक में जल डालते समय इस बात का ध्यान रखें कि जल अधिक गर्म न हो। जल को नाक से सुखाने के समय नाक को बहुत जोर से नहीं छिड़कें। क्रिया से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि नमक अच्छी तरह घुला है या नहीं।

यदि एक नाक से पानी डालकर दूसरी से बाहर निकालने में कठिनाई हो तो इसका अर्थ है कि नासिका की विशेष बनावट के कारण रुकावट है। ऐसी स्थिति में सुयोग्य और जानकार व्यक्ति से अवश्य सलाह लेनी चाहिए। यदि पहले-पहल नाक से पानी डालने से थोड़ी-बहुत जलन होती हो तो इसके लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए। धीरे-धीरे आदत पड़ने पर जलन होनी बन्द हो जाएगी।

लाभ– जब कुनकुना पानी नासिका छिद्रों से होकर जाता है, तब इसका पहला प्रभाव पड़ता है सायनस ग्रन्थियों पर। सायनस ग्रन्थियाँ नाक के भीतर

श्लेष्मा उत्पन्न करती हैं तथा नासिका के भीतर वायु को शरीर के अनुकूल बनाकर ही उसे फेफड़ों के भीतर जाने देती हैं। यदि वायु गरम हो तो उसे शरीर के तापमान के अनुकूल बनाकर ही भीतर जाने देती हैं। यह एक प्रकार का छनित्र है और वायु इसके छिद्रों से होकर पार जाती है। जब कभी नाक भर जाती है तब हम श्वास नहीं ले पाते, क्योंकि इस छनित्र के सभी छिद्र बन्द हो जाते हैं, साथ-ही-साथ वायु जब इस छिद्र से होकर जाती है तब शरीर के तापमान के अनुसार उस बाह्य वायु का तापमान घटता या बढ़ता नहीं है।

बहुत बार गरमी के दिनों में नाक सूख जाती है और जलन जैसा अनुभव होने लगता है। अर्थात् नासिका के भीतर जो श्लेष्मा बना हुआ है, वह सूख जाता है, जिसके कारण गरम वायु से जलन उत्पन्न होने लगती है। इस क्षेत्र को पार कर वायु सायनस से होकर जाती है। सायनस एक स्पंज की भाँति है। यह भ्रूमध्य के क्षेत्र में स्थित है। इस क्षेत्र में बहुत-सी सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। इनमें से कुछ नाड़ियों का सम्बन्ध आँखों के साथ तथा कुछ का कानों के साथ रहता है और कुछ नाड़ियाँ मस्तिष्क के भीतर जाती हैं। ये नाड़ी समूह सायनस से जुड़े रहते हैं।

आपने अनुभव किया होगा कि बहुत बार जब नाक बन्द हो जाती है, तब आँखों में भी भारीपन का अनुभव होता है; कान भी बन्द-से हो जाते हैं और मस्तिष्क में भी भारीपन लगता है। सामान्य रूप से जब श्लेष्मा भीतर सूखता है, तब हम उसे निकाल देते हैं। साथ ही श्लेष्मा में जो धूल के कण लगे रहते हैं, वे भी बाहर निकल जाते हैं। अगर आप ऐसे स्थान में हों जहाँ वातावरण में बहुत अधिक गन्दगी हो, वायुमण्डल प्रदूषित हो, वायु अशुद्ध हो, तो उस अवस्था में बहुत बार सिर में भारीपन का अनुभव, दर्द का अनुभव होता है; आँखें लाल हो जाती हैं; उनसे पानी निकलने लगता है और थोड़ा पढ़ने पर ही आँखों में जलन होने लगती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आँखों, कानों एवं सिर के भारीपन का सम्बन्ध केवल बाहर की गरमी से नहीं, बल्कि श्वास की गरमी से भी होता है। ऐसी अवस्था और ऐसे स्थान में यदि नेति का अभ्यास कराया जाता है, तो तत्काल राहत मिलती है। मान लीजिये कोयले की खादान का क्षेत्र है और कोयले का चूरा चारों ओर फैला है। ऐसे स्थान में जब आप नाक साफ करते हैं, तब काला-काला श्लेष्मा बाहर निकलता है। ऐसा भी देखा गया है कि जो कर्मचारी कोयले की खादानों में काम करते हैं उनके फेफड़ों में कोयले के कण पाये

जाते हैं। उस क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों को श्वसन सम्बन्धी रोग बहुत होते हैं। साधारणत: केवल नाक छिड़कने से सभी अशुद्ध पदार्थ नहीं निकल पाते। सूखे और चिपके हुए कण बचे रहते हैं, इसी कारण नेति का अभ्यास आवश्यक है।

नेति क्रिया से फेफड़ों में पहले से जमे कण बाहर निकलते हैं, लेकिन ऐसा वहीं होता है जहाँ वातावरण प्रदूषित हो। श्वसन एक ऐसी प्रक्रिया है, जिस पर लोग अधिक ध्यान नहीं देते। जीवनपर्यन्त यह क्रिया सतत् चलती रहती है। अनजाने में भी चलती रहती है। रात को जब सोते हैं, तब भी श्वास चलती रहती है, लेकिन नाक के प्रति व्यक्ति तभी सजग बनता है जब भ्रूमध्य क्षेत्र में श्लेष्मा जमा हो जाये, बढ़ जाये या सायनस ग्रन्थियों में सूजन आ जाये, जिसके कारण नासिका में साइनोसाइटिस, ब्रोंकाइटिस जैसे रोग उत्पन्न होते हैं और हम सोचते हैं कि मेरी एक नाक भी है जिसका ध्यान रखना है।

इस प्रकार जल जब नासिका छिद्र में प्रवेश करके बाहर निकलता है तब तीन प्रक्रियाएँ एक साथ होती हैं। पहली प्रक्रियाप्रवाह की धार से मल या श्लेष्मा पानी में मिलकर दूसरी नासिका से बाहर निकलता है। जुकाम होने पर जब लोग नेति का अभ्यास करते हैं तब पहले पानी नहीं निकलता। पहले तो श्लेष्मा निकलता है और उसके साथ-साथ पानी की बूँदें निकलती हैं। अर्थात् श्लेष्मा भीतर में ढीला होकर धीरे-धीरे बाहर निकल रहा है। इसमें नासिका के भीतर स्थित श्लेष्मा झिल्ली की, जिससे वायु भीतर प्रवेश करती है, सफाई होती है।

जब पानी नासिका और भ्रूमध्य के क्षेत्र में प्रवेश करता है, उस क्षेत्र को पार करता है, तब उस क्षेत्र में जितनी नाड़ियाँ हैं, उनमें हलकी संवेदना उत्पन्न होती है। यदि आँखों या कानों से सम्बन्धित कोई कष्ट हो तो नेति क्रिया का अभ्यास उसके निराकरण में भी सहायक है। इस क्रिया से कभी-कभी आँसू भी निकलते हैं। ऐसा नहीं कि ये आँसू किसी प्रकार का कष्ट देते हैं या इनसे जलन होती है। दृष्टि से सम्बन्धित जो नाड़ी शिरायें हैं, उनमें नेति क्रिया के द्वारा संवेदना उत्पन्न होती है। इसी कारण आँखों से पानी निकलता है। अगर कान सम्बन्धी कोई कष्ट हो, तो वह भी दूर होने लगता है। ऐसा अनुभव होता है जैसे कानों को पानी से साफ किया हो। कानों की सफाई करने पर भीतर में जैसी संवेदना उत्पन्न होती है, वैसी ही नेति क्रिया से भी होती है।

'नेति क्रिया' इसका शास्त्रीय नाम है। इसका आधुनिक, वैज्ञानिक नाम है– 'ई.एन.टी. केयर' क्रिया। कान, नाक और गले से सम्बद्ध क्रिया। इस क्रिया से गले की भी सफाई होती है, अर्थात् वाणी से सम्बन्धित जो नाड़ियाँ हैं, वे भी उत्तेजित एवं प्रभावित होती हैं। सर्दी-जुकाम के उपचार के लिए इससे बढ़कर कोई सहज और उत्कृष्ट उपाय नहीं है। नेति क्रिया के द्वारा नाक के श्लेष्मा में इकट्ठे और पनपते हुए सभी कीटाणुओं को बाहर निकाला जाता है। यदि सर्दी नहीं भी हुई तो भी नियमित रूप से नेति करने से नाक की नली की सफाई होते रहने के कारण उसमें अधिकाधिक दक्षता बनी रहती है और इस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने में पूर्ण सहायता मिलती है। नाक बन्द रहने पर मुँह से श्वास लेने से भीतर जाने वाली वायु का शुद्धिकरण ठीक से नहीं हो पाता तथा अनेक प्रकार के कीटाणु सीधे फेफड़ों में प्रवेश कर जाते हैं और शरीर को कमजोर बना देते हैं।

यह क्रिया आँखों की स्वच्छता तथा दृष्टि को सुरक्षित रखने के लिए सर्वोत्तम क्रिया है। जल नेति द्वारा अन्दर जाने वाला जल दृष्टि से सम्बन्धित अंगों एवं स्नायुओं को प्रभावित करता है। आँखों की ओर आने वाली रक्त वाहिनियों की गति थोड़े समय के लिए बढ़ जाती है, जिससे उन अंगों को अधिक रक्त प्राप्त होता है। इससे आँखों की गन्दगी को बाहर फेंकने में सहायता प्राप्त होती है।

यह पाया गया है कि बहुत बार आँखों से सम्बन्धित रोग मात्र इसी क्रिया से दूर हो जाते हैं। अगर आँखों में दोष प्रारम्भिक अवस्था में हो, तो वह नेति क्रिया के अभ्यास से दूर हो जाता है। नेति के इस प्रकार के परिणाम प्राय: देखे गये हैं। साथ-ही लोगों के अपने-अपने अनुभव होते हैं। किसी का सरदर्द ठीक हो जाता है, तो किसी की वाणी में स्पष्टता आ जाती है। नेति का 'एलर्जी' पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। एलर्जी अनेक प्रकार की होती है। विज्ञान सौ से अधिक एलर्जी की जाँच कर चुका हैधुँए से एलर्जी, धूल से एलर्जी, कपड़े से एलर्जी, वातावरण से एलर्जी, पंखा चलने से एलर्जी, इत्यादि।

यदि किसी प्रकार का श्वसन सम्बन्धी रोग, जैसे, दमा या ब्रोंकाइटिस हो, तो उसका एक कारण एलर्जी भी है। नेति क्रिया के अभ्यास से ये बीमारियाँ भी ठीक हो जाती हैं, अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे अनिद्रा एवं थकावट दूर होती हैं। नासिका के उन सूक्ष्म नाड़ी तन्तुओं पर, जो आँख और कान की नाड़ियों से जुड़े रहते हैं, इसका बहुत अच्छा प्रभाव

पड़ता है। श्वसन क्रिया सहज हो जाने के कारण फेफड़े को शुद्ध ऑक्सीजन काफी मात्रा में मिलती है और इस कारण इस प्रकार की कोई बीमारी नहीं होने पाती और शरीर सदा स्वस्थ रहता है। यह है नेति क्रिया की दैनिक जीवन में उपयोगिता।

सूत्र नेति– नाक के भीतर की हड्डी या कोई मांसपेशी बढ़ जाये तो चिकित्सक शल्यक्रिया की सलाह देते हैं। बहुत बार यह भी देखा गया है कि इससे रोग का अस्थायी निवारण तो हो जाता है, किन्तु पाँच-छ: साल बाद वह फिर बढ़ती है और पुन: शल्यक्रिया करनी पड़ती है। यदि श्वसन प्रणाली या शीर्ष प्रदेश में इस प्रकार की कोई समस्या हो जाये, तो उसके लिए योग में सूत्र नेति का अभ्यास है। सूत्र नेति द्वारा दोनों नासिकाओं में उत्पन्न अवरोध दूर किये जाते हैं, जिससे प्राण वायु के आवागमन में सुविधा होती है। सूत्र नेति के अभ्यास को ही महर्षि घेरण्ड ने इस मन्त्र में समझाया है। इस मन्त्र में इसके शारीरिक और आध्यात्मिक लाभों का वर्णन किया गया है। इस नेति में दो प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग किया जा सकता है

1. लम्बी, पतली रबर की ट्यूब, जिसे 'कैथेटर' कहते हैं। यह आपको किसी भी ओषधि की दुकान में मिल सकती है। ये कई आकारों में मिलती हैं। आप मोटी या पतली, जैसी चाहें खरीद सकते हैं। साधारणतया 4, 5 एवं 6 नम्बर का कैथेटर सभी लोग उपयोग में ला सकते हैं।
2. सूती धागों से तैयार किया गया सूत्र।

सूत्र बनाने की विधिलगभग 7-8 इन्च लम्बे, सात-आठ महीन सूती धागे लीजिए। सब धागों के सिरों को मिलाकर पकड़िये। कुछ मोम को गरम कीजिए। धागों के सिरों को पकड़कर मोड़िये और रस्सी की तरह बटिए। सूत्र के आगे के कुछ हिस्से को करीब 4 इन्च मोम में डुबाकर कड़ा होने दें। अब दूसरे सिरे को मोड़ते जाइये और पहला सिरा कड़ा होने पर दूसरे सिरे को भी मोम में डुबाकर कड़ा होने दें। सूत्र का व्यास नासिका के आकार पर निर्भर है। हर एक आदमी की नासिका छिद्रों का आकार अलग होता है; किसी का बड़ा होता है, तो किसी का छोटा होता है।

आसन– सूत्र नेति के लिए सबसे अच्छा आसन है उकडू बैठना, परन्तु आप खड़े होकर भी इसका अभ्यास कर सकते हैं।

विधि– कैथेटर या सूत्र किसी भी एक चीज का प्रयोग किया जा सकता है। कैथेटर के पतले सिरे को धीरे से दाहिनी नासिका में डालिए या इसी प्रकार सूत्र



के कड़े भाग को धीरे-धीरे अन्दर डालिए। सूत्र को अन्दर डालते समय धीरे से घुमाते जाना होगा, ताकि वह आसानी से ऊपर चढ़ सके। सूत्र या कैथेटर अन्दर डालते समय जोर से एकदम अन्दर डालने का प्रयत्न न करें।

सूत्र नेति के अभ्यास की विशेषता यह है कि इसमें सूत्र या धागे का दूसरा छोर मुँह से निकलता है, लेकिन सूत्र अन्दर जाकर घूम नहीं सकता, क्योंकि वह थोड़ा कड़ा रहता है। उसे भीतर प्रवेश कराने के लिए मोम का प्रयोग करते हैं ताकि एक सेन्टीमीटर तक का आरम्भिक सिरा कड़ा रहे और उसे अन्दर ढकेला जा सके। इस प्रकार कड़ा होने के कारण जब वह नाक में प्रवेश करके गले की ओर जाता है तब मुँह में अंगुली डालकर उसे बाहर निकाल लेते हैं। अब सूत्र के दोनों छोरों को हाथ से पकड़ लीजिए। सावधानीपूर्वक आगे-पीछे खींचिये। यदि आपको नाक या मुँह में दर्द होने लगे तो अभ्यास रोक दीजिए। सूत्र को नाक से बाहर निकालिये। यह क्रिया दूध या दही को मथने के समान ही है। एक नाक को साफ करने के पश्चात् दूसरी को साफ करते हैं। अभ्यास के बाद सूत्र को स्वच्छ जल से साफ करके सुखा लीजिए।

समय एवं आवृत्ति– सूत्र को अन्दर-बाहर खींचते हैं तो आरम्भ में जरूर कठिनाई होती है, क्योंकि नाड़ियों एवं श्लेष्मा झिल्ली को दृढ़ बनने में कुछ समय लगता है। जैसे-जैसे ये नाड़ियाँ मजबूत होने लगेंगी, इनकी कार्यशक्ति बढ़ेगी। इसलिए अभ्यास को धीरे-धीरे बढ़ाना होगा। ज्यादा-से-ज्यादा 14 बार करें, इससे अधिक नहीं। सूत्र नेति का अभ्यास सप्ताह

में एक बार करना चाहिए, प्रतिदिन नहीं। इसके अभ्यास का सर्वोत्तम समय है प्रात:काल नाश्ते के पूर्व।

सहायक अभ्यास– सूत्र नेति के बाद जल नेति करना जरूरी है। जल नेति से नासिका के मार्ग में जमी गन्दगी पानी के साथ बाहर निकल जाती है। सूत्र नेति के अभ्यास के पश्चात् नासिकाओं में सूखापन जैसा अनुभव होगा, अत: उसके बाद जल, दुग्ध या धृत नेति कर लेना चाहिए। उससे नासिका में तरलता आ जायेगी। इस नेति में दूध या धृत की मात्रा बहुत कम होनी चाहिए।

टिप्पणी– यदि सर्दी में नाक भारी हो जाए या एक नाक बन्द हो तो पहले जल नेति करें, उसके बाद सूत्र नेति करने में सुविधा होती है। सूत्र नेति के बाद पुन: जल नेति करना जरूरी है।

सावधानियाँ– नासिका बहुत ही कोमल एवं नाजुक अंग है। अत: यदि सूत्र नाक में नहीं जाये, तो जोर लगाने का प्रयत्न न करें। बहुत धीरे-धीरे सावधानी के साथ सूत्र को नाक में आगे खिसकायें। यदि सूत्र आगे न बढ़ रहा हो तो किसी योग शिक्षक की सलाह लेना जरूरी है। सूत्र को नाक में डालने के पूर्व देख लीजिए कि सूत्र साफ है या नहीं।

जिनको नाक से खून बहने की शिकायत हो, वे इस अभ्यास को विशेषज्ञ की सलाह लेने के बाद ही करें।

लाभ– सूत्र नेति से श्लेष्मा झिल्ली की अच्छी मालिश होती है, उसकी क्रियाशीलता बढ़ती है और रक्त प्रवाह तेज होता है, नासिकाओं को पर्याप्त मात्रा में रक्त मिलता है। रुई के धागे या चिकने कैथेटर से भीतर में जो घर्षण की क्रिया होती है, उससे सायनस ग्रन्थि की सूजन कम होती है, उस पर दबाव पड़ता है। यदि हड्डी बढ़ी हुई हो, तो उसका भी घर्षण सूत्र नेति से होता है और बढ़ी हुई हड्डी कम होने लगती है। इस प्रकार सायनस या राइनाइटिस होने पर या हड्डी बढ़ने पर इसके अभ्यास से राहत मिलती है। योग में इसके लिए नेति का एक अन्य अभ्यास भी है।

स्वमूत्र के मध्य भाग को, प्रारम्भ और अन्त का थोड़ा-थोड़ा छोड़कर, एक पात्र में एकत्र करते हैं और उसकी एक-दो बूँदें शुद्ध पानी में मिलाते हैं। स्वमूत्र बहुत अच्छा संक्रमण अवरोधक है। कुछ लोग तो सीधे स्वमूत्र को ही इकट्ठा करके नेति में उसका प्रयोग करते हैं, लेकिन उसके बाद सादे पानी से नेति करनी चाहिए, क्योंकि मूत्र में बहुत-से अम्ल होते हैं। उनमें सबसे तीव्र है यूरिक अम्ल,

जो विष को जला देता है और विकारों को समाप्त कर देता है। लेकिन साथ-ही-साथ यह क्रिया आन्तरिक अंगों को भी सुखा देती है, इसलिए अगर आप केवल मूत्र का प्रयोग करते हैं तो उसके पाँच-दस मिनट बाद सादे पानी से नेति करें। अत: केवल उपचार की दृष्टि से नेति के लिए स्वमूत्र का प्रयोग होता है।

इसके बाद हठयोग के साधक नेति को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार के पदार्थों का भी प्रयोग करते हैं, जिनमें पहला है 'दूध', इसके बाद 'घी'। आधा कटोरा घी लेकर अभ्यास करना चाहिए। उसे पुन: प्रयोग कर सकते हैं। एक नासिका में डालकर, दूसरी से गिरने पर उसे इकट्ठा कर दूसरी नासिका में डालकर प्रयोग कर सकते हैं। पहले पानी से नेति क्रिया करके नासिका को धो लेते हैं, फिर दूध या घी या किसी खाद्य तेल से नेति करते हैं। मूँगफली या जैतून का तेल भी प्रयोग में लाया जा सकता है। सरसों के तेल से जलन होती है, लेकिन कुछ लोग इसका भी प्रयोग करते हैं। तिल का तेल भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार नेति क्रिया के अन्तर्गत ये सब अभ्यास किये जाते हैं।

नेति क्रिया से मस्तिष्क शान्त होता है। फलस्वरूप तनाव या सुस्ती दूर होती है। मस्तिष्क में उत्तेजना हो या गरमी हो, या मिर्गी की बीमारी हो, तो उस अवस्था में भी नेति क्रिया उपयोगी होती है। नेति क्रिया के आध्यात्मिक लाभ में कहा जाता है कि इसके अभ्यास से आज्ञा चक्र की जागृति होती है। आज्ञा चक्र की जागृति के साथ मन जब शान्त होता है, तब एकाग्रता की अनुभूति होती है और एकाग्रता के पश्चात् मनुष्य अपने कर्मों का विश्लेषण सही प्रकार से कर सकता है। कहा जाता है कि नेति क्रिया से तीसरा नेत्र खुल जाता है।

इस श्लोक में महर्षि घेरण्ड ने नेति क्रिया के तीन लाभों का वर्णन किया है। पहला लाभ है– कफ दोष दूर होता है। दूसरा लाभ है– दृष्टि दोष दूर होता है तथा दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। तीसरा लाभ है– खेचरी मुद्रा की सिद्धि प्राप्त होती है। खेचरी मुद्रा की सिद्धि प्राप्ति की अवस्था है। खेचरी मुद्रा के बारे में यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि इसकी सिद्धि के पश्चात् योगी अपने शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करता है। शारीरिक दोषों का अभ्यन्तरण कर सकता है। इससे आकाश गमन की सिद्धि प्राप्त होती है। अन्य अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

लौलिकी (नौलि)

अमन्दवेगेन तुन्दं भ्रामयेदुभपार्श्वयोः ।
सर्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्द्धनम् ॥52॥

अर्थ

उदर को दोनों पार्श्वों में अत्यन्त वेगपूर्वक घुमाना चाहिए। यह लौलिकी, अर्थात् नौलि कर्म सब रोगों का नाशक और जठरानल का उद्दीपक है ॥52॥

व्याख्या

इस मन्त्र में षट्कर्म की चौथी क्रिया का वर्णन किया गया है। इस क्रिया का नाम लौलिकी है। लौलिकी शब्द की व्युत्पत्ति 'लोल' शब्द से हुई है। इसका अर्थ होता है उत्तेजनापूर्वक इधर-उधर घुमाना। पेट की मांसपेशियों और उससे सम्बन्धित सभी संस्थानों को संकुचित कर घुमाना, जिससे पाचन संस्थान के सभी अंगों, मांसपेशियों और स्नायुओं को उत्तेजना शक्ति मिले और वे ज्यादा सक्रिय हों। इसका यौगिक नाम नौलि क्रिया है। यहाँ पर संक्षिप्त रूप में यह बतलाया गया है कि पेट को, विशेषकर बड़ी आँत के हिस्से को अन्दर की ओर खींच कर उसकी मांसपेशियों को एक विशेष ढंग से दायें-बायें घुमाना है *'अमन्दवेगेन तुन्दं भ्रामयेदुभपार्श्वयोः।'* इसके आगे कहा गया है *'सर्वरोगान्निहन्तीह देहानल विवर्द्धनम्'* इससे सभी रोगों का निवारण होता है और जठराग्नि की वृद्धि होती है। यह क्रिया पूरे पाचन-संस्थान के लिए लाभदायक है, जिसका प्रभाव पूरे स्वास्थ्य पर पड़ता है। यही एक ऐसी क्रिया है, जिससे आन्तरिक अंगों की अच्छी तरह मालिश होती है, फलस्वरूप उन पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। आरम्भिक अभ्यासियों के लिए यह एक कठिन क्रिया है, किन्तु संकल्पपूर्वक नियमित अभ्यास से प्रत्येक व्यक्ति इस अभ्यास को साध सकता है।

यह षट्कर्म की चौथी क्रिया है। पहली तीन क्रियाओं में हम अपने आन्तरिक अंगों को शुद्ध करने का प्रयास कर रहे थे, चाहे वह जल के द्वारा हो या वायु के द्वारा। ये तीन अभ्यास– धौति, वस्ति और नौलि– जल या वायु द्वारा शरीर के अंगों को शुद्ध करते हैं, उनसे विकारों को दूर करते हैं। अगले तीन अभ्यासों का प्रयोजन भी शरीर शुद्धि है, लेकिन क्रिया पहले तीन की तरह नहीं है।

चौथी क्रिया, जिसे हम नौलि कहते हैं, अग्निसार का ही प्रकारान्तर है। इसका एक उच्च अभ्यास है। अग्निसार की चर्चा पहले हो चुकी है। अग्निसार के अभ्यास में पेट के भीतर की अग्नि, पाचन शक्ति या जठराग्नि तीव्र होती है। नौलि के लाभों में भी बतलाया गया है *'देहानल विवर्द्धनम्'* देह की अग्नि को, जठराग्नि को तीव्र करता है।

ये दोनों अभ्यास भले ही मिलते-जुलते हैं, लेकिन लाभ में जमीन-आसमान का अन्तर माना गया है। अग्निसार क्रिया जहाँ प्रारम्भिक स्थिति है, वहाँ नौलि क्रिया जागृति और प्राप्ति की स्थिति है।

पेट की मांसपेशियाँ– नौलि क्रिया के अभ्यास के लिए शरीर के विभिन्न अंगों की मांसपेशियों के सम्मिलित अभ्यास की आवश्यकता होती है। जैसे, पैर, हाथ, पीठ की मांसपेशियाँ आदि। परन्तु उनमें विशेषकर पेट की मांसपेशियों का नौलि क्रिया से ज्यादा सम्बन्ध है। इसमें पेट की मांसपेशियों को विशेष रूप से संकुचित करने की आवश्यकता पड़ती है। उदर के सामने के हिस्से में दो मांसपेशियाँ लम्बवत् रूप से पसली के नीचे पिंजड़े की आकृति में जघनास्थी तक जननेन्द्रिय स्थल में थोड़ा ऊपर स्थित हैं। ये दोनों मांसपेशियाँ ऊपर की तरफ थोड़ी चौड़ी और नीचे पतली हैं। उदर की इन दोनों मांसपेशियों के साथ अन्य मांसपेशियाँ भी मिली हुई हैं, जो इनके साथ-ही-साथ कार्य करती हैं। उनमें से मुख्य रूप से एक बाहर और दूसरी अन्दर की ओर तिरछे मुड़े हुए एक दूसरे को पार करते हुए कुछ पार्श्ववर्ती हिस्सों में फैली हुई हैं। उदर की मांसपेशियों के साथ ये अन्य मांसपेशियाँ एक-दूसरे से इस तरह मिली हुई हैं, जिससे पाचन-संस्थान की आन्तरिक क्रियायें अच्छी तरह चलती रहें एवं उन्हें अपने आवश्यकतानुसार पर्याप्त शक्ति मिलती रहे। इन मांसपेशियों के कारण उन सभी क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है तथा उनके आन्तरिक अंगों की सुरक्षा बनी रहती है। जिस समय इन मांसपेशियों की नियन्त्रण शक्ति कमजोर होने लगती है, तब हर्निया की बीमारी होती है। इन मांसपेशियों के सिकुड़ने से पाचन-संस्थान के आन्तरिक अंगों की मालिश होती है तथा वे एक दूसरे को भोजन पचाने में सहायता प्रदान करते हैं। नौलि क्रिया के अभ्यास से इन सभी मांसपेशियों की क्रियाओं में सक्रियता लायी जाती है।

तैयारी– नौलि क्रिया के अभ्यास के पूर्व अग्निसार क्रिया और उड्डियान बन्ध में दक्षता प्राप्त कर लेना आवश्यक है, अन्यथा नौलि क्रिया का अभ्यास अत्यन्त कठिन होगा।

नौलि के प्रकार– चार प्रकार की नौलियाँ होती हैं (1) सामान्य या मध्यम नौलि (2) वाम नौलि (3) दक्षिण नौलि (4) भ्रमर नौलि या केवल नौलि।

मध्यम नौलि– मध्यम नौलि का अर्थ है अपनी आँतों को, आमाशय की मांसपेशियों को समेट कर, उस अवस्था में कुछ देर तक रहना।

वाम नौलि– मध्यम नौलि की अवस्था में, मध्य में मांसपेशियों का जो पिण्ड-सा दिखायी पड़ता है, उसे बायीं ओर ले जाना।

दक्षिण नौलि– आमाशय की मांसपेशियों को दाहिनी ओर ले जाना।

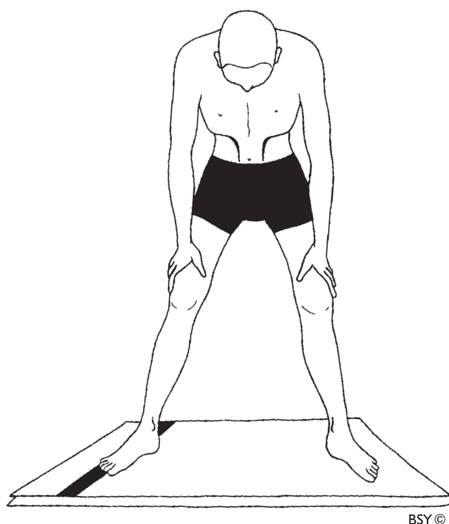
ये तीनों अभ्यास एक के बाद एक किये जाते हैं, परन्तु तीनों अभ्यास एक-दूसरे की पूर्णता में सहायक हैं। अग्निसार एवं उड्डियान बन्ध के अभ्यास से मध्यम नौलि की पूर्णता के बाद वाम और दक्षिण नौलि सरल बन जाती हैं। जब इनमें पूर्ण दक्षता प्राप्त हो जाए तो चौथी नौलि का अभ्यास करना चाहिए।

भ्रमर नौलि– चौथे प्रकार में इन तीनों को एक साथ जोड़ा जाता है। इस क्रिया को 'भ्रमर नौलि' या 'केवल नौलि' कहते हैं। इसके दो भाग हैंमांसपेशियों को पाँच-दस बार, जितना हो सके, घड़ी की सुई की दिशा में, अर्थात् दायें से बायें घुमाना और फिर विपरीत दिशा, अर्थात् बायें से दायें गोल-गोल घुमाना।

मध्यम नौलि

विधि– उत्कट आसन की स्थिति में आकर सबसे पहले अपने शरीर से श्वास को पूर्ण रूप से बाहर निकाल देना है, जिससे फेफड़ा बिल्कुल खाली हो जाए। रेचक क्रिया अच्छी तरह से पूर्ण करने के लिए पेट की मांसपेशियों को संकुचित कर उड्डियान बन्ध का अभ्यास करते हैं।

प्रारम्भ में सीधे खड़े होकर गहरी श्वास ली जाती है। उसके बाद मुँह से श्वास छोड़ते हुए आगे झुककर उत्कट आसन का अभ्यास किया जाता है। इस आसन में पैरों को एक-दूसरे से एक मीटर के अन्तर में फैला कर खड़े हो जाते हैं। घुटनों को थोड़ा-सा मोड़कर आगे की ओर झुकते हैं। हाथों को दृढ़तापूर्वक घुटनों से ऊपर जाँघों पर रखते हैं, ताकि शरीर का ऊपरी भाग उस पर आधारित रहे। इच्छानुसार अंगुलियों की दिशा अन्दर या बाहर की ओर रखें। अभ्यास की पूरी अवधि तक भुजाओं को सीधा रखते हैं। सिर को आगे झुकाकर चित्रानुसार पेट के हिस्से को देखते हैं। इसी आसन में श्वास

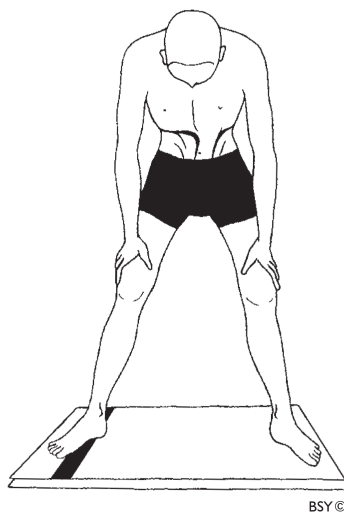


को बाहर रोके रख कर पेट को अन्दर की ओर खींचते हैं और आमाशय की मांसपेशियों पर अगल-बगल से दबाव डालकर उन्हें बीच में लाने का प्रयास किया जाता है। यह तभी सम्भव है जब पेट में वायु न हो। जब फेफड़ों में वायु और पेट में अन्न न हो तभी इसे ठीक प्रकार से किया जा सकता है। जब तक श्वास को बाहर रोक सकें, तभी तक नौलि क्रिया का अभ्यास होना चाहिए। उदर की मांसपेशियों को जितना संकुचित कर सकते हैं, कीजिए। लेकिन ज्यादा तनाव नहीं पड़ना चाहिए। यह एक आवृत्ति हुई। मध्यम नौलि के अभ्यास को तब तक जारी रखना है, जब तक इसमें आपको पूर्ण दक्षता प्राप्त न हो जाए।

वाम नौलि

जब तक मध्यम नौलि में पूर्ण दक्षता प्राप्त न हो जाए, तब तक वाम नौलि का अभ्यास न करें।

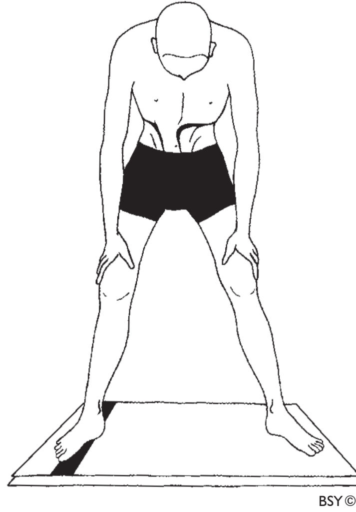
विधि– नौलि अभ्यास की स्थिति में आ जाइये। जैसा ऊपर वर्णन किया गया है। मध्यम नौलि कीजिए। इसके बाद दाहिनी ओर की मांसपेशियों को ढीला कर दें। इसके साथ ही बायीं ओर की मांसपेशियों को संकुचित करें। इसके फलस्वरूप उदर की मांसपेशियाँ स्वाभाविक रूप से बायीं तरफ खिंच जायेंगी। जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है, यह वाम नौलि का अभ्यास हुआ।



बायें हाथ की मांसपेशियों का संकुचन नये अभ्यासियों के लिए आसान नहीं है। यह केवल अभ्यास से ही सम्भव है। यदि आप दाहिने हाथ के दबाव को दाहिनी जाँघ पर से ढीला करते हुए बायीं जाँघ पर बायें हाथ से सीधे दबाव डालें तो यह अभ्यास आसान हो जायेगा। उसके साथ ही यदि आप थोड़ा आगे की ओर बायें होते हुए झुक जायें तो इस क्रिया को करने में ज्यादा आसानी होगी। आप स्वयं प्रयास करके देखिये। उदर के बायें भाग की मांसपेशियों को जितना हो सके संकुचित कीजिए। तब इसके बाद पुनः मध्यम नौलि अभ्यास की स्थिति में आ जाइये। पुनः मांसपेशियों को ढीला कीजिए और उड्डियान बन्ध की स्थिति में आ जाइये। पुनः श्वास लें और पेट की मांसपेशियों को फैलने दें। इसके बाद सहज श्वास तब तक चलती रहेगी जब तक हृदय एवं श्वास की गति सामान्य न हो जाए। इसके बाद दक्षिण नौलि का अभ्यास करें।

दक्षिण नौलि

विधि– वाम नौलि के अभ्यास के बाद उदर के बायें भाग की मांसपेशियों को ढीला करें और दाहिने भाग की मांसपेशियों को संकुचित करें। वे मांसपेशियाँ संकुचित होकर पेट के दाहिने भाग में लम्बवत् धनुष की भाँति खड़ी हो जायेंगी। यही दक्षिण नौलि की अन्तिम स्थिति है। यदि आप थोड़ा आगे झुक कर बायीं



जाँघ को ढीला रखते हुए दाहिने हाथ से दायीं जाँघ पर दबाव डालें तो यह क्रिया अधिक आसान हो जायेगी। जितनी देर तक आसानी से श्वास बाहर रोक सकें, संकुचन की स्थिति बनाये रखें, अधिक दबाव नहीं पड़ना चाहिए। इसके बाद पुन: मध्यम नौलि की स्थिति में आ जाइये। तत्पश्चात् मांसपेशियों को ढीला करके उड्डियान बन्ध लगा लीजिए। तब धीरे-धीरे श्वास लेते हुए बन्ध खोल दीजिए। इसके बाद सहज श्वास तब तक चलती रहेगी जब तक हृदय और श्वास की गति सामान्य न हो जाए। इसके बाद पुन: एक बार वाम नौलि करें, फिर दक्षिण नौलि।

इस तरह वाम और दक्षिण नौलि का अभ्यास उपलब्ध समय और अपने सामर्थ्य के अनुसार करते रहें। शीघ्र सफलता पाने के लिए इतना अधिक अभ्यास न करें कि तनाव आ जाये।

नये अभ्यासी मांसपेशियों को क्रमिक रूप से संकुचन और विश्राम की स्थिति में लाने का अभ्यास करें, इससे उन पर नियन्त्रण रहेगा। नौलि का अभ्यास करते समय अपना पूरा ध्यान मांसपेशियों के संकुचन पर ही रखेंगे तो स्वेच्छापूर्वक उन पर आसानी से नियन्त्रण स्थापित कर सकते हैं।

श्वास– क्रिया प्रारम्भ करने के समय श्वास की गति सामान्य रहेगी। उदर की मांसपेशियों का संकुचन करने के पूर्व पूरी श्वास छोड़कर उड्डियान बन्ध लगा लीजिए। संकुचन के समय श्वास बाहर रुकी रहेगी। संकुचन को ढीला

कर सामान्य स्थिति में आते समय बहुत नियन्त्रित ढंग से धीरे-धीरे श्वास लेनी होगी। पुन: दूसरी आवृत्ति शुरू करने तक सहज श्वास चलनी चाहिए।

भ्रमर नौलि

विधि– पहले मध्यम नौलि कीजिए। उसके बाद वाम नौलि कीजिए। पुन: उड्डियान बन्ध लगाइये। इसके बाद फिर दक्षिण नौलि का अभ्यास कीजिए। अन्त में फिर से मध्यम नौलि कीजिए। इस तरह यह पेट की मांसपेशियों को घुमाने की प्रक्रिया हुई। सारी क्रिया क्रमिक रूप से होनी चाहिए। इस प्रक्रिया को बढ़ाइये। एक श्वास में जितनी बार गत्यात्मक ढंग से मांसपेशियों को घुमा सकते हैं, घुमाइये, लेकिन अधिक तनाव नहीं पड़ना चाहिए। अब उनको घुमाने की क्रिया बन्द कर दीजिए। पेट की मांसपेशियों को ढीला कीजिए। पुन: श्वास अन्दर लीजिए। यह एक आवृत्ति हुई। जब तक हृदय गति सामान्य न हो जाए, तब तक विश्राम कीजिए, अन्यथा हानि हो सकती है। इसके बाद पुन: श्वास बाहर छोड़कर उड्डियान बन्ध लगाइये। श्वास को बाहर ही रोक कर उदर की मांसपेशियों को विपरीत दिशा में घुमाइये। क्रम इस तरह होगा– मध्यम नौलि, दक्षिण नौलि, उड्डियान बन्ध, वाम नौलि। अन्त में फिर से मध्यम नौलि कीजिए। इस क्रिया को तेजी से कई बार कीजिए, इस समय श्वास बाहर ही रुकी रहेगी। इसके बाद मांसपेशियों के संकुचन को ढीला कीजिए और श्वास लीजिए। इस तरह इसकी दूसरी आवृत्ति हुई।

पेट की मांसपेशियों को घुमाने की क्रिया तेजी से की जाय अथवा धीरे-धीरे, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, मुख्य बात है कि घुमाने की क्रिया क्रमबद्ध और लयबद्ध होनी चाहिए।

श्वसन– मध्यम नौलि करने के पूर्व पूरी श्वास बाहर छोड़िये। पेट की मांसपेशियों को चक्राकार घुमाते समय श्वास बाहर रुकी रहेगी। मध्यम नौलि को शिथिल करते समय फिर से श्वास लीजिए। एक क्रिया समाप्त होने के पश्चात् बीच में थोड़ा विश्राम करें। इस बीच श्वास क्रिया सामान्य रूप से चलती रहेगी। तत्पश्चात् दूसरी आवृत्ति कर सकते हैं।

समय एवं आवृत्ति– नौलि क्रिया का अभ्यास खाली पेट होना चाहिए। सबसे उत्तम समय प्रात:काल है। नाश्ते के पूर्व ही इसका अभ्यास होना चाहिए, अन्यथा भोजन के पाँच-छ: घण्टे बाद नौलि क्रिया का अभ्यास किया जा सकता है। प्रारम्भिक अभ्यासी के लिए 5-6 आवृत्ति का अभ्यास पर्याप्त है। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते 10 आवृत्ति तक अभ्यास कर सकते हैं।

क्रम– शरीर शुद्धि के अभ्यासों, षट्कर्मों में इसे चौथा स्थान दिया गया है; इसका भी एक कारण है। पहले हम अपने शरीर को शुद्ध करते हैं; उससे विकारों को दूर करते हैं। आन्तरिक अपद्रव्यों को दूर करते हैं। अपने अन्दर उत्पन्न दोषों को दूर करते हैं। इसके बाद शरीर की आवश्यकता होती है शक्ति। शक्ति प्राप्त करने के लिए कुछ अन्य अभ्यासों की आवश्यकता होती है। इनमें पहला है 'नौलि', दूसरा है 'त्राटक' और तीसरा है 'कपालभाति'। जो षट्कर्मों में क्रमश: चौथे, पाँचवें और छठे स्थान पर आते हैं। अत: जब हमारा शरीर आन्तरिक रूप से शुद्ध हो जाता है, तब इन तीन क्रियाओं का अभ्यास किया जाता है। नौलि क्रिया के अभ्यास से शरीर की संवेदनात्मक स्थिति में जो स्पन्दन नाड़ी क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं या जिस मानसिक एकाग्रता की प्राप्ति होती है, उसके कारण चेतना बहुत शीघ्र एक अवस्था को पार कर दूसरी में पहुँचती है।

घेरण्ड संहिता में सप्तांग योग का वर्णन किया गया है। ये सात अवस्थायें हैं– शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्त। इस प्रकार शोधन के बाद दृढ़ता प्राप्त होती है। आसनों के माध्यम से शुद्धिकरण के बाद, शरीर को सुदृढ़ बनाना; शक्ति प्रदान करना, जिसका प्रयोग हम दृढ़ता प्राप्त करने के लिए कर सकें, षट्कर्म के चौथे, पाँचवें और छठे अभ्यास का लक्ष्य होता है जठराग्नि में तीव्रता तथा अन्य लाभ स्वत: प्राप्त होते है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्राणायाम की सिद्धि के बिना यह अभ्यास नहीं होता। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग के अपने सूत्रों में चार प्रकार के प्राणायामों का वर्णन किया है। इनमें से दो प्राणायामों को अन्तरंग कुम्भक तथा दो को बहिर्कुम्भक के साथ किया जाता है।

अन्तरंग कुम्भक का अभ्यास सरल है। इसमें शरीर को अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ता। कोई भी व्यक्ति श्वास को बीस-पचीस सैकण्ड तक भीतर रोक सकता है, अधिक घबराहट नहीं होती। वायु यदि शरीर के भीतर हो तो कुछ विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उसके भीतर रहते रक्त का शुद्धिकरण होता रहता है और उसे ऑक्सीजन भी मिलती रहती है। रक्त शुद्ध होकर हृदय में जाता है। हृदय से फिर उसे पूरे शरीर में भेजा जाता है। किन्तु बहिर्कुम्भक बहुत कठिन है। जब आप अपने शरीर से वायु बाहर निकाल देते हैं, तब फेफड़ों के भीतर एक शून्य उत्पन्न हो जाता है। इस स्थिति को अधिक समय तक रोका नहीं जा सकता, क्योंकि इसका प्रभाव रक्त के प्रवाह पर पड़ता है,

जिसके कारण दिल पर अधिक दबाव पड़ता है। दिल की धड़कन बढ़ जाती है, क्योंकि उस समय ऑक्सीजन की कमी हो जाती है, जिसका प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है। इस कमी को दूर करने के लिए रक्त संचार तीव्र हो जाता है, जिसके कारण हमारे शरीर के भीतर की ऑक्सीजन जल्दी समाप्त हो जाती है और कार्बन-डाय-ऑक्साइड की मात्रा में वृद्धि होती है। इस प्रकार हम दस-पन्द्रह सैकण्ड से अधिक श्वास को बाहर नहीं रोक सकते, पुन: श्वास लेने की आवश्यकता पड़ती है।

प्राणायाम के माध्यम से हम अपने शरीर के तन्त्रिका-तन्त्र और प्राणशक्ति को सन्तुलित रख करते हैं। श्वास को रोककर रखने से, चाहे अन्तरंग कुम्भक हो या बाह्य कुम्भक, शरीर की क्षमता बढ़ती है। शरीर के भीतर विभिन्न स्थितियों को उत्पन्न करने के लिए हम अन्तर या बाह्य कुम्भक का अभ्यास करते हैं। प्राणायाम सिद्धि की अवस्था का प्रयोग कुण्डलिनी योग तथा हठ योग में कुण्डलिनी जागरण तथा चक्रों के जागरण के लिए होता है। प्राणायाम के अभ्यास से जैसे-जैसे हमारी आन्तरिक क्षमता, मांसपेशियों की क्षमता और श्वास को रोके रखने की क्षमता बढ़ती है, वैसे-वैसे हमारे शारीरिक रोग दूर होने लगते हैं। जब व्यक्ति स्वयं सही ढंग से श्वास लेना सीख जाता है तब श्वास की समस्या समाप्त हो जाती है। यदि व्यक्ति स्वयं अपनी श्वास को देखकर, उसको अपने नियन्त्रण में लाने में सक्षम हो जाये तो बहुत-सी मानसिक बीमारियाँ, जैसे– गुस्सा, निराशा, तनाव, चिन्ता, इत्यादि समाप्त हो जायेंगी। इस प्रकार के प्रभाव जब हम अपने सामान्य जीवन में देखते हैं तब सोचते हैं कि यही प्राणायाम का लक्ष्य है। लेकिन प्राणायाम का वास्तविक प्रयोग तभी होता है जब इसे चक्र उत्थान, प्राण उत्थान और कुण्डलिनी जागरण के लिए प्रयुक्त किया जाये।

नौलि क्रिया में प्राणायाम की सिद्धि और विशेषकर बाह्य कुम्भक की सिद्धि सबसे आवश्यक है। जब तक बाह्य कुम्भक की सिद्धि नहीं होगी, तब तक अधिक समय के लिए नौलि का अभ्यास कर ही नहीं पायेंगे।

सावधानियाँ– नौलि के अभ्यास के समय यदि आप थोड़े भी पेट दर्द का अनुभव करें तो तुरंत अभ्यास बन्द कर देना चाहिए। जब दर्द समाप्त हो जाय तो पुन: प्रयास कर सकते हैं या दूसरे दिन अभ्यास करें। परन्तु यदि दर्द बढ़ता जाये या हमेशा बना रहे तो किसी योग्य चिकित्सक या योग शिक्षक से उचित परामर्श लें।

उच्च रक्तचाप, पथरी, पेप्टिक अल्सर, आँतों में घाव एवं ड्यूडेनल अल्सर से ग्रस्त व्यक्ति नौलि क्रिया का अभ्यास न करें। गर्भवती महिलायें नौलि क्रिया का अभ्यास न करें। प्रसव के पाँच-छ: महीनों के बाद ही इसका अभ्यास कर सकते हैं। इससे उनके उदर और वस्ति प्रदेश की मांसपेशियाँ सबल और पुष्ट होंगी तथा आन्तरिक अंगों को पुन: व्यवस्थित होने में सुविधा होगी।

लाभ– कुण्डलिनी योग और हठ योग में नौलि क्रिया का अभ्यास चक्र को प्रभावित और जाग्रत करने के लिए किया जाता है। चक्र से सम्बद्ध चर्चा के पूर्व हमें चक्रों को समझ लेना चाहिए। हमारे भौतिक शरीर में चक्रों के स्थान पर नाड़ियों के गुच्छे दिखायी देते हैं। नाड़ियों के ये गुच्छे चक्रों के रूप में हमारे भौतिक शरीर के भीतर हैं और इनकी शिराएँ चारों ओर फैली हुई हैं।

नौलि का प्रभाव इन शिराओं पर पड़ता है। इस क्रिया में हम पेट को अन्दर खींचते हैं। आमाशय की सभी मांसपेशियों को संकुचित कर एक केन्द्र में ले आते हैं। केवल मध्य भाग को छोड़कर, जहाँ लगभग चार इन्च का एक लम्बा मांसपिण्ड दिखायी पड़ता है, ऐसी स्थिति हो जाती है कि आप अपनी पीठ की हड्डियाँ गिन सकते हैं। इस अवस्था में आमाशय पर तो जोर पड़ता ही है, इसके अतिरिक्त हमारी जितनी मांसपेशियाँ हैं, जितने प्रमुख नाड़ी-संस्थान हैं, सब एक विशेष स्थिति में आ जाते हैं और इस स्थिति के कारण मणिपुर चक्र को जाग्रत करने में नौलि का बहुत बड़ा योगदान है। इसके द्वारा जठराग्नि प्रदीप्त होती है। कब्ज रोग में यह विशेष लाभदायक है। नौलि क्रिया के अभ्यास से क्लोम ग्रन्थि के कार्य में सक्रियता आती है, अधिक इन्सुलिन का स्राव होता है। अत: मधुमेह के रोग में विशेष लाभ होता है। पेट की मांसपेशियाँ सबल और पुष्ट होती हैं। जब पेट की मांसपेशियाँ कमजोर होती हैं, किसी स्थान पर उनमें अनावश्यक वृद्धि हो जाती है, तो हर्निया रोग हो जाता है। परन्तु नौलि क्रिया द्वारा पेट की मांसपेशियाँ शक्तिशाली एवं नियन्त्रित हो जाती हैं, जिससे हर्निया होने की सम्भावना नहीं रहती। परन्तु यदि आपको उदर आँत वृद्धि का रोग हो तो नौलि का अभ्यास आरम्भ करने के पूर्व योग्य निर्देशक से सलाह अवश्य लें।

नौलि क्रिया से पेट के समस्त अंगों की मालिश होती है। इसका प्रभाव व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं प्राणिक चेतना पर पड़ता है। शरीर के बड़े-

बड़े अंगों को ही नहीं, वरन् सूक्ष्म अंगों, जैसे, मांसपेशियों, रक्त वाहिकाओं, धमनियों, शिराओं, तन्त्र-तन्त्रिकाओं, अंत:स्रावी ग्रन्थि, तन्त्रिका-तन्त्र, रक्त परिसंचरण तन्त्र इत्यादि को भी शुद्ध कर देती है। इन अंगों से दुर्बलता को दूर कर इनमें शक्ति के संचार तथा उत्तेजना लाने का कार्य पहली तीन क्रियाओं (नेति, वस्ति, धौति) द्वारा सम्पन्न होता है। जब इनमें शक्ति जाग्रत होती है, तब इनके भीतर विद्यमान रोग दूर होते हैं तथा रक्त प्रवाह और इनके कार्य सुचारु रूप से होते रहते हैं। यह सम्पूर्ण शरीर के भीतर प्राणशक्ति का नवसंचार करती है। इसका प्रभाव मस्तिष्क पर भी पड़ता है, जिससे उसकी कार्यक्षमता बढ़ती है।

अत: यह शारीरिक शुद्धि की एक अवस्था है। शोधन प्रक्रिया की जो व्याख्या महर्षि घेरण्ड ने यहाँ पर दी है, वह विस्तृत है। इसके कार्य हैं– स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर को शुद्ध करना, संयत अवस्था में लाना, उनसे रोगों को दूर करना, इत्यादि।

त्राटक

हठयोग की एक शोधन क्रिया के रूप में त्राटक का वर्णन किया जाता है। त्राटक की इस क्रिया के सरल रूप को सभी जानते हैं। लोगों के मन में धारणा है कि त्राटक का अर्थ किसी चीज को लगातार देखते रहना है। यह धारणा भी है कि त्राटक का अभ्यास करने से आँखों में आकर्षण शक्ति आ जाती है, जिससे किसी व्यक्ति को सम्मोहित किया जा सकता है, किसी भी प्रकार की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

ये त्राटक से सम्बन्धित सामान्य धारणायें है। योग में त्राटक को सिद्धि प्राप्ति की विधि के रूप में नहीं, वरन् एक शुद्धिकरण क्रिया के रूप में देखा गया है। इसके पूर्व के अभ्यास में हमने नौलि क्रिया के माध्यम से अपने सूक्ष्म शारीरिक संस्थानों को अपने नियन्त्रण में लाने का प्रयास किया था। उनसे विषाक्त तत्त्वों को दूर कर, उन्हें शुद्ध करने का प्रयास किया था। त्राटक में अब मस्तिष्क के क्षेत्र को शान्त और निर्मल बनाने का प्रयास किया जा रहा है। पैर से गर्दन तक के अंग नौलि के माध्यम से नियन्त्रण में आते हैं और गर्दन से ऊपर के भाग को, विशेषकर मस्तिष्क के क्षेत्र को त्राटक के अभ्यास द्वारा प्रभावित किया जाता है। महर्षि घेरण्ड ने त्राटक को शुद्धिकरण क्रिया के रूप में समझाया है।

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत् ।
पतन्ति यावदश्रूणि त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥53॥
एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम् ।
नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥54॥

अर्थ

निमेष-उन्मेष को रोक कर जब तक आँसू न गिरने लगें, तब तक किसी सूक्ष्म लक्ष्य की ओर टकटकी लगा कर देखते रहने को त्राटक कहते हैं। इसके अभ्यास से शाम्भवी मुद्रा की स्थिति होती है। नेत्र के दोषों का निवारण होकर दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है ॥53-54॥

व्याख्या

त्राटक का अर्थ है स्थिर दृष्टि से किसी एक केन्द्र को देखना। इस अभ्यास में एक लक्ष्य को निर्धारित किया जाता है। यदि सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाये तो त्राटक में तीन प्रकार के लक्ष्यों का निर्धारण करना पड़ता है। पहला, आप एक 'दर्शक' के रूप में अभ्यास स्थल पर बैठे हैं। दूसरा, जो स्थूल वस्तु आपके सामने है उसका 'दृश्य'। और तीसरा है 'दृश्य देखने की प्रक्रिया'। जब हम इन तीन लक्ष्यों का निर्धारण कर अभ्यास आरम्भ करते हैं, तब वह आन्तरिक सजगता या आन्तरिक चेतना की एकाग्र अवस्था मानी जाती है।

अभ्यास का जो लक्ष्य है, अर्थात् वह वस्तु जिस पर आप अपनी दृष्टि को बाँधे हुए हैं, उसे तब तक देखें जब तक आँखों से आँसू न गिर पड़ें। *'पतन्ति यावत् अश्रूणि।'* अश्रूणि का अर्थ है आँसू, जब तक आँसू नहीं गिरते तब तक इस क्रिया को करते रहना। *'त्राटकं प्रोच्यते बुधैः'* त्राटक को इस प्रकार जानना-समझना चाहिए। यह त्राटक का सांकेतिक भाषा में वर्णन है।

त्राटक के प्रकार– योग शास्त्र में त्राटक के तीन प्रकार माने गये हैं पहला है– बहिर्त्राटक। इसके लिए हम किसी साकार वस्तु या मूर्त्त रूप को लेते हैं। सृष्टि में जितने पदार्थ हैं, चाहे सूर्य हो, चन्द्रमा हो, तारे हों, पेड़ हो, कोई मूर्ति हो या गुरु का चित्र हो, सभी को हम प्रतीक मानते हैं। चाहे किसी वस्तु का प्रयोग कर स्थूल त्राटक का अभ्यास किया जा सकता है, बशर्ते उस वस्तु को एकटक देखने पर व्यक्ति की चेतना उसके साथ एक हो जाये। अपनी रुचि के अनुसार एक प्रतीक चुन लें, परन्तु ध्यान रखें कि आपको प्रतीक का चुनाव एक ही बार अन्तिम रूप से करना है। अपने प्रतीक को बार-बार बदलना नहीं है, क्योंकि एक प्रतीक की जो प्रतिच्छाया आपके मानस पटल पर पड़ती है, वह प्रतीक बदलने से महत्त्वहीन हो जाएगी। परिणामतः आपको पुनः उस स्थिति में आने के लिए अभ्यास को आरम्भ से शुरू करना होगा और अधिक समय लेगा। इससे आपको अभ्यास का पूरा लाभ भी नहीं मिलेगा। यदि आप एक प्रतीक चुनकर नित्यप्रति उसी पर अभ्यास करेंगे तो आपके चित्त पर उसकी छाया स्पष्ट होने लगेगी, जिससे भविष्य में आपको अन्तर्त्राटक में सुविधा होगी तथा चित्त उस प्रतीक पर जल्द ही स्थिर हो जाएगा।

साधारणतः लोग बहिर्मुखी प्रवृत्ति के होते हैं, इसलिए दो मिनट भी आँखें बन्द करना बहुत से लोगों के लिए असम्भव हो जाता है। ऐसी अवस्था में बहिर्त्राटक बहुत उपयोगी होता है। बहिर्त्राटक द्वारा आँखों को एक जगह स्थिर

करने का अभ्यास कराया जाता है, जिससे चित्त की वृत्ति को बदलकर उसे सरलता से अन्तर्मुख किया जा सके।

दूसरा प्रकार है– अन्तरंग त्राटक या अन्तर्त्राटक। इसमें आँखों को बन्द कर, मन की कल्पना शक्ति को जाग्रत कर चिदाकाश में एक दृश्य को ठहरा कर उस पर त्राटक करते हैं। इसके लिए हम आन्तरिक या मानसिक प्रतीक को चुन सकते हैं। किसी यन्त्र को, सूर्य या चन्द्र को, अपने इष्ट या गुरु को प्रतीक बनाया जा सकता है। आरम्भ में बहिरंग त्राटक के अभ्यास के बाद ही अन्तरंग त्राटक का अभ्यास सम्भव है। बाह्य त्राटक से चित्त को एक स्थान पर एकाग्र करने का अभ्यास हो जाता है और अन्त: प्रतिच्छाया को प्रकट करने में सुविधा होती है। यदि छाया अन्त:पट पर स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाये तो आपका चित्त शीघ्र ही एकाग्र हो जायेगा, क्योंकि मन में छाया के अतिरिक्त अन्य सभी विचार नगण्य हो जायेंगे। शक्ति को एक निश्चित मार्ग की ओर ले जाने के लिए अन्तर्त्राटक बहुत प्रभावशाली क्रिया है। इस त्राटक से एकाग्रता व ध्यान की अवस्था प्राप्त होती है। जो लोग आसानी से मानसिक प्रतीक को प्रकट कर सकते हैं, वे स्वतन्त्र रूप से अन्तर्त्राटक का अभ्यास कर सकते हैं।

तीसरे प्रकार का त्राटक है– अधोत्राटक। इसका अभ्यास आँखों को आधा खुला और आधा बन्द कर किया जाता है।

त्राटक के अभ्यास में आँखों की जो अवस्थायें होती हैं, उनके भी नाम हैं। खुली आँखों को कहते हैं पूर्णिमा दृष्टि। बन्द आँखों को कहते हैं अमा दृष्टि। अमा का अर्थ है अमावस्या। अधखुली आँखों को कहते हैं प्रतिपदा दृष्टि। पूर्णिमा दृष्टि का प्रयोग होता है बाह्य त्राटक में; अमा दृष्टि का प्रयोग होता है अन्तर्त्राटक में और प्रतिपदा दृष्टि का प्रयोग होता है अधोत्राटक में। नासिकाग्र दृष्टि या नासिकाग्र मुद्रा तथा शाम्भवी मुद्रा को भी अधोत्राटक के अन्तर्गत मानते हैं।

त्राटक के अभ्यास में जब दर्शक, दृश्य और दर्शन की प्रक्रिया, तीनों की सजगता रहती है तब धीरे-धीरे एक-एक कर प्रत्यय नष्ट होते जाते हैं। यह देखा गया है कि जब लोग दीर्घ अवधि तक योगाभ्यास करने के बाद त्राटक का अभ्यास प्रारम्भ करते हैं, तब एक प्रत्यय समाप्त होता है, फिर दूसरा उठता है, समाप्त होता है, फिर तीसरा उठता है, समाप्त होता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है। हठयोग में यह भी मान्यता है कि त्राटक के अभ्यास मात्र से व्यक्ति सब सिद्धियों का स्वामी बन सकता है और आत्म-साक्षात्कार की स्थिति

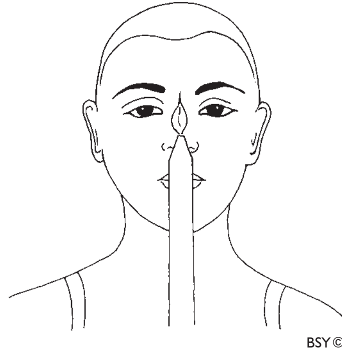
प्राप्त कर सकता है, क्योंकि इसमें मन का लय हो जाता है। त्राटक को लय योग की क्रिया के अन्तर्गत ही सिखलाते हैं।

स्थूल त्राटक में किसी बाह्य आकृति को लेना आवश्यक है। जैसा पहले भी कहा गया है कि आप चाहे किसी चीज पर त्राटक का अभ्यास कर सकते हैं, चाहे ज्योति या सूर्य पर करें या अपनी छाया पर करें या किसी प्रतीक पर करें। बाह्य वस्तु या प्रतीक पर त्राटक करते-करते सूक्ष्म त्राटक में आयें।

अन्त: एवं बहिर्त्राटक– विधि– ध्यान के किसी आसन में बैठ जाइये, जिससे आपको शारीरिक स्थिरता प्राप्त हो। पीठ और गर्दन एक सीध में रहें। इस आसन में बैठकर लगभग एक या डेढ़ फुट की दूरी पर आँखों के ठीक सामने, उनके ही तल पर किसी चीज के सहारे एक मोमबत्ती या दिया जला दीजिए। यदि आप प्रतीक को आँखों से बहुत नीचे रखेंगे, तो आपकी पीठ सीधी नहीं रह सकेगी, आपको नीचे की ओर देखना होगा। परिणामत: मस्तिष्क में तनाव की वृद्धि होगी और चित्त एकाग्र नहीं हो पाएगा। अत: प्रतीक को आँखों की सीध में रखना चाहिए। सूर्य, चन्द्र, तारा, जल, भ्रूमध्य एवं नासिकाग्र आदि पर त्राटक के अभ्यास में यह नियम लागू नहीं होता। यदि आपकी आँखों में कोई दोष हो तो प्रतीक को इस प्रकार रखें कि आपको एक ही साथ दो प्रतिबिम्ब दिखायी न पड़ें।

आँखें बन्द कीजिए और अपने पूरे शरीर का ख्याल कीजिए। सम्पूर्ण शरीर को मूर्तिवत् हो जाने दें। अब आँखें खोलकर ज्योति के बीच जो काले रंग की लौ है, उसे देखते जाइए। केवल लौ को एकटक देखिये, अन्य सभी वस्तुओं को भूल जाइए। यदि मन विचलित हो जाए, तो पुन: उसे ज्योति पर केन्द्रित करें। मोमबत्ती में आपको अनेक प्रकार की लौ दिखायी देंगी। बीच में एक काले रंग की लौ रहती है, उसे हम एकटक देखते हैं। साथ-ही-साथ शरीर की स्थिति की सजगता भी आवश्यक है। शरीर में हलचल नहीं होनी चाहिए, जिससे एकाग्रता भंग न हो। इसलिए शारीरिक स्थिरता भी आवश्यक है।

त्राटक में मुख्य प्रयत्न यह रहता है कि पलकों को झपकाना नहीं है। तीस-चलीस सैकण्ड से दो-तीन मिनट तक, जितना स्वेच्छा से बिना किसी प्रकार का तनाव उत्पन्न किये कर सकते हैं, उतना कीजिए। जब आँखों में जलन शुरू हो जाती है; अश्रु ग्रन्थियों थक जाती हैं और आँसू निकलने लगते हैं, तब उन्हें बन्द कर लेना चाहिए और तब तक बन्द रखना चाहिए जब तक चिदाकाश में ज्योति की प्रतिच्छाया को देख सकते हों। आरम्भ में यदि प्रतिच्छाया न



दिखती हो तो चिन्ता न करें। अभ्यास करते-करते वह स्पष्ट हो जाएगी। केवल प्रतिच्छाया का ख्याल करते जाइए। यदि मन में कोई विचार उठता है तो उठने दें। विचारों को साक्षी-भाव से देखते जाइए। सूक्ष्म त्राटक की ये दो अनिवार्य शर्तें हैं। आँखों को तब तक बन्द रखना, जब तक उनकी थकान न मिटे और ज्योति की प्रतिच्छाया आपको दिखायी देती रहे। जब प्रतिच्छाया धुँधली पड़ जाए, तो आँखें खोल दें और ऊपर बतलाई गयी विधि के अनुसार अभ्यास की पुनरावृत्ति करें। जब आप अभ्यास बन्द करना चाहें, तब आँखें बन्द कर लें और बन्द आँखों के सामने अन्धकार को देखते जायें। वहाँ जो कुछ प्रकट होता है, उसे देखते जायें, किन्तु अन्धकार का ख्याल बनाये रखें। कुछ मिनट तक इसका अभ्यास करें, फिर आँखें खोलकर मोमबत्ती को बुझा दें। त्राटक का अभ्यास चश्मा लगाकर नहीं करना चाहिए।

इसके साथ-ही यह भी ध्यान रखना है कि जब हम सूक्ष्म त्राटक का अभ्यास करें तब हमारा प्रतीक एक स्थान पर केन्द्रित रहे। जब हम अभ्यास करते हैं, तब यह प्रतीक एक स्थान पर रुकता नहीं है। इसका दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक कारण भी है। पहला कारण, हमारी आँखों की पुतलियाँ हमेशा हिलती रहती हैं, वे कभी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहतीं। इसलिए आँखें जब बन्द रहती हैं, तब लम्बे समय तक अपने आपको एक बिन्दु पर केन्द्रित नहीं कर पातीं और पुतलियों की गति तेज हो जाती है, तब हमें यह पलकों की फड़फड़ाहट के रूप में दिखायी देती है। अस्थिरता का दूसरा कारण मनोवैज्ञानिक है। अगर मन चंचल हो, एकाग्र न हो तो आप वस्तु के प्रतिबिम्ब को स्थिर कैसे रख पायेंगे? यह देखा गया है कि अगर मानसिक चंचलता हो तो वह दृश्य एक स्थान पर कुछ सैकण्ड से ज्यादा स्थिर नहीं रहता।

आप प्रयोग करके देख सकते हैं। मान लीजिए दिन में आप अपने कमरे में बैठे हैं। आपने एक घण्टा विश्राम किया है, थोड़ी-बहुत लिखायी-पढ़ायी की है, मन शान्त है। उस समय त्राटक कीजिए। आँखों को देखिये, वे स्थिर हैं। आप कर्मयोग करने के तुरंत बाद त्राटक कीजिए, आपको हलचल या आन्तरिक उत्तेजना, आन्तरिक चंचलता दिखायी देगी।

बहुत बार यह भी देखने में आया है, विशेषकर विदेश के कैदियों में, जिन्हें दिनभर एक छोटे से कमरे में रहना पड़ता है, वे अपने बिस्तर में लेटे-लेटे केवल छत को या एक जलते बल्ब को देखते रहते हैं और पागल हो जाते हैं, क्योंकि वे इस आन्तरिक परिवर्तन को सम्हाल नहीं पाते, सहन नहीं कर पाते। अपनी पहचान समाप्त हो रही है; बाह्य जगत् से, बाह्य अनुभूति से दूर होते जा रहे हैं। अपनी पहचान खो देना आदमी की सबसे बड़ी असुरक्षा है। धन की हानि हो जाये, आपको उतनी चोट नहीं लगेगी। आप बहुत मेहनत से मकान बनायें और वह जल जाये, तो आपको धक्का तो अवश्य लगेगा, पर उसका परिणाम उतना घातक नहीं होगा, जितना आत्म-पहचान खो देने का। यह जबरदस्त सदमा है, क्योंकि यह सम्पूर्ण मानसिक संरचना को समाप्त कर देता है।

इस अभ्यास में आपको ज्योति पर ध्यान करना है। आँखों के ज्योति पर स्थिर होते हुए भी बहुत-से विचार उठते हैं, उन्हें उठने दें। उनको मात्र साक्षी-भाव से देखते जाइये। आप केवल अपने लक्ष्य को याद रखें। यदि विचारों को दबाने का प्रयत्न करेंगे तो मानसिक तनाव बढ़ेगा। अत: विचार आते हों तो आने दें, वे स्वत: ही चले जायेंगे।

अवधि– यह कहा जाता है कि त्राटक के अभ्यास में अगर हमारा लक्ष्य शारीरिक हो, तो पाँच मिनट से ज्यादा नहीं करना चाहिए। यह समय व्यक्ति पर तथा गुरु के निर्देश पर निर्भर है। आँखों के किसी प्रकार के दोष को दूर करने के लिए पाँच मिनट का अभ्यास पर्याप्त है। इससे ज्यादा करने के लिए गुरु-निर्देश आवश्यक है। इस अभ्यास के लिए प्रात:काल या रात्रि का समय सर्वोत्तम है।

लाभ–इसमें तीन बातें कही गयी हैं। प्रथम, *'नेत्ररोगा विनश्यन्ति'* यह आँखों के दोषों को दूर करता है। यह त्राटक का शारीरिक लाभ है। द्वितीय, *'दिव्यदृष्टि: प्रजायते'* दिव्य दृष्टि उत्पन्न होती है। यह दैविक लाभ है। तृतीय, *'शाम्भवी जायते ध्रुवम्'* शाम्भवी सिद्धि प्राप्त होती है। यह इसका आध्यात्मिक लाभ है।

दृष्टि का सीधा सम्बन्ध चित्त की स्थिरता एवं एकाग्रता से होता है। वैचारिक अन्तर्द्वन्द्व से मानसिक अशान्ति एवं अस्थिरता आती है। इसके लिए त्राटक सर्वोत्तम उपाय है। आँखों को त्राटक के अभ्यास काल में स्थिर करके आप चित्त को स्थिर एवं तनाव रहित बना सकते हैं। चित्त की एकाग्रता से पीनियल ग्रन्थि खुलती है और उच्च स्थिति प्राप्त होती है। स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिए त्राटक एक सरल उपाय है। अनिद्रा एवं स्नायविक तनाव से ग्रस्त लोगों के लिए यह बहुत उपयोगी है। त्राटक से आत्मबल बढ़ता है। इसका प्रभाव मस्तिष्क तरंगों पर पड़ता है। वे तरंगें जो हमारी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक उत्तेजना से सम्बन्ध रखती हैं, धीरे-धीरे उनका लय होने लगता है और उनके कम्पन की आवृत्ति कम होने लगती है। यही सजगता मन को विचार और विकार रहित बनाती है; भावनाओं के द्वारा उत्पन्न विकारों को दूर करती है। हम भावनात्मक विकार रहित अवस्था प्राप्त करते हैं। इस प्रकार आन्तरिक उत्तेजनाओं के जितने आयाम हैं, उन्हें शान्त कर यह अभ्यास सजगता और शक्ति प्रदान करता है।

एकाग्रता और सजगता के अभ्यास के रूप में, मन को निर्विकार बनाने और अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए त्राटक का अभ्यास उत्तम माना गया है। यह मान्यता भी है कि त्राटक के अभ्यास से जब हमारा अन्तःकरण अपने आपको एक प्रत्यय, एक प्रतीक में स्थिर बना लेता है, उससे एकाकार हो जाता है, तब लय समाधि की प्राप्ति होती है। लय समाधि की प्राप्ति से व्यक्ति को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। महर्षि गोरखनाथ जी के जीवन में हम इस बात को देखते हैं। उन्होंने त्राटक के माध्यम से सिद्धि प्राप्त की थी।

दैविक लाभ में कहा गया है, *'दिव्य दृष्टिः प्रजायते।'* दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। दिव्य दृष्टि का अर्थ है 'अन्तर्दृष्टि'। इसे हम लोग प्रतीकात्मक भाषा में शिव का तीसरा नेत्र कहते हैं। यह है आज्ञा चक्र, जहाँ पर प्राण शक्ति और चित्त शक्ति का मिलन होता है। जहाँ पर वे मिलकर एक हो जाती है और एक होकर उस सात्विक अवस्था से सहस्रार तक परम शिव से मिलन के लिए जाती हैं।

मूलाधार से आज्ञा चक्र तक इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ प्रत्येक चक्र में एक-दूसरे को पार करती हैं, लेकिन आज्ञा चक्र में मिलकर एक होती हैं। अर्थात् आज्ञा चक्र से अद्वैत की अनुभूति प्रारम्भ होती है। 'मैं' और 'वह' एक हैं।

आज्ञा चक्र तक द्वैत का अनुभव चलता रहता है– मुझे यह अनुभव हो रहा है। मैं यह देख रहा हूँ। मैं भविष्य को देख सकता हूँ। मैं भूतकाल को देख सकता हूँ। मैं वर्तमान को देख रहा हूँ, इत्यादि। मैं दूसरों के विचारों को पढ़ सकता हूँ। मेरी दृष्टि में आकर्षण शक्ति है। इस प्रकार के अनुभव और भावनायें पंच तत्त्वों की सीमा को पार करने तक बनी रहती हैं। पंच तत्त्व मूलाधार से विशुद्धि तक हैं, और जब हम इन्हें पार कर जाते हैं, तब उस अवस्था को छठी इन्द्रिय का ज्ञान प्राप्त करना कहते हैं।

योग की भाषा में इसे अन्तर्दृष्टि कहते हैं, अपने इष्ट या गुरु के साथ सम्बन्ध स्थापित होना। आन्तरिक सम्पर्क और एकीकरण का अनुभव होने पर, इस अवस्था में मनुष्य भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों का ज्ञाता बन जाता है और इसे कहते हैं दिव्य दृष्टि। मन्त्र में कहा गया है कि शाम्भवी क्रिया को सिद्ध करने के लिए त्राटक सिद्ध होना आवश्यक है। शाम्भवी क्रिया बहुत सरल है। दोनों आँखों को ऊपर ले जाकर भ्रूमध्य को देखना। इसका विस्तृत वर्णन आगे दिया गया है। संक्षेप में यह समझ लेना चाहिए कि शाम्भवी दृष्टि जब सिद्ध होती है तब शाम्भवी सिद्धि प्राप्त होती है। शाम्भवी सिद्धि है, सूक्ष्म तत्त्वों पर नियन्त्रण। इसका वर्णन पुराणों में भी एक कथा के रूप में है।

सती अपने पिता दक्ष के यहाँ यज्ञ में भगवान् शिव के बिना जाती हैं और उनका तिरस्कार देख कर अपने आपको भस्म कर लेती हैं। वर्णन किया गया है कि वे एक आसन में बैठती हैं, अपनी दृष्टि को ऊपर करती हैं। उसे भ्रूमध्य में केन्द्रित करती हैं और अपने इष्ट को हृदय में धारण कर योगाग्नि से अपने शरीर को भस्म करती हैं।

इस प्रकार प्राचीन से आधुनिक ग्रन्थों तक में वर्णन किया गया है कि शाम्भवी सिद्धि से योगी सिद्धि प्राप्त करते हैं। जब सूक्ष्म शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त होता है तब व्यक्ति सशरीर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् बन जाता है और यही है *'शाम्भवी जायते ध्रुवम्।'*

कपालभाति

वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषत: ।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात्कफदोषं निवारयेत् ॥55॥

अर्थ

वातक्रम कपालभाति, व्युत्क्रम कपालभाति और शीतक्रम कपालभाति के भेद से कपालभाति तीन प्रकार की होती है। इसका साधन करने से कफ से उत्पन्न दोषों का निवारण होता है॥55॥

व्याख्या

कपालभाति की जो क्रिया है वह वास्तव में प्राणायाम की क्रिया है और इस क्रिया को प्राणायाम के सन्दर्भ में ही समझना चाहिए। अभी तक हमने षट्कर्म के विभिन्न अभ्यासों से शारीरिक अंगों को शुद्ध किया है और साथ-ही-साथ मानसिक एकाग्रता और स्थिरता को भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अब छठे अभ्यास में कपालभाति की जो विधि बतलायी जा रही है, उसका सम्बन्ध प्राणमय कोश की शुद्धि से है, क्योंकि प्राणमय कोश की शुद्धि इस अभ्यास से होती है।

कपालभाति को शोधन क्रिया के अन्तर्गत माना गया है, लेकिन यह एक प्रकार का प्राणायाम भी है। कुछ लोग प्राणायाम का अर्थ लगाते हैं प्राणों का आयाम। कुछ लोग प्राण के आयाम का अर्थ प्राणों की लम्बाई से लेते हैं। प्राणों को लम्बा बनाना प्राणायाम का उद्देश्य है, यह कुछ लोगों की मान्यता है। कुछ लोग आयाम को विस्तार के रूप में लेते है, प्राण के क्षेत्र में विस्तार होना। कुछ लोग इसे जागृति के सन्दर्भ में लेते हैं– प्राण की जागृति।

हठयोग में इसे लम्बाई के रूप में लिया गया है, क्योंकि यहाँ पर विशेषकर एक ही प्राणायाम की चर्चा की गयी है, और वह है कपालभाति प्राणायाम। अगर वे दूसरे प्राणायामों की चर्चा करते, तो प्राणायाम की परिभाषा बदल जाती।

यह मान्यता है कि जब प्राणायाम के माध्यम से श्वसन क्रिया को नियन्त्रण में लाया जाता है तब पूरक और रेचक– श्वास की ये दो गतियाँ मस्तिष्क को शान्त और शुद्ध बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं। जब हम प्राणों के क्षेत्र में

जमे हुए विकारों को हटाते हैं; जब हमारे शरीर के अलग-अलग क्षेत्रों के अवरोध दूर होते हैं; जब प्राणों का प्रवाह हमारे शरीर में सही ढंग से होने लगता है, अर्थात् अबाध प्रवाह होता है, तब ही मस्तिष्क और शरीर में स्थिरता की अन्तिम स्थिति प्राप्त होती है। यह स्थिरता अन्नमय कोश और प्राणमय कोश की है।

इस सन्दर्भ में महर्षि घेरण्ड ने तीन प्रकार के प्राणायामों की चर्चा की है जो कपालभाति के ही प्रकारान्तर हैं। पहला है– वातकर्म कपालभाति, दूसरा है– व्युत्क्रम कपालभाति और तीसरा है– शीतकर्म कपालभाति। प्राणायाम को सिद्ध करने के लिए जहाँ उसके अभ्यास में, उसके विज्ञान में केवल वायु का प्रयोग किया जाता है, वहीं हठयोग में वायु के साथ-साथ जल का भी प्रयोग किया जाता है। इसके एक प्रकार के अभ्यास में नेति क्रिया की पुनरावृत्ति होती है।

योग में और प्राणायाम विज्ञान में जब कपालभाति सिखाते हैं, तब उसमें रेचक पर ही जोर दिया जाता है। लेकिन घेरण्ड संहिता और हठयोग में कहीं पर रेचक और कहीं पर पूरक पर जोर दिया गया है, ताकि हमारे तन्त्रिका-तन्त्र में अलग-अलग स्थितियाँ उत्पन्न हों, जो हमारी शारीरिक अवस्था को विकार रहित, दोष रहित बनाने में सहायता कर सकें।

कपालभाति का यहाँ भालभाति के नाम से वर्णन किया गया है। भाल का अर्थ होता है ललाट। भाति का शब्दार्थ है धौंकनी। धौंकनी को लोहार भट्ठी में हवा देने के लिए प्रयोग में लाता है। भाति की क्रिया क्या है? जब श्वास लेते हैं तब वायु ऊपर खिंचती है, और जब श्वास छोड़ते हैं तब वायु बाहर निकलती है। अत: कपालभाति में रेचक करते समय वायु को धौंकनी की तरह तेज गति से बाहर फेंकना पड़ता है और सामान्य गति से वायु को शरीर के भीतर प्रवेश कराना पड़ता है। योग शास्त्रों और प्राणायाम की विद्याओं में कपालभाति की यही विधि अपनायी गयी है।

1. वातकर्म कपालभाति

इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत्पिङ्गलया पुनः ।
पिङ्गलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥56॥
पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु धारयेत् ।
एवमभ्यास योगेन कफ दोषं निवारयेत् ॥57॥

अर्थ

इड़ा नाड़ी या बायीं नासिका से श्वास अन्दर लेनी है और पिंगला नाड़ी या दाहिनी नासिका से श्वास छोड़नी है। फिर पिंगला से श्वास अन्दर लेनी है और चन्द्र नाड़ी (बायीं नासिका) से उसे बाहर निकाल देना है। पूरक और रेचक की जो क्रियाएँ होती हैं, उनकी गति तेज होनी चाहिए। इस क्रिया के अभ्यास से सर्दी-खाँसी से मुक्ति प्राप्त होती है ॥56-57॥

व्याख्या

यह बहुत कठिन अभ्यास है, क्योंकि इसमें श्वास के साथ हाथों को भी चलते रहना है। इस अभ्यास को करते समय, श्वास छोड़ते समय, भाल पर जोर दिया जाता है, पेट पर नहीं। सामान्य रूप से जब हम लोग प्राणायाम करते हैं, तब वह क्रिया पेट से होती है। लेकिन इस अभ्यास को धीरे-धीरे शुरू करके गति को बढ़ाते हैं, तभी नियन्त्रण प्राप्त होता है। इस प्राणायाम के अभ्यास में यह ध्यान रखें कि श्वास लेने और छोड़ने में समान समय लगे। यह क्रिया जब नाक से होती है तब वातकर्म कपालभाति के नाम से जानी जाती है।

विधि– किसी भी आरामदायक आसन में बैठें। रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। आँखें बन्द रहें। पूरा शरीर शिथिल रहे। पहली आवृत्ति शुरू करें। तेजी से पेट से श्वास लीजिए। अब पेट की मांसपेशियों का संकुचन करते हुए बल लगाते हुए श्वास बाहर छोड़िये। धीरे-धीरे बिना प्रयास के सहज श्वास लें। पेट की मांसपेशियों का विस्तार होने दें। परन्तु इसमें किसी प्रकार का भी बल प्रयोग न करें। आराम से जितनी देर सम्भव हो, शीघ्र श्वसन क्रिया करें। यह श्वसन क्रिया पेट से हो, छाती से नहीं। उसके बाद धीरे से एक गहरी श्वास लें। अब रेचक करें। फेफड़ों को पूरी तरह से खाली कर दें। श्वास को जितनी देर सम्भव हो रोके रहें, परन्तु तनाव न आने दें। यह एक आवृत्ति हुई। यदि आप थकान या सहज श्वास में कठिनाई अनुभव करें तो कुछ समय रुकिये। अब दूसरी आवृत्ति शुरू करें।

प्रारम्भ में एक आवृत्ति में 20 बार तेजी से श्वसन क्रिया करें। इससे अधिक नहीं। यह संख्या प्रति सप्ताह 5 से 10 तक बढ़ाई जा सकती है। यह व्यक्ति की क्षमता पर निर्भर है। इस प्रक्रिया में किसी प्रकार का तनाव नहीं होना चाहिए।

श्वास– अभ्यास शुरू करने के लिए तीव्र श्वसन करना और रेचक में बल लगाना है। एक बार गहरी श्वास लें और छोड़ें। फिर पूरे अभ्यास में नासिका

से श्वसन क्रिया करें। मुँह से श्वास न लें। यदि नाक अवरुद्ध है तो जल नेति के पूर्वाभ्यास द्वारा साफ कर लें।

सजगता– अपना ध्यान चिदाकाश पर लगायें। यह आपके ललाट के भीतर खाली अन्धेरी जगह है। इसमें बन्द आँखों से सामने की ओर देखें। फेफड़े धौंकनी की भाँति चल रहे हों। उस समय चिदाकाश में प्राणिक तरंगों का अनुभव करें। इसके साथ ही यह अनुभव करें कि मस्तिष्क के सामने का भाग शुद्ध हो रहा है।

आवृत्ति– शक्तिशाली और शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति इसका अभ्यास कई घण्टों तक कर सकते हैं, परन्तु सामान्य लोगों के लिए हम 10 से 20 आवृत्तियों से अधिक करने की सलाह नहीं देते। प्रारम्भिक अभ्यासियों को 2 या 3 आवृत्तियाँ ही करनी चाहिए। कुछ दिनों के बाद एक-एक आवृत्ति बढ़ा सकते हैं।

समय– अपने नित्य अभ्यास में इस अभ्यास को ध्यान के अभ्यास के पूर्व ही करें। रात के समय इसका अभ्यास न करें, अन्यथा सोने में कठिनाई होगी।

सावधानियाँ– अभ्यास के समय यदि आप किसी प्रकार की असुविधा अनुभव करते हैं, जैसे, जी मिचलाना, उल्टी आना आदि, तो इस अभ्यास को बन्द कर दीजिए। यह अभ्यास उन व्यक्तियों को नहीं करना चाहिए, जो उच्च रक्तचाप, हर्निया, बेचैनी, आदि से ग्रस्त हों।

लाभ– यह अभ्यास पाचन अंगों को उत्प्रेरित कर उनकी मालिश करता तथा उन्हें शक्तिशाली बनाता है। मस्तिष्क का अग्र भाग रक्त की अधिक मात्रा से शुद्ध होकर अधिक सक्रिय होता है। सूक्ष्म स्तर पर प्राणशक्ति का प्रवाह मस्तिष्क के इस क्षेत्र में होता है। यह फेफड़ों को शुद्ध कर उनका विस्तार करता तथा उनकी क्षमता को बढ़ाता है। इस अभ्यास के समय अधिक मात्रा में ऑक्सीजन भीतर जाती तथा कार्बन-डाय-ऑक्साइड बाहर निकलती है। यह श्वसन संस्थान को अधिक सक्रिय बनाता है। इसलिए जो ब्रोंकाइटिस तथा क्षय रोग से पीड़ित हों, उन्हें इसका अभ्यास करना चाहिए। दमा और श्वास रोग से पीड़ित व्यक्तियों को जोर लगाकर श्वास छोड़ने की आदत पड़ जाती है, इससे उनकी मांसपेशियाँ थक जाती हैं। जब उन्हें दौरा न पड़ रहा हो, उस समय कपालभाति का अभ्यास करना चाहिए।

यह मस्तिष्क के सामने के भाग को शुद्ध करने का एक उत्तम अभ्यास है, साथ-ही-साथ इससे पेट तथा श्वास प्रक्रिया में भी सुधार आता है। मन को शान्त एवं जागरूक बनाने के लिए भी शक्तिशाली विधि है। कपालभाति की दस

आवृत्तियों के अभ्यास के पश्चात् नींद नहीं आ सकती। अत: जो लोग मानसिक कार्य करते-करते थक जाते हैं, या नींद आ जाती है अथवा प्रात:काल उठने के बाद फिर से सोना चाहते हैं, उनके लिए जगने तथा दिमाग को शक्तिशाली बनाने के लिए इसका अभ्यास करना उत्तम है।

ध्यान में प्रगति के लिए ध्यान के पूर्व इसका अभ्यास एक अच्छा साधन है। कपालभाति ध्यान के लिए उत्तम पृष्ठभूमि तैयार करता है। इससे मन शान्त एवं ग्रहणशील हो जाता है तथा विचार रहित होकर भावनाओं से ऊपर उठता है। कपालभाति के बाद चिदाकाश धारणा करना उत्तम है।

हठयोगियों का मत है कि इस अभ्यास को करने से इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। कुण्डलिनी योग में कहा गया है कि दोनों नाड़ियाँ हमेशा शुद्ध नहीं रहतीं। कभी एक नाड़ी विकार ग्रस्त हो जाती है तो कभी दूसरी। कभी एक नाड़ी बन्द हो जाती है, तो कभी दूसरी। बहुत कम समय तक दोनों नाड़ियाँ एक साथ चलती हैं। जब दोनों एक साथ चलती हैं तब इसका अनुभव हमें नासिका में श्वसन क्रिया के माध्यम से हो जाता है। अगर दोनों नासिकाओं में श्वास की गति सामान्य हो तो हम यह नहीं मान सकते कि इडा और पिंगला दोनों विकार रहित हो गयी हैं। कुछ देर के लिए ऐसा होता है, क्योंकि यह एक चक्र है। यह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर है, लेकिन मुख्यत: हर पैंतालीस मिनट में स्वर परिवर्तन होता है। कभी दाहिना स्वर, अर्थात् पिंगला नाड़ी चलती है तो कभी बायाँ स्वर या इडा नाड़ी चलती है। कभी दोनों एक साथ, अर्थात् सुषुम्ना स्वर प्रवाहित होता है।

कुण्डलिनी योग में यह भी कहा गया है कि अगर साधक का अपने स्वर पर नियन्त्रण न हो; अपनी नाड़ियों पर नियन्त्रण न हो; नाड़ियों में विकार हो तो उस विकारग्रस्त नाड़ी से ही शुद्ध, पवित्र, विकार रहित कुण्डलिनी ऊपर चढ़ेगी। यदि कुण्डलिनी किसी एक नाड़ी से ऊपर चढ़ने लगती है; चाहे इडा हो या पिंगला, तो उसी प्रकार की उत्तेजनात्मक या निष्क्रियात्मक क्रियाओं का सम्पादन हमारे भीतर होता है। कभी-कभी व्यक्ति पागल हो जाता है। कुण्डलिनी अटक जाती है। वह अपने शरीर की चेतना खो देता है, किन्तु यदि शोधन क्रिया सही प्रकार से हुई हो, तो कुण्डलिनी का उत्थान सुषुम्ना मार्ग से होगा। सम्भवत: इसीलिए, शुद्धि को प्राप्त करने के लिए ही प्राणायाम के एक अभ्यास को षट्कर्मों में स्थान दिया गया है, जिसमें वातकर्म कपालभाति पहला प्रकारान्तर है।

सामान्य श्वसन क्रिया में मध्य पटल की मांसपेशियों और पसलियों के बीच की पेशियों का संकुचन ही क्रियाशील रहता है। इसमें श्वास लेने के समय प्रयास करना पड़ता है, जबकि श्वास छोड़ते समय किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। कपालभाति इस प्रक्रिया को विपरीत कर देता है। इसमें रेचक क्रिया में प्रयास तथा पूरक में स्वाभाविक श्वास ली जाती है। इससे मस्तिष्क में स्नायुओं का बहाव विपरीत दिशा में उत्तेजित होता है। यह मस्तिष्क के केन्द्रों को जगाने में सहायक होता है। रेचक करने वाली पेशियों में सक्रियता आती है। इससे उन्हें अधिक ऑक्सीजन प्राप्त होती है।

2. व्युत्क्रम कपालभाति

दूसरा रूप व्युत्क्रम या व्युतकर्म कपालभाति है, जिसमें जल का प्रयोग किया जाता है। यह क्रिया नेति के समान है।

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत् ।
पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मादोषं निवारयेत् ॥58॥

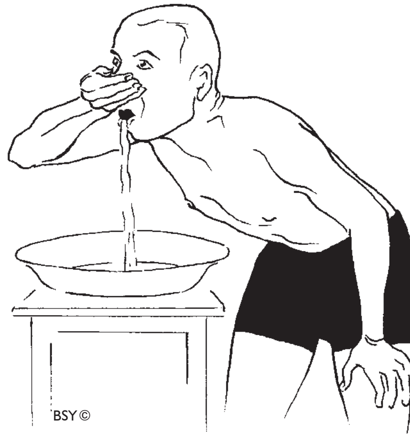
अर्थ

नासिका के दोनों छिद्रों के द्वारा जल खींचें और मुख से निकाल दें, तथा मुख से जल खींच कर नासिका से निकाल दें। यह व्युत्क्रम कपालभाति कफज दोषों का निवारण करती है ॥58॥

व्याख्या

विधि– नाक से पानी पीकर उसे अपने गले में ही रोक लेना और फिर मुँह से बाहर निकाल देना, यह है व्युत्क्रम कपालभाति। इस क्रिया से केवल नासिका छिद्रों का नहीं, बल्कि गले और मुँह का भी शोधन होता है। नेति के अभ्यास के समान नासिका मार्ग को स्वच्छ बनाते हुए पानी मुँह से बाहर निकलता है।

लाभ–जब पानी मुँह में आने के लिए भीतर प्रवेश करता है तब कुछ ऐसी नाड़ियों का स्पर्श करता है जिनका सम्पर्क कभी जल, वायु और जीभ से नहीं होता। अगर अपनी जीभ को उलटकर, पीछे ले जाकर नासिका छिद्रों के मूल को स्पर्श करने का प्रयत्न करें तो वह वहाँ तक जा नहीं पायेगी। केवल श्वास का प्रवाह वहाँ से हो रहा है। अत: जब जिह्वा उस क्षेत्र का



स्पर्श करती है, तब उसके स्पर्श से जो संवेदना उत्पन्न होती है वह बिन्दु चक्र को जाग्रत करती है।

कहा जाता है कि खेचरी मुद्रा की सिद्धि के पश्चात् अमृत झरता है। व्यक्ति अमृत का पान करता है। जो लोग किसी कारणवश खेचरी सिद्ध नहीं कर सकते, उन्हें यह अभ्यास बतलाया जाता है। जिसके द्वारा वे नाड़ियाँ, जो नासिका छिद्रों के अन्तिम छोर पर हैं, प्रभावित हों और बिन्दु चक्र जाग्रत हो। बिन्दु चक्र की जागृति का अर्थ यह नहीं कि अमृत गिरने ही लगेगा। इसमें कुछ समय लगता है, क्योंकि हमारे शरीर के भीतर कुछ ऐसे केन्द्र हैं जो बहुत अधिक संवेदनशील हैं और किसी प्रकार के स्पर्श से क्रियाशील हो जाते हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी केन्द्र हैं जिन पर लगातार एक दबाव, एक स्पर्श की आवश्कता होती है।

वह केन्द्र जो अमृत को बिन्दु से स्रवित कर नीचे की ओर लाता है, केवल खेचरी मुद्रा के दबाव से जाग्रत होता है। कभी किसी तत्त्व या पदार्थ के स्पर्श से बिन्दु चक्र जाग्रत हो उठे, तो यह एक अलग बात है। खाते समय यदि छींक आ जाये और अन्न का कण नाक में घुस जाये तो एक विचित्र कुलबुलाहट मच जाती है, ठीक वैसी ही संवेदना बिन्दु चक्र के जाग्रत होने पर उत्पन्न होती है।

3. शीतक्रम कपालभाति

तीसरा अभ्यास है– शीतक्रम कपालभाति। शीतक्रम कपालभाति में मुँह से पानी को अन्दर खींचा जाता है और नाक से बाहर निकाला जाता है।

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरिचयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेव समो भवेत् ॥59॥
न जायते वार्द्धकं च ज्वरो नैव प्रजायते ।
भवेत्स्वच्छन्द देहश्च कफ दोषं निवारयेत् ॥60॥

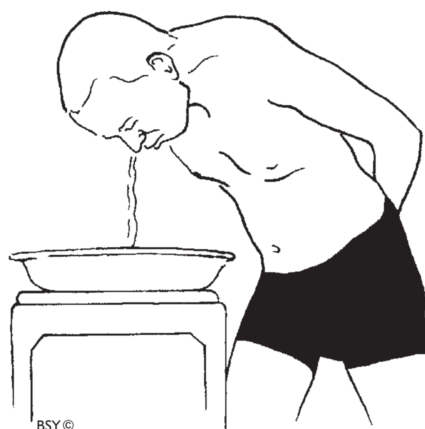
अर्थ

शीत्कार करता हुआ साधक मुख के द्वारा जल ग्रहण कर नासिका के द्वारा निकाल दे। यह क्रिया शीतक्रम कपालभाति कहलाती है। इसके द्वारा साधक का शरीर कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है और वार्धक्य या बुढ़ापा नहीं व्यापता। शरीर में स्वच्छता उत्पन्न होती तथा कफदोष का निवारण होता है ॥59-60॥

व्याख्या

विधि– शीत्कार करते हुए, यहाँ पर इसका तात्पर्य शीतली प्राणायाम से है– जीभ को गोल करना ताकि मुँह में एक शून्य उत्पन्न हो जाये तथा जल को जीभ से खींचकर मुख में लेना। जब तक अन्दर शून्य उत्पन्न नहीं होगा, जल प्रवेश नहीं करेगा।

शीतली प्राणायाम का अभ्यास करते हुए जल को मुख में खींचना और मुख में रोक कर, उसे एक सैकण्ड में नाक से थोड़ा-सा निकालना। फिर दूसरे सैकण्ड में थोड़ा-सा निकालना। इस प्रकार रुक-रुक कर पानी को नाक से बाहर निकालना है। यहाँ पर शीतली प्राणायाम को नाम दिया गया है 'शीत्कार'।



शीतकारी प्राणायाम अलग है। यहाँ पर शीत्कार का अर्थ है श्वास को खींचते हुए, आवाज करते हुए पानी अन्दर खींचना। फिर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में धीरे-धीरे उसे नाक से बाहर निकालना।

लाभ– 'एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत्' इस क्रिया द्वारा व्यक्ति कामदेव के समान दिखने लगता है। इस क्रिया के अनेक लाभ हैं। शरीर की अशुद्धियाँ दूर हो जाने से व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। उसके मुख पर चमक आ जाती है।

जो इस अभ्यास को सिद्ध करता है, उसे व्याधि, जरा और बुढ़ापा छू नहीं सकते। इसका कारण है बिन्दू चक्र की जागृति। जब बिन्दु चक्र जाग्रत होता है और अमृत झरता है तब शरीर बहुत कान्तिवान् हो जाता है।

अमृत पान से शरीर व्याधिरहित होता है, जरा के प्रभाव से मुक्त होता है। वैज्ञानिक रूप से भी अगर देखा जाये, तो जिस स्थिति का यहाँ वर्णन हो रहा है वह उत्तम स्वास्थ्य का लक्षण है। जब शरीर अन्दर से पूर्ण रूप से विकार रहित हो जाये; जब शरीर में आयुर्वेद में वर्णित पंचदोषों का नकारात्मक प्रभाव न रहे, तब स्वास्थ्य उत्तम हो जायेगा।

जब मन शान्त और स्थिर होता है, तब स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति केवल शारीरिक नहीं, वरन् मानसिक भी है।

महर्षि घेरण्ड ने स्वास्थ्य लाभ के लिए शुद्धिकरण का प्रयोग किया है। जब व्यक्ति स्वस्थ होता है तब झुर्रियाँ कम पड़ती हैं। यदि व्यक्ति स्वस्थ हो तो बुढ़ापे में भी सुख की जिन्दगी व्यतीत करता है और यदि अस्वस्थ हो तो यौवन में भी बूढ़ा रहता है।

अध्याय 2

योगासन

योगासन

प्रथम अध्याय में महर्षि घेरण्ड ने अपने शिष्य राजा चण्डकपालि को शुद्धिकरण की मुख्य छ: क्रियाओं की शिक्षा दी है। योगासनों का अभ्यास आरम्भ करने के पूर्व इन क्रियाओं की प्राथमिक आवश्यकता है। इस द्वितीय अध्याय में महर्षि ने राजा को विभिन्न उपयोगी योगासनों से परिचित कराया है।

आसनों की शिक्षा सबसे पहले महेश्वर शिव ने माता पार्वती को दी थी। परम्परा के अनुसार चौरासी लाख आसन हैं, लेकिन सभी चौरासी लाख आसनों को आज कोई नहीं जानता। इनमें से चौरासी प्रमुख आसन हैं, जिनकी शिक्षा आज समाज में दी जाती है।

शुद्धिकरण के बाद आसनों का अभ्यास शारीरिक स्थिरता एवं दृढ़ता के लिए किया जाता है। यहाँ दृढ़ता का भी अर्थ है शरीर का स्थिर होना। आसनों के अभ्यास में यह याद रखना चाहिए कि आसन शरीर की एक स्थिति है। जब हम शरीर की एक स्थिति में लम्बी अवधि तक बिना किसी तनाव के, बिना किसी शारीरिक कष्ट के सुखपूर्वक रह सकते हैं, तब वह स्थिति आसन कहलाती है।

योग सूत्रों में भी आसनों की परिभाषा दी गयी है *'स्थिरं सुखमासनम्'*, जिस शारीरिक स्थिति में आप स्थिर रह सकें और सुख का अनुभव करें, वह आसन है। सिखाने के दृष्टिकोण से आसनों को दो भागों में विभक्त किया गया है–गतिशील आसन और स्थिर आसन। प्रारम्भ में अपने शरीर को नियन्त्रण में लाने के लिए, शरीर को लचीला बनाने के लिए गतिशील आसनों का अभ्यास किया जाता है। जब हम एक लम्बे समय तक अपने शरीर को एक स्थिर आसन में रखने का प्रयास करते हैं, तब

शरीर की मांसपेशियों में दर्द और तनाव उत्पन्न होता है, जिसके कारण विक्षेप की स्थिति आती है; क्लेश और दु:ख होता है, जो आसनों का ध्येय नहीं है। गतिशील आसनों के पश्चात् जैसे-जैसे हमारे शरीर की क्षमता में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे स्थिर आसन का अभ्यास प्रारम्भ करते हैं। आसनों के अभ्यास से शरीर पर कुछ सूक्ष्म प्रभाव पड़ते हैं। श्वसन-प्रक्रिया में परिवर्तन आता है। आसनों के अभ्यास से धीमी और गहरी श्वास लेने की आदत हो जाती है, इससे मानसिक और भावनात्मक सन्तुलन प्राप्त होता है।

आसनों का पहला उद्देश्य हमें शारीरिक और मानसिक कष्टों से मुक्ति दिलाना है। आसन शरीर के जोड़ों को लचीला भी बनाते हैं। वे शरीर की मांसपेशियों में खिंचाव उत्पन्न कर उन्हें स्वस्थ बनाते हैं तथा शरीर से विषाक्त तत्त्वों को बाहर निकाल फेंकते हैं। आसन तन्त्रिका-तन्त्र के कार्यकलापों में सामंजस्य उत्पन्न करते और हलकी मालिश द्वारा शरीर के आन्तरिक अंगों की कार्यक्षमता को बढ़ाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे शरीर स्वस्थ बन जाता है।

महर्षि घेरण्ड ने राजा चण्डकपालि को शारीरिक स्थिरता के लिए 32 आसनों की शिक्षा दी है। वे कहते हैं कि इस जगत् में जितने प्राणी हैं, उन सभी की सामान्य शारीरिक स्थिति को आधार बनाकर एक-एक आसन की खोज की गयी है।

एक बात यहाँ बतलाना उचित रहेगा कि जिन आसनों की चर्चा घेरण्ड संहिता में की जा रही है, वे आसनों की प्रारम्भिक स्थितियाँ नहीं, वरन् अन्तिम स्थितियाँ हैं। प्रारम्भिक स्थिति में अनेक प्रकारान्तरों के द्वारा अपने शरीर को अन्तिम स्थिति के अभ्यास के लिए तैयार किया जाता है। अन्तिम स्थिति के लिए तैयारी की आवश्यकता होती है। यह अन्तिम स्थिति स्थिर आसनों के समूह में आती है। स्थिर आसनों के लिए अपने शरीर को तैयार करने हेतु हमें गतिशील अभ्यासों को अपनाना पड़ता है। सिद्धासन में ही सामान्य रूप से तीन प्रकारान्तर पाये जाते हैं और हठयोग की अन्य पुस्तकों में भी उनका वर्णन है। ठीक उसी प्रकार आगे के आसनों के भी अनेक प्रकारान्तर हैं, लेकिन यहाँ पर आसनों की अन्तिम स्थिति का ही वर्णन किया जायेगा।

घेरण्ड उवाच

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः।
चतुरशीति लक्षाणि शिवेन कथितानि च ॥1॥
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम् ।
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम् ॥2॥

अर्थ

महर्षि घेरण्ड ने कहा'संसार में जितने जन्तु हैं, उतनी ही संख्या आसनों की है। भगवान् शिव ने पहले चौरासी लाख आसन कहे, उनमें से चौरासी आसन श्रेष्ठ हैं। उन चौरासी आसनों में भी बत्तीस आसनों को अति विशिष्ट और अधिक शुभ समझना चाहिए ॥1-2॥

व्याख्या

इस संसार में जितने जीव-जन्तु हैं, उनके शरीर की जो सामान्य स्थिति है, उस भंगिमा का अनुसरण करना आसन कहलाता है। भगवान् शिव ने चौरासी लाख आसनों का वर्णन किया है। उनमें से चौरासी विशिष्ट आसन हैं और चौरासी आसनों में से बत्तीस आसन मृत्यु लोक के लिए आवश्यक माने गये हैं। जो सूची दी गयी है उसे देखने से यही लगता है कि सभी बत्तीस आसन, जिनका वर्णन महर्षि घेरण्ड ने किया है, स्थिर रूप से किये जाने वाले अभ्यास हैं।

आसन भेद

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम् ।
द्वसहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ॥3॥
मृतं गुप्तं तथा मात्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च ।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानमुत्कटं संकटं तथा ॥4॥
मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम् ।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डुकं गरुडं वृषम् ॥5॥
शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजंगं योगमासनम् ।
द्वात्रिंशदासनान्येव मर्त्ये सिद्धिप्रदानि च ॥6॥

अर्थ

इस मृत्यु लोक में, जहाँ प्रत्येक मानव की मृत्यु अनिवार्य है, सिद्धि के लिए निम्नलिखित बत्तीस आसन पर्याप्त हैं–
(1) सिद्धासन (2) पद्मासन (3) भद्रासन (4) मुक्तासन (5) वज्रासन (6) स्वस्तिकासन (7) सिंहासन (8) गोमुखासन (9) वीरासन (10) धनुरासन (11) मृतासन (शवासन) (12) गुप्तासन (13) मत्स्यासन (14) मत्स्येन्द्रासन (15) गोरक्षासन (16) पश्चिमोत्तानासन (17) उत्कट आसन (18) संकट आसन (19) मयूरासन (20) कुक्कुटासन (21) कूर्मासन (22) उत्तान कूर्मासन (23) मण्डूकासन (24) उत्तान मण्डूकासन (25) वृक्षासन (26) गरुड़ासन (27) वृषासन (28) शलभासन (29) मकरासन (30) उष्ट्रासन (31) भुजंगासन (32) योगासन। इन आसनों का वर्णन क्रमशः दिया जा रहा है।

1. सिद्धासन

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं संपीड्य गुल्फेतरम् ।
मेढ्रोपर्यथ सन्निधाय चिबुकं कृत्वा हृदि स्थापितम् ॥7॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्भ्रुवोरन्तरम् ।
ह्येतन्मोक्षकवाटभेदनकरं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥8॥

अर्थ

जितेन्द्रिय योगी एक पाँव की एड़ी को अण्डकोश और गुदा के मध्य लगा कर दूसरे पाँव की एड़ी को मेढ़्र में लगा ले। चिबुक को हृदय में लगाकर स्थिर रूप से सीधा रहे। दृष्टि को निश्चल रखकर भौंहों के मध्य में देखे। इसका अभ्यास सिद्ध होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसे सिद्धासन कहते हैं ॥7-8॥

व्याख्या

यह शक्ति एवं निपुणता का प्रतीक है, इसलिए इस आसन का नाम सिद्धासन पड़ा। यह ध्यान के अभ्यास हेतु अत्यन्त श्रेष्ठ आसन है। प्रायः विशिष्ट साधनाओं में इसका उपयोग गुदा द्वार तथा जननेन्द्रियों के मध्य (मूलाधार चक्र पर) विशेष दबाव हेतु किया जाता है।

विधि– सिद्धासन करने के लिए सबसे पहले अपने पैरों को सामने फैला लेते हैं। दाहिने पैर को मोड़कर दाहिनी एड़ी को ठीक गुदा द्वार पर रखते हैं, जिससे गुदा द्वार पर दबाव पड़े। जब तक एड़ी का हलका दबाव सिवनी (प्रजननेन्द्रिय और गुदा द्वार के मध्य का भाग) पर न पड़ने लगे तथा जब तक सुविधा का अनुभव न हो तब तक अपने शरीर को हिला-डुला कर व्यवस्थित करें। पुनः बायें पैर को मोड़कर बायीं एड़ी को दाहिनी एड़ी के ऊपर इस प्रकार रखते हैं कि टखने एक-दूसरे का स्पर्श करते रहें और प्रजननेन्द्रिय पर दबाव पड़े। पुरुष एड़ी को अपने मूत्र संस्थान के ऊपर रखते हैं तो वह दबती है। महिलायें एक एड़ी को दूसरी एड़ी के ऊपर योनि स्थान में रखती हैं। यदि आपको इस अन्तिम अवस्था में कठिनाई का अनुभव हो तो अपनी बाँयी एड़ी को सरलतापूर्वक श्रोणि के अधिकतम निकट रखने का प्रयास करें। इसके बाद पैरों को इसी स्थिति में बाँध दिया जाता है। दाहिने पैर की अँगुलियों को, जो नीचे है, बायीं जाँघ और पिण्डलियों के बीच से ऊपर



खींच लेते हैं। बायें पैर की अँगुलियों को दाहिनी जाँघ और पिण्डली के बीच में घुसा देते हैं। इस स्थिति में आसन में ताला-सा लग जाता है।

यह कुछ कठिन आसन है, विशेषकर पुरुषों के लिए, क्योंकि इसमें प्रजननेन्द्रिय पर जो दबाव या भार पड़ता है, उसके कारण इस आसन को करने में कठिनाई हो सकती है।

यह पैरों की स्थिति है। इसके साथ ही रीढ़ की हड्डी को सीधा रखना है। सीधा कहने का तात्पर्य तान कर रखना नहीं, वरन् तनाव रहित अवस्था में सीधा रखना है। इस आसन को सही प्रकार से करने के लिए यह आवश्यक है कि रीढ़ की हड्डी सीधी रहे, ताकि पेट का क्षेत्र दबा हुआ न रहे। यदि पेट दबा हुआ रहे तो इस आसन में कुछ समय के बाद कमर और पेट के निचले भाग में दर्द होने लगता है। अगर पेट का क्षेत्र फैला हुआ रहे, विस्तृत रहे तो दर्द नहीं होता और प्राण वायु का, जो हमारे उदर में है, प्रवाह सही रूप से होता है। यहाँ पर पेट और छाती दोनों सामान्य मुद्रा में, तनावरहित स्थिति में रहेंगे और दोनों हाथ घुटनों पर ज्ञानमुद्रा या चिन्मुद्रा की स्थिति में रहेंगे। अब शरीर को सुविधाजनक स्थिति में व्यवस्थित कर लेते हैं। ख्याल रखें कि घुटने जमीन के सम्पर्क में बने रहें। अब कल्पना करें कि आपका शरीर वृक्ष की भाँति जमीन में स्थित है।

नितम्बों को थोड़ा ऊपर उठाने के लिए छोटी गद्दी का प्रयोग किया जा सकता है। इससे टखने के निचले हिस्से पर दबाव कम पड़ेगा। दाहिने पैर को पहले मोड़ें या बायें पैर को, इसका निर्धारण साधक को अपनी व्यक्तिगत सुविधा के अनुरूप करना चाहिए। अनेक लोगों को दोनों टखनों के स्पर्श-

स्थल पर पीड़ा अथवा कष्ट की अनुभूति होती है। यदि आवश्यक हो तो दर्द निवारण के लिए दोनों टखनों के मध्य स्थान पर कपड़े या स्पंज का टुकड़ा रखा जा सकता है। प्रारम्भ में आप सिवनी पर पड़ने वाले दबाव को भी 1-2 मिनट से ज्यादा सहन नहीं कर पायेंगे। लेकिन धीरे-धीरे नियमित अभ्यास से इस समय में वृद्धि होती जायेगी। इस आसन में बैठने के लिए पैरों का पर्याप्त लचीला होना आवश्यक है, इसलिए प्रारम्भ में अपने पैरों की लोच-सीमा के अतिक्रमण का प्रयास न करें।

सावधानियाँ– इस आसन का अभ्यास सभी कर सकते हैं। केवल ऐसे व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए जिन्हें साइटिका हो या रीढ़ की हड्डी के निचले भाग में गड़बड़ी हो या अण्डकोष बढ़ा हुआ हो, क्योंकि बहुत बार जब बिना अभ्यास के इस आसन को लोग करते हैं, तब यदि अण्डकोष बढ़ा हुआ हो तो फट जाता है, जिसके कारण पानी थैली में आ जाता है और दर्द होने लगता है।

लाभ– सिद्धासन ध्यान का एक आसन है, जिसमें मेरुदण्ड की स्थिरता को बनाये रखा जा सकता है, जो ध्यान के लिए बहुत आवश्यक है। जो पैर नीचे रहता है वह मूलाधार चक्र पर दबाव डालता है, जिससे मूल बन्ध लग जाता है और जो पैर ऊपर रहता है, उससे जघनास्थि पर दबाव पड़ता है, वह स्वाधिष्ठान क्षेत्र पर दबाव डालता है, जिससे वज्रोली/सहजोली मुद्रा स्वत: लग जाती है, परिणामत: कामशक्ति की तरंगें मेरुदण्ड से मस्तिष्क तक पहुँचने लगती हैं। यह प्रजनक हार्मोनों के स्राव को नियन्त्रित करता है, जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है।

सिद्धासन में लम्बे समय तक बैठने से मूलाधार क्षेत्र में सनसनाहट या झुनझुनी का अनुभव हो सकता है। हो सकता है यह संवेदना 10-15 मिनट तक बनी रहे। ऐसा इस क्षेत्र में रक्त आपूर्ति की कमी तथा निम्न चक्रों में प्राण-प्रवाह के पुनर्सन्तुलन के कारण होता है।

यह आसन रक्त को रीढ़ की हड्डी के निचले भाग तथा पेट की ओर संचरित करता है। कटि प्रदेश, श्रोणि प्रदेश तथा आमाशय के अंगों में सामंजस्य लाता है तथा प्रजनन संस्थान एवं रक्तचाप को सन्तुलित बनाता है। इस आसन के अभ्यास से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। पहला लाभ शारीरिक है। जिन लोगों को स्वप्नदोष होता है, उनके लिए यह उत्तम आसन है, क्योंकि इसमें हमारी मूत्रेन्द्रिय की नाड़ियाँ दबती हैं और उन पर लगातार

जो दबाव पड़ता रहता है, उससे बाद में शरीर की आन्तरिक ग्रन्थियाँ सुदृढ़ बनती हैं। यह देखा गया है कि महिलाओं को जो श्वेत-प्रदर होता है, वह भी इस अभ्यास से नियन्त्रण में आ जाता है। साथ-ही-साथ इस अभ्यास से शारीरिक स्थिरता की प्राप्ति होती है।

इस आसन में गुदा द्वार के क्षेत्र में जिस बिन्दु पर दबाव पड़ता है, वह है वज्रोली और अश्विनी मुद्रा के बीच का स्थान, जहाँ पर मूलाधार चक्र स्थित है। मूलाधार चक्र की जागृति भी इस आसन के सही अभ्यास से होती है। कुण्डलिनी योग में इस आसन का अभ्यास अपान वायु को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए किया जाता है।

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि इस आसन के अभ्यास से मानसिक नियन्त्रण और शून्यावस्था की प्राप्ति होती है। मन विचारशून्य हो जाता है। जब प्राणों में वृद्धि और मन विचारशून्य हो जाये तब मुक्ति का मार्ग अपने आप खुलता है। वे एक बात और कहते हैं *'स्थाणु: संयमितेन्द्रियोऽचलदृशापश्यन्भ्रुवोरन्तर म्'* ठुड्डी को छाती से लगाना है। अर्थात् उन्होंने इस क्रिया के साथ जालन्धर बन्ध को भी जोड़ा है। ठुड्डी को छाती से लगाकर भ्रूमध्य को देखना है। महर्षि घेरण्ड के अनुसार सिद्धासन की अन्तिम स्थिति है– जालन्धर बन्ध और भ्रूमध्य दृष्टि। जब जालन्धर बन्ध का अभ्यास होता है, ठुड्डी को हम छाती से लगाते हैं, तब कुम्भक (श्वास रोकने की प्रक्रिया) अपने आप होता है। कितनी देर तक मनुष्य अपनी श्वास को रोक सकता है? बहुत कम समय तक। बेचैनी होने लगती है। लेकिन यदि श्वास पर भी नियन्त्रण हो जाये और कुम्भक भी लम्बी अवधि तक कर सकते हों, तो इस अभ्यास से मानसिक चंचलता दूर होती और शरीर की शक्ति में वृद्धि होती है। यह सम्पूर्ण स्नायविक प्रणाली को शान्त एवं सामान्य स्थिति में रखता है।

बहुत बार जब हम कुछ भारी चीज उठाते हैं तब श्वास को अन्दर रोक लेते हैं। जब कठोर परिश्रम करते हैं, या किसी के साथ पंजा लड़ाने का खेल खेलते हैं, तब कुम्भक करते हैं। क्यों? इसलिए कि उससे शारीरिक क्षमता में वृद्धि होती है। सामान्यत: हम शारीरिक क्षमता का सही प्रकार से उपयोग नहीं करते, उसका क्षय कर देते हैं, उसे क्षीण कर देते हैं, लेकिन इस अभ्यास से क्षमता में वृद्धि होती है। आन्तरिक शक्ति और प्राण में वृद्धि होती है। प्राणों का विस्तार होता है।

2. पद्मासन

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा,
दक्षोरूपरि, पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्,
एतद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥9॥

अर्थ

बायाँ पाँव दायीं जाँघ पर और दायाँ पाँव बायीं जाँघ पर रख कर व्युत्क्रम-विधि से हाथों को पृष्ठ भाग पर ले जायें और दायें हाथ से बायें पाँव के अँगूठे एवं बायें हाथ से दायें पाँव के अँगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़ कर चिबुक को हृदय से लगा कर नासिका के अग्रभाग की ओर देखें। इससे सभी रोगों का शमन होता है। यह पद्मासन कहलाता है ॥9॥

व्याख्या

ध्यान साधना के लिए यह एक उत्कृष्ट आसन है। इस आसन में शरीर को लम्बे समय तक पूर्णत: स्थिर रखा जा सकता है। प्रारम्भ में इस आसन में बैठना कठिन मालूम पड़ता है, किन्तु नियमित अभ्यास से यह स्वयं सिद्ध



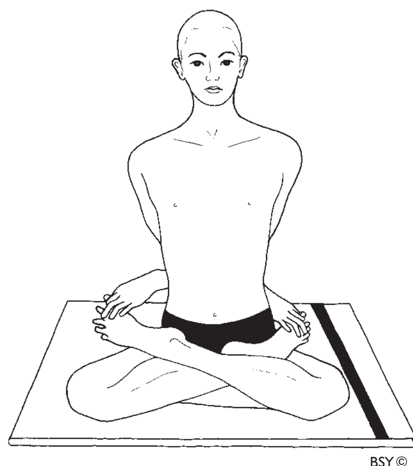
हो जाता है। इस आसन में धड़ एवं सिर इस प्रकार सीधे और स्थिर रहते हैं, मानो वे पत्थर से बने हों, और पैरों की स्थिति एक सुदृढ़ आधार प्रदान करती है।

विधि– सबसे पहले पैरों को सामने फैला कर, एक पैर को दूसरे पैर की जाँघ के ऊपर और दूसरे पैर को पहले पैर की जाँघ के ऊपर रख देना है। तलवा ऊर्ध्वमुखी रहे तथा एड़ी पेट के अग्रभाग के निचले हिस्से को स्पर्श करे। अन्तिम अवस्था में दोनों घुटने जमीन के सम्पर्क में रहेंगे। सिर एवं पीठ को बिना जोर लगाये सीधा रखने का प्रयास करें। आखों को बन्द करें। इसे तो हम लोग पद्मासन मानते हैं, लेकिन महर्षि घेरण्ड ने जिस पद्मासन की स्थिति का यहाँ वर्णन किया है वह है 'बद्धपद्मासन'। शरीर के पृष्ठ भाग से अपने हाथों को ले जाकर दाहिने हाथ से दायें पैर के अँगूठे को और बायें हाथ से बायें पैर के अँगूठे को पकड़ लेना है। इसे कहते हैं बद्धपद्मासन। अर्थात् पद्मासन में जहाँ पर बन्धन का आभास हो, जहाँ पर पद्मासन की स्थिति बन्धी हुई हो। इस स्थिति को महर्षि घेरण्ड ने पद्मासन का नाम दिया है। आगे कहते हैं, *'हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्'* इस अभ्यास में भी ठुड्डी को हृदय से सटाकर, अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाकर नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास करना है। यह भी अन्तिम स्थिति है।

सावधानियाँ– पद्मासन लगाने के पूर्व यदि पैरों को लचीला बनाने के लिए तितली आसन तथा घुटना घुमाने का अभ्यास करें तो सुविधा होती है। यदि पैर पर्याप्त लचीला नहीं है, तो जोर लगाकर पद्मासन करने का प्रयास न करें, अपितु पैर को लचीला बनाने वाले आसनों का नियमित अभ्यास तब तक करें जब तक पैर लचीले न हो जायें।

साइटिका, सेक्रल इन्फेक्शन तथा घुटनों के दर्द से पीड़ित व्यक्ति इस आसन को न करें।

लाभ– पद्मासन शारीरिक-मानसिक स्थिरता तथा शान्ति प्राप्त करने में सहायक है। यह मात्र एक विचारधारा नहीं है। शरीर विज्ञान के अनुसार भी यह एक तथ्य है। यह देखा गया है कि ऐसे अभ्यासों को करने पर, मेरुदण्ड के निचले भाग से निकलकर मस्तिष्क में प्रवेश करने वाले नाड़ी समूह (जिनसे शरीर के भीतर उत्पन्न होने वाली संवेदना का प्रवाह होता है) और तन्त्रिका-तन्त्र के अंगों में संवेदना का उत्पन्न होना बन्द हो जाता है। मानसिक शान्ति शारीरिक स्वास्थ्य को बढ़ाने में सहायक होती है।



इस आसन में मेरुदण्ड के निचले भाग में दबाव पड़ता है, जिससे तन्त्रिका-तन्त्र शिथिल होता है। श्वास धीमी हो जाती है, पेशीय तनाव कम हो जाता है तथा रक्तचाप घट जाता है। शारीरिक स्थिरता मन में स्थिरता लाती है। पैरों की स्थिति तथा पाँवों को जाँघों पर रखने से पड़ने वाले दबाव के कारण पैरों में रक्त का प्रवाह मन्द हो जाता है और आमाशय को रक्त की अतिरिक्त आपूर्ति मिलती है। इसके अभ्यास से जठराग्नि तीव्र होती और भूख बढ़ती है।

इड़ा और पिंगला, दो मुख्य नाड़ियाँ हमारे मेरुदण्ड में स्थित हैं। इनकी शिरायें शरीर के प्रत्येक भाग में फैली हुई हैं। ये शरीर के विभिन्न भागों से स्पर्श की अनुभूति, इन्द्रियों की अनुभूति को मस्तिष्क के भीतर लाती हैं, जिससे हमारे मस्तिष्क के भीतर ज्ञान उत्पन्न होता है, जानकारी उत्पन्न होती है। मस्तिष्क से जो निर्देश मिलता है और जिस कार्य का सम्पादन पिंगला नाड़ी करती है, उसमें शिथिलता आती है। अर्थात् शरीर विज्ञान के अनुसार, हमारे शरीर में उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती और वह शान्त अवस्था को प्राप्त करता है। अगर इसे दूसरे तरीके से समझाया जाये तो कहा जायेगा कि क्रमशः बीटा तरंग, अल्फा तरंग और थीटा तरंग की जागृति होती है। पद्मासन प्राण के प्रवाह को मूलाधार से सहस्रार की ओर निर्देशित कर ध्यान की अनुभूति दिलाता है।

पुनः इसी अभ्यास में कहा गया है कि जालन्धर बन्ध और नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास होना चाहिए। आँखें आधी खुली और दृष्टि का केन्द्र नाक का अग्रभाग हो। मन को अन्तर्मुखी बनाने के लिए यह बहुत प्रभावशाली विधि है।

मन को एकचित्त करने के लिए यह बहुत ही शक्तिशाली माध्यम है। पद्मासन के अभ्यास से मन और चित्त शान्त एवं एकाग्र होते हैं। इस मन्त्र में यह भी कहा गया है कि पद्मासन के अभ्यास से व्याधियों का विनाश होता है।

सभी आसनों में लगभग यही बात कही गयी है। जैसे *'भद्रासनं भवेदेतत्सर्व व्याधिविनाशकम्।'* इत्यादि। हर आसन के अन्त में यह बात कही गयी है कि इससे व्याधियों का विनाश होता है। तो यहाँ पर यह सन्देह हो सकता है कि इन स्थिर आसनों के अभ्यास से अगर हमारा मन शान्त होता है, विचार या आन्तरिक उत्तेजनायें कम होती हैं, तो ये मानसिक लाभ हैं, इससे शारीरिक व्याधि कैसे समाप्त हो सकती है? इसको समझने के लिए यौगिक उपचारात्मक विधि को समझना पड़ेगा।

योग कहता है कि शरीर में जितने रोग उत्पन्न होते हैं, उनमें से लगभग अस्सी प्रतिशत की शुरुआत मनस् क्षेत्र से होती है और शेष जो रोग हैं, उनका कारण जीवाणु या बाह्य अशुद्धि का हमारे शरीर में प्रवेश हो सकता है। मनस् क्षेत्र से उत्पन्न होने वाले रोगों को मनोविज्ञान की भाषा में मनोदैहिक रोग कहते हैं। ऐसे रोग जो मन से शुरू होकर शरीर को प्रभावित करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जब मनस् क्षेत्र शान्त और स्थिर होता है, जब उसकी उत्तेजना समाप्त हो जाती है और वह विश्रान्त स्थिति को प्राप्त करता है, आन्तरिक तनाव और क्लेश नहीं रहते, तब शरीर में भी इसका प्रभाव दिखलायी पड़ता है। शरीर स्वयं संयत और सन्तुलित होने लगता है।

दूसरे प्रकार की बीमारियाँ वे हैं जिनकी शुरुआत शरीर से होती है और फिर वे मन को प्रभावित करती हैं। इन्हें कायिक-मानसिक व्याधि कहते हैं। इस प्रकार व्याधियों के दो भेद हैं।

आधुनिक उपचार की विधि में यह देखा गया है कि हम रोग के लक्षण को देखकर उसे दूर करने के लिए उपचार करते हैं। सरदर्द बीमारी तो नहीं हैं, यह तो लक्षण है, लेकिन हम उसे ठीक करने के लिए 'एस्प्रिन' की गोली लेते हैं। वह लक्षण को ठीक करती है, कारण को नहीं। जैसे, दमायह तो लक्षण है। हम दवाई लेते हैं या ब्रान्कोडायलेटर का स्प्रे करते हैं तो कुछ क्षणों के लिए श्वसन नली का विस्तार होता है, लेकिन रोग की समाप्ति नहीं होती। मधुमेह भी लक्षण है। इन्सुलिन का इन्जेक्शन लेकर या दवाई खाकर बाह्य रूप से उस अंग की प्रक्रिया को तीव्र करने का प्रयास करते हैं, जिस अंग ने काम करना छोड़ दिया है, परन्तु हम अंग को तो ठीक करने का प्रयास नहीं करते।

अधिकतर यह देखा गया है कि योग के अभ्यासों से अनेक शारीरिक रोग ठीक हो जाते हैं। कैंसर की रोकथाम में भी इसका सफल प्रयोग किया गया है। जब कैंसर पर अनुसन्धान हो रहा था तब प्रयोग के लिए ऐसे रोगियों को लिया गया था जिन्हें सभी प्रकार की आधुनिक चिकित्सात्मक विधियों द्वारा भी ठीक नहीं किया जा सका था। उन पर 'केमोथेरापी', शल्यचिकित्सा इत्यादि का भी प्रयोग कर लिया गया था। फिर उन्हें योगाभ्यास सिखलाये गये, जिससे कैंसर की रोकथाम हुई और वह समाप्त भी हो गया। जो योगाभ्यास उन्हें सिखलाये गये, वे बहुत सरल थे। मात्र प्राणायाम, योगनिद्रा और जप। आप स्वयं सोचिये कि जब प्राणायाम, योगनिद्रा और जप के अभ्यास से कैंसर जैसे रोग की रोकथाम हो सकती है, तब इसके पीछे क्या रहस्य है।

योगनिद्रा के अभ्यास से शरीर और अन्त:करण विश्राम की अवस्था को प्राप्त करते हैं। तनाव, चिन्ता और परेशानियाँ दूर हो जाती हैं। जप से आत्मविश्वास में वृद्धि होती है और प्राणायाम से शरीर की संरक्षात्मक शक्ति में वृद्धि होती है; प्राणों में सन्तुलन आता है। केवल इन तीन उपायों से एक असाध्य समझी जाने वाली बीमारी ठीक हो जाये, तो यह वास्तव में आश्चर्यजनक है।

योग ने उपचार के लिए यही सिद्धान्त अपनाया है। बहुत बार बीमारियों की रोकथाम के लिए जो अभ्यास बतलाये जाते हैं, उन्हें देख कर लगता है कि इनसे बीमारी और बढ़ जायेगी, लेकिन उन अभ्यासों का सकारात्मक प्रभाव मन, मस्तिष्क, तन्त्रिका-तन्त्र तथा अन्त:स्रावी ग्रन्थियों पर पड़ता है और उन्हें सुचारु रूप से कार्य करने की क्षमता प्राप्त होती है।

अत: यह मान्यता है कि यदि शरीर स्थिर हो जाये या मन स्थिर हो जाये, और मन की स्थिरता का प्रभाव शरीर पर पड़े तो बीमारियों का नाश होता है। इसीलिए लगभग प्रत्येक आसन के सम्बन्ध में कहा गया है *'सर्वव्याधि विनाशकम्'* कि सभी प्रकार के रोग इससे दूर होते हैं।

3. भद्रासन

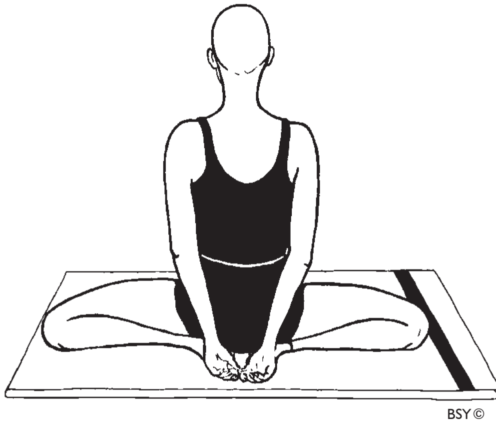
गुल्फौ च वृषणस्याधोव्युत्क्रमेण समाहितः।
पादांगुष्ठौ कराभ्यां च धृत्वा वै पृष्ठदेशतः॥10॥
जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशकम् ॥11॥

अर्थ

दोनों एड़ियों को उलट कर अण्डकोशों के नीचे रखें। पीठ की ओर पद्मासन के समान दोनों अँगूठों को पकड़ लें। जालन्धर बन्ध की स्थिति करके नासिका के अग्रभाग को देखें। यह भद्रासन सभी रोगों को दूर करता है ॥10-11॥

व्याख्या

विधि– वज्रासन में बैठ कर दोनों पैरों के अँगूठों को साथ-साथ रखते हैं। घुटनों को जितना हो सके दूर-दूर फैलाते हैं। पैरों की अँगुलियों का सम्पर्क जमीन से बना रहे। एड़ियों को इतना फैलाइये कि उनके बीच आपके नितम्ब फर्श पर जम जायें। बिना किसी तनाव के घुटनों का फासला और बढ़ाइये। हाथों को घुटनों पर रखिये, हथेलियाँ नीचे की ओर रहें। जब शरीर सुख की स्थिति में हो तब नासिकाग्र दृष्टि (दृष्टि और मन को नासिका के अग्र भाग पर



एकाग्र) कीजिए। जब आँखें थक जायें तो उन्हें बन्द कर लें, थोड़ी देर बाद पुन: खोलकर नासिकाग्र दृष्टि का

अभ्यास करें। भद्रासन का एक प्रकारान्तर भी है। भद्रासन की अवस्था में अपने हाथों से पैरों के अँगूठों को पीछे पकड़ लेना।

4. मुक्तासन

पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि ।
समकायशिरोग्रीवं मुक्तासनं तु सिद्धिदम् ॥12॥

अर्थ

बायें पाँव की एड़ी को पायुमूल में लगा कर उस पर दायें पाँव की एड़ी को रखें और सिर तथा ग्रीवा को समान रख कर, शरीर को सीधे रखते हुए बैठें। यह मुक्तासन योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाला है ॥12॥

व्याख्या

मुक्तासन का अभ्यास बहुत सरल है। इस आसन में सभी लोग बैठ सकते हैं। इसका दूसरा नाम है, सुखासन। इस आसन में बैठने से शरीर का सारा भार नितम्बों और फर्श के बीच एक बहुत छोटे-से सम्पर्क क्षेत्र पर पड़ता है। अत: इस आसन में लम्बे समय तक बैठने से आपको इस क्षेत्र में दर्द का अनुभव हो सकता है। ऐसी स्थिति में नितम्बों के नीचे तकिया रखा जा सकता है।

विधि– इसमें सबसे पहले पैरों को सामने फैला लेते है। बायें पैर को मोड़कर दायीं जाँघ के नीचे रखते हैं और जितना हो सके, शरीर के समीप लाने का



प्रयास करते हैं। फिर दाहिने पैर को बायें पैर के ऊपर रख देते हैं। एक एड़ी दूसरी एड़ी के ऊपर रहे।

इसके मन्त्र में कहा गया है, *'समकायशिरोग्रीवं'* सिर और धड़ एक सीध में रहें। ध्यान के जितने अभ्यास होते हैं, वे सब स्थिर बैठने के अभ्यास हैं, उनमें सामान्य रूप से हाथों को ज्ञानमुद्रा या चिन्मुद्रा की अवस्था में अपने घुटनों पर रखा जाता है। आँखों को बन्द रखते हैं। पूरे शरीर को ढीला छोड़ देते हैं।

यह बहुत सरल अभ्यास है और इसे भी महर्षि घेरण्ड ने एक आसन के रूप में मान्यता प्रदान की है। इस आसन का मुख्य प्रयोजन यही है कि धड़, मेरुदण्ड और सिर एक सीध में रहें।

लाभ– सुखासन ध्यान का सरलतम तथा सबसे अधिक सुविधाजनक आसन है। जो लोग ध्यान के अन्य कठिन आसनों में नहीं बैठ सकते, वे इस आसन का उपयोग कर सकते हैं। यह आसन किसी प्रकार का तनाव या दर्द उत्पन्न किये बिना शारीरिक एवं मानसिक सन्तुलन प्रदान करता है।

टिप्पणी– सुखासन शिथिलीकरण का आसन है। सिद्धासन या पद्मासन में लम्बे समय तक बैठने के बाद शरीर को विश्राम देने के लिए इस आसन में बैठा जा सकता है।

प्रकारान्तर– जिन लोगों का शरीर बहुत कड़ा हो, वे पालथी मारकर बैठें और घुटनों एवं पीठ के चारों ओर एक कपड़ा बाँध लें। रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें। एकाग्रता शारीरिक सन्तुलन एवं शरीर के भार को दायें एवं बायें भाग पर समान रूप से वितरित करने पर रहे। इस स्थिति में हलकेपन की अनुभूति होगी। हाथों को चिन् या ज्ञान मुद्रा में घुटनों पर रखें।

5. वज्रासन

जंघाभ्यां वज्रवत्कृत्वा गुदापार्श्वे पदावुभौ ।
वज्रासनं भवेदेतद्योगिनां सिद्धिदायकम् ॥13॥

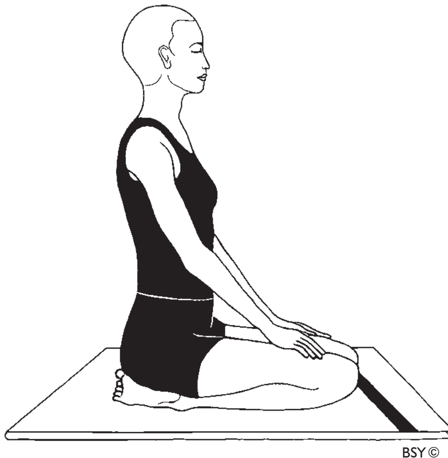
अर्थ

दोनों जंघाओं को वज्र के समान दृढ़ करके दोनों पाँवों को गुदा के दोनों ओर लगायें तो वज्रासन होता है। यह आसन योगियों के लिए सिद्धि देने वाला है ॥13॥

व्याख्या

जाँघों को वज्र के समान कठोर बना कर गुदामार्ग के पीछे अपने पैरों को रखना है। यह स्थिति वज्रासन की है। वज्रासन योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाला है।

विधि– जमीन पर कम्बल को तह करके बिछा लें। घुटनों के बल खड़े हो जायें। घुटने एक-दूसरे से मिले रहेंगे, परन्तु यदि असुविधा हो तो वे एक-दूसरे से थोड़ा अलग भी रह सकते हैं। दोनों पैरों के पंजों को इस प्रकार रखें कि दोनों अँगूठे एक-दूसरे का स्पर्श करें। नितम्बों को नीचे कर फैली हुई दोनों एड़ियों के बीच टिका दें। बैठते समय हाथों का सहारा लें। हाथों को घुटनों के



पास जाँघों पर रखें, हथेलियाँ नीचे की तरफ रहें। सिर सीधा रखें। पीठ और गरदन एक सीध में हों।

पीठ को सीधा रखने के प्रयत्न में मेरुदण्ड को आवश्यकता से अधिक पीछे की ओर न मोड़ें। आँखों को बन्द कर लें। भुजाओं एवं पूरे शरीर को शिथिल बनायें। सामान्य श्वसन क्रिया करें और नासिका से आती-जाती हुई श्वास के प्रवाह पर अपने ध्यान को केन्द्रित करें।

अवधि– जितना अधिक हो सके, इस आसन का अभ्यास करें। विशेषकर भोजनोपरान्त पाचन-क्रिया को तीव्र करने के लिए कम-से-कम 5 मिनट तक इसका अभ्यास करें। यदि पाचन सम्बन्धी कोई रोग हो तो भोजन के पूर्व एवं भोजनोपरान्त वज्रासन में बैठकर 100 तक श्वास की गिनती करते हुए उदर श्वसन का अभ्यास करें।

वज्रासन के इस अभ्यास को भी उन्होंने एक स्थिर आसन और ध्यान के अभ्यास के रूप में माना है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जितने आसन हैं, उनमें पैरों को फैलाया जाता है, घुटने अलग-अलग रहते हैं, किन्तु वज्रासन ही एक ऐसा अभ्यास है जिसमें घुटने एक साथ मिले रहते हैं, क्यों? इसलिए कि जब हम दूसरे अभ्यास करते हैं, जिनमें घुटने फैले रहते हैं, तब उस अवस्था में जाँघ कड़े नहीं रहते, ढीले रहते हैं।

इस आसन में प्राणशक्ति का प्रवाह दूसरे प्रकार का होता है। शरीर के छोरों से प्राणशक्ति हमेशा निकलती रहती है। आसन या मुद्रा या बन्ध, जिसका भी अभ्यास हम करते हैं, उसका यही प्रयोजन रहता है कि प्राणशक्ति के उस निर्गमन को रोक कर प्राण को शरीर के भीतर वापस खींचना।

सामान्य आसन में, चाहे सिद्धासन हो, चाहे सुखासन या मुक्तासन हो, पैरों की खुली हुई अवस्था में प्राणशक्ति का प्रवाह एक पैर से दूसरे पैर में होता रहता है, क्योंकि दोनों का एक-दूसरे से स्पर्श होता रहता है। वज्रासन को योग के एक उच्च अभ्यास के रूप में स्थान दिया गया है और जाँघों को कठोर करने की जो बात कही गयी है वह केवल वज्रासन की स्थिति को समझाने के लिए कि जब जाँघों पर जोर पड़ता है तब उनकी मांसपेशियाँ तन जाती हैं, कठोर हो जाती हैं। इस अभ्यास में जाँघ का क्षेत्र कड़ा हो जाता है।

लाभ–इस आसन का अभ्यास करने से वज्र नाड़ी पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यह नाड़ी प्रजनन एवं मूत्र निष्कासन प्रणाली के स्नायविक आवेगों को मस्तिष्क से शरीर के दूसरे अंगों तक ले जाने वाला महत्त्वपूर्ण

ऊर्जा प्रवाह पथ है। वज्रासन का अभ्यास करने से साधक की यौन भावनाएँ उसके नियन्त्रण में आ जाती हैं और उसकी ऊर्जा चेतना के विकास की ओर उन्मुख होने लगती है।

भारत में यह परम्परा है कि जब कोई सन्त-महात्मा आते हैं तब उनके पैरों को धोया जाता है। लेकिन कुछ ऐसे प्रान्त हैं, जैसे, महाराष्ट्र, दक्षिण भारत के राज्य इत्यादि, जहाँ पूरे पैर को नहीं धोते, केवल अँगूठे को धोते हैं उनका कहना है कि अँगूठे से शक्ति बाहर निकलती है और जो उस शक्ति को ग्रहण करता है, उसे प्रसाद के रूप में प्राप्त करता है, वह भाग्यवान् है। पुराणों में भी अनेक कथायें हैं। कहते हैं कि विष्णु जी के अँगूठे से गंगा जी निकलती हैं। यह तो एक प्रतीक है कि शुद्ध, पवित्र शक्ति का प्रवाह चरणों के अँगूठों से होता है।

इस आसन में अँगूठे एक-दूसरे से मिले रहते हैं, जिससे प्राणशक्ति का पुन: आपस में मेल होता है, एक परिपथ बन जाता है और वह एक पैर से दूसरे पैर के भीतर प्रवेश करती है, जिससे तलवों का क्षेत्र प्राणशक्ति से पूर्ण हो जाता है। वही शक्ति फिर मूलाधार क्षेत्र को प्रभावित करती है। मूलाधार चक्र के विकास में, जागृति में सहयोग देती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पैर के सामने के भाग और बगल से जो नाड़ियाँ गुजरती हैं, उनका सम्बन्ध हमारी प्रजनन इन्द्रियों एवं पाचन-संस्थान से रहता है। उन नाड़ियों में जब दबाव के कारण उत्तेजना उत्पन्न होती है तब उसका प्रभाव हमारे पाचन-संस्थान और प्रजनन इन्द्रियों पर पड़ता है। यह आमाशय के रोगों, जैसे, अति अम्लता एवं पेप्टिक अल्सर का निवारण कर सम्पूर्ण पाचन संस्थान की क्षमता में वृद्धि करता है। शरीर के निम्न भाग में स्थित यौन ग्रन्थि इस अभ्यास से प्रभावित होती है। ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए यह एक उत्तम अभ्यास है। पाचन प्रक्रिया को तीव्र करने के लिए भी इस आसन को बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। भोजन के बाद इसका अभ्यास करना चाहिए।

वज्रासन श्रोणि प्रदेश में रक्त के प्रवाह एवं स्नायविक आवेगों में परिवर्तन लाता है तथा श्रोणि प्रदेश की मांसपेशियों को पुष्ट बनाता है। यह हर्निया रोग के लिए एक निरोधात्मक उपचार विधि है तथा बवासीर के उपचार में भी सहायक है। यह प्रजननेन्द्रिय में रक्त प्रवाह को घटाता है तथा उन्हें रक्त पहुँचाने वाले तन्त्रिका तन्तुओं की मालिश करता है, जिससे पुरुषों को बढ़े हुए अण्डकोश

एवं हाइड्रोसिल के उपचार में सहायता मिलती है। यह महिलाओं को मासिक धर्म सम्बन्धी अनियमितताओं के उपचार में सहायक होता है। आँखें बन्द कर श्वास पर सजगता को केन्द्रित रखते हुए इसका अभ्यास करने से मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

ध्यान के लिए भी इस अभ्यास को उपयोगी माना गया है, क्योंकि यह मेरुदण्ड को सहारा देता है। इसमें कोई चाहे कितना ही प्रयास करे, पर झुककर नहीं बैठ सकता। सुखासन या सिद्धासन में व्यक्ति का शरीर झुक जाता है, लेकिन वज्रासन में सहज भाव से रीढ़ की हड्डी सीधी रहती है, परिश्रम नहीं करना पड़ता। साइटिका एवं सेक्रल इन्फेक्शन से पीड़ित व्यक्तियों के लिए यह ध्यान का सर्वोत्तम आसन है। इसमें प्राण प्रवाह सुचारु रूप से होता है। कुण्डलिनी योग में सुषुम्ना की जागृति के लिए भी इस आसन का अभ्यास किया जाता है। इसी कारण महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि इस आसन को करने से योगी सिद्धि को प्राप्त करता है।

टिप्पणी – यदि जाँघों में दर्द का अनुभव हो तो इसी आसन में घुटनों को थोड़ा अलग कर लेते हैं। प्रारम्भिक अभ्यासियों को थोड़ी देर वज्रासन में बैठने से टखनों में दर्द होने लगता है, इसे दूर करने के लिए पैरों को सामने फैला लें और पैरों का कड़ापन दूर होने तक उन्हें ऊपर-नीचे हिलायें। पुनः वज्रासन में बैठें। आसन को आरामदायक बनाने के लिए नितम्बों एवं एड़ियों के बीच एक मुड़ा हुआ कम्बल या तकिया रख सकते हैं।

6. स्वस्तिकासन

जानूर्वोरन्तरे कृत्वा योगी पादतले उभे ।
ऋजुकायसमासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥14॥

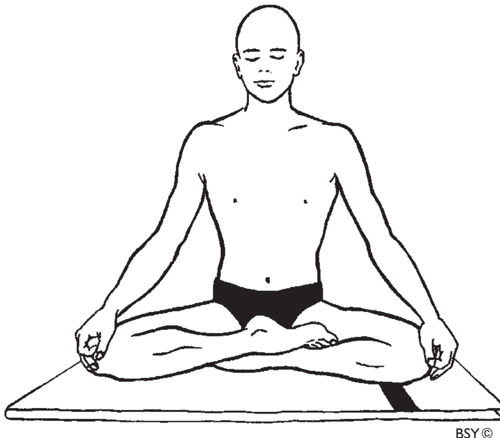
अर्थ

दोनों जाँघों और घुटनों के मध्य दोनों तलवों को रख कर त्रिकोणाकार आसन लगायें और समभाव से बैठें, इसे स्वस्तिकासन कहते हैं ॥14॥

व्याख्या

स्वस्तिकासन ध्यान के मुख्य आसनों में से एक है। अलग-अलग योग के प्रणेताओं, व्याख्याकारों ने अलग-अलग अभ्यासों को सर्वश्रेष्ठ माना है। महर्षि पतंजलि ने ध्यान के कुछ विशेष अभ्यासों का वर्णन किया है और महर्षि घेरण्ड ने भी। सामान्य रूप से ध्यान के चार प्रमुख आसन माने जाते हैं– पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन और सुखासन। योग के सभी व्याख्याकारों ने इन चार आसनों को अपनी पूर्ण सहमति प्रदान की है। इनके अतिरिक्त ध्यान के और भी आसन हैं, लेकिन ये चार प्रमुख माने गये हैं।

विधि– स्वस्तिकासन का अभ्यास करने के लिए पैरों को सामने फैलाया जाता है। बायें घुटने को मोड़कर बायें पैर के तलवे को दायीं जाँघ के भीतरी



भाग के पास इस प्रकार रखते हैं कि एड़ी सिवनी का स्पर्श न करे। बायें घुटने को मोड़कर दायें पैर को बायें पैर के ऊपर रखते हैं। जैसे सुखासन में बैठते हैं। अब केवल सुखासन में बैठना नहीं है, जिस प्रकार सिद्धासन के अभ्यास में पैर के पंजे को जाँघ और पिण्डली के बीच से निकाला जाता है, ठीक उसी प्रकार सुखासन में बैठकर, बायें पैर को मोड़कर पंजे को दाहिनी जाँघ और पिण्डली के बीच से ऊपर निकालना है और दाहिने पैर के पंजे को बायीं जाँघ और पिण्डली के बीच से ऊपर निकालना है। दोनों पैरों के पंजे जाँघ और पिण्डली के बीच दबे रहते हैं। एड़ी श्रोणि प्रदेश का स्पर्श न करे। घुटने जमीन के सम्पर्क में रहें। रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें। हाथों को चिन् या ज्ञान मुद्रा में घुटनों के ऊपर रखें या फिर गोद में रखें। आँखें बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनायें। शरीर को व्यवस्थित कर आसन को आरामदायक बनायें। शरीर को स्थिर बनाने के लिए यह एक सरल अभ्यास है।

सावधानियाँ– साइटिका एवं रीढ़ के निचले भाग के विकारों से पीड़ित लोगों को यह आसन नहीं करना चाहिए।

टिप्पणी– सिद्धासन और स्वस्तिकासन में केवल इतना अन्तर है कि सिद्धासन में एड़ियाँ एक-दूसरे के ऊपर रहती हैं, और पैरों को जाँघ तथा पिण्डली के बीच घुसाया जाता है। स्वस्तिकासन में पैर सामान्य अवस्था में रहते हैं, पंजों को घुसाया जाता है। सिद्धासन की तरह इसमें सिवनी पर एड़ी का दबाव नहीं रहता। एक तरह से यह भी माना जा सकता है कि स्वस्तिकासन सिद्धासन का सरल प्रकारान्तर है। ध्यान के स्थिर आसन के रूप में इसका प्रयोग करते हैं।

लाभ– इसके लाभ वही हैं जो सिद्धासन के हैं।

7. सिंहासन

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणोर्ध्वतां गतौ ।
चितियुग्मं भूमिसंस्थं करौ च जानुनोपरि ॥15॥
व्यात्तवक्त्रो जलन्ध्रेण नासाग्रमवलोकयेत् ।
सिहासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशकम् ॥16॥

अर्थ

दोनों पाँवों की एड़ियों को व्युत्क्रमपूर्वक अण्डकोशों के नीचे लगा कर जालन्धर बन्ध सहित भौंहों के मध्य में दृष्टि स्थिर करें अथवा नासिका के अग्रभाग में ही निश्चल दृष्टि रखें। यह सिंहासन नामक आसन सभी रोगों को नष्ट करने वाला है ॥15-16॥

व्याख्या

विधि– वज्रासन की अवस्था में बैठकर घुटनों को लगभग 45 सेन्टीमीटर फैला देना है। पैरों की अंगुलियाँ एक-दूसरे का स्पर्श करती रहें। सामने झुककर अपनी हथेलियों को घुटनों के मध्य जमीन पर रखना है। अंगुलियाँ शरीर की ओर रहें। भुजाओं को एकदम सीधा रखें और पीठ को चापाकार बनायें। शरीर



का भार भुजाओं पर रहे। सिर को ऊपर उठायें ताकि ग्रीवा का अधिकतम विस्तार हो और कण्ठ

मार्ग खुला रहे। आँखों को बन्द करें तथा शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करते हुए आन्तरिक दृष्टि को भ्रूमध्य पर एकाग्र करें। आँखों को खुला भी रखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में छत पर किसी बिन्दु पर दृष्टि को एकाग्र करें। मुँह को बन्द रखें।

श्वास– इस आसन में श्वास सामान्य रहेगी।

लाभ– महर्षि घेरण्ड के अनुसार सिंहासन शरीर के सभी विकारों को दूर करने के लिए लाभदायक सिद्ध होता है। इस आसन से मेरुदण्ड का अच्छा विस्तार होता है तथा शरीर पूर्णतः दृढ़ रहता है। पूर्ण शारीरिक स्थिरता रहती है। शरीर का भार किसी एक अंग पर नहीं पड़ता। अन्तर्दृष्टि को भ्रूमध्य पर केन्द्रित करने से, जो कि मेरुदण्ड के शीर्ष का प्रतिनिधित्व करता है, केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के कार्य में भारी परिवर्तन आता है और वह हाइपोथेलेमस-लिम्बिक-संस्थान के चारों ओर की अभ्यन्तर संरचना पर प्रभाव डालता है। आँखों को बन्द करने से सिर के पिछले भाग में दृक् संस्थान में अल्फा तरंगें उत्पन्न होती हैं। ध्यान के भाव में शाम्भवी मुद्रा में त्रिर्यक दृष्टि करने से ये तरंगें सिर के पीछे के भाग से ललाट की ओर फैलती हैं, जिससे अतिशीघ्र गहन ध्यान या शिथिलीकरण की अवस्था आती है। प्रतिवर्त के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए यह परिणाम निकाला जा सकता है कि हाथों पर जो दबाव पड़ता है, वह



तनाव एवं परेशानियों को दूर करने, रक्त परिसंचरण को बढ़ाने, स्नायुओं को समंजित करने एवं ध्यान की प्रक्रियाओं को सिद्ध करने के लिए आवश्यक प्राण ऊर्जा को सन्तुलित बनाने में सहायक होता है।

टिप्पणी– सामान्य रूप से सिंहासन को सिंह गर्जासिन से सम्बद्ध किया जाता है। किन्तु उपनिषदों में उस आसन का वर्णन सिंहासन के प्रकारान्तर के रूप में आता है। ध्यान के इस आसन में सिंह चुपचाप बैठकर कुछ घटने का इंतजार करता है। ध्यान की गहन अवस्थाओं में प्रवेश करने के लिए मन में यही मनोभाव लाना होता है।

प्रकारान्तर– सिंह गर्जासन– सिंहासन में बैठकर आँखों को खुला रखते हुए शाम्भवी मुद्रा (भ्रूमध्य पर दृष्टि को एकाग्र करना) लगाते हैं। पूरे शरीर को शिथिल बनाते हैं। मुँह को बन्द रखते हुए नासिका से गहरी लम्बी श्वास अन्दर लेते हैं। पूरक करने के पश्चात् जीभ को यथासम्भव प्रयास करके बाहर निकालते हैं। फिर मुँह खुला रखते हुए, धीमी गति से श्वास छोड़ते हुए गले से गर्जन की आवाज निकालते हैं। रेचक की समाप्ति पर मुँह बन्द कर श्वास लेते हैं। यह एक आवृत्ति हुई। इस मन्त्र में पुनः यह बात कही जा रही है कि जालन्धर बन्ध का अभ्यास होना चाहिए और नासिकाग्र पर अपनी चेतना को, एकाग्रता को रखना है।

श्वास– सिंहासन की स्थिति में श्वास सामान्य रहेगी। नासिका से धीमी गति से पूरक करें। तत्पश्चात् 'आ... आ....' की ध्वनि उत्पन्न करते हुए मुँह से श्वास छोड़ें। जब हम गले से गर्जना करते हुए श्वास बाहर छोड़ते हैं और तत्पश्चात् उसे पुनः अन्दर लेते हैं, तब तुरंत श्वास नहीं खींचनी है। आवाज करने के बाद श्वास को बाहर ही रोककर, साथ-ही-साथ जालन्धर बन्ध और नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास करना है।

समय– योग ग्रन्थों में कहा गया है कि सिंहासन का अभ्यास सूर्योदय के समय करना चाहिए और अभ्यास करते समय सूर्य को देखते हुए अपने मुँह को खोलना चाहिए ताकि सूर्य की किरणें कण्ठ में प्रवेश करें। ये किरणें कण्ठ, गलतुण्डिका (टॉन्सिल), कण्ठ की नाड़ियों और मांसपेशियों में पहुँचकर उन्हें स्वस्थ और सबल बनाती हैं।

अवधि– सामान्य स्वास्थ्य के लिए प्रतिदिन 5 आवृत्ति करें। विशेष रोगों के उपचार हेतु 10-20 आवृत्ति करें। प्रत्येक आवृत्ति के बाद आँखों, जिह्वा एवं मुँह को कुछ क्षणों तक विश्राम दिया जा सकता है। इस आसन का अभ्यास

किसी भी समय किया जा सकता है।

सजगता– पूरक करने के समय श्वास पर, रेचक करते समय उत्पन्न होने वाली ध्वनि तथा गले पर पड़ने वाले प्रभाव पर। आध्यात्मिक दृष्टि से विशुद्धि या आज्ञा चक्र पर।

लाभ– जो लोग ठीक से बोल नहीं पाते, बोलने में परेशानी होती है, या जिनकी आवाज कर्कश है, मधुर नहीं है, या हकलाते हैं, उनके लिए तथा गले के स्वर रज्जु, स्वर उत्पन्न करने वाली ग्रन्थि से सम्बद्ध रोगों, टॉन्सिलाइटिस (जिसमें मवाद भरता या खून निकलता है; गले में सूजन आ जाती है; दर्द होता है) और मुँह के छालों के लिए सिंहासन का अभ्यास उत्तम माना गया है। इससे वक्ष एवं मध्य पट का तनाव दूर होता है। निराश एवं अन्तर्मुखी लोगों के लिए भी यह आसन उपयोगी है। इससे आवाज ओजस्वी एवं सुन्दर होती है। इसमें शाम्भवी मुद्रा के लाभ भी प्राप्त होते हैं।

प्रकारान्तर– शाम्भवी मुद्रा लगाने के बाद खेचरी मुद्रा लगायें। मुँह को बन्द रखते हुए जिह्वा को पीछे मोड़कर उसके अग्रभाग को तालू से स्पर्श करायें। नासिका से धीमी गहरी श्वास लें। पूरक करने के पश्चात् जीभ को सीधा कर लें, मुँह को खोलें तथा जिह्वा को यथासम्भव बाहर निकालें।

8. गोमुखासन

पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् ।
स्थिरं कायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृतिः ॥ 17 ॥

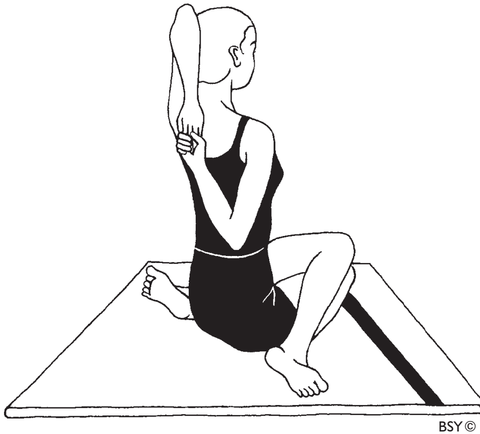
अर्थ

पृथ्वी पर दोनों पाँवों को रख कर और पीठ के दोनों पार्श्वों में लगा कर देह को सीधा कर गौ के मुख के समान ऊँचा करके बैठने को गोमुखासन कहते हैं ॥ 17 ॥

व्याख्या

विधि– सबसे पहले पैरों को फैला लेना है। इस आसन में इस प्रकार बैठना है कि एक पैर दूसरे पैर के ऊपर रहे और दोनों एड़ियाँ शरीर के बगल में। दाहिने पैर को मोड़कर एड़ी को बायें नितम्ब के समीप रखते हैं और बायें पैर को मोड़कर एड़ी को दायें नितम्ब के समीप तथा दोनों घुटनों को एक-दूसरे पर रखते हैं।

केवल यही स्थिति, मात्र इतना अभ्यास प्रजनन इन्द्रियों से सम्बद्ध रोगों के लिए लाभदायक है। पुरुषों में यदि अण्डकोष की वृद्धि हो जाये तो इसका अभ्यास लाभदायक है। महिलाओं में, गर्भ थैली के ढीला पड़ने पर इसका अभ्यास किया जाता है, क्योंकि यह अभ्यास फैली हुई मांसपेशियों को बीच में समेटकर, उनमें संकुचन की स्थिति ले आता है।



पैरों की इस अवस्था में गोमुखासन की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अपने दाहिने हाथ को पीठ के पीछे ले जाना है और बायें हाथ को बायें कन्धे पर से पीछे ले जाकर दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर बाँध लेना है। बायीं केहुनी बगल की सीध में रहेगी। कुछ लोग कहते हैं कि केहुनी सिर के ठीक पीछे रहनी चाहिए। दोनों प्रकारान्तर मान्य हैं। रीढ़ सीधी रहे और सिर पीछे की ओर। आँखों को बन्द करें।

इसमें इतना ही ध्यान रखना है कि जो पैर ऊपर है, वह हाथ ऊपर जायेगा, और जो पैर नीचे है, वह हाथ पीछे से ऊपर जायेगा। जैसे, दाहिना पैर नीचे है, तो दायाँ हाथ पीछे से ऊपर जायेगा। इस अवस्था में नासिकाग्र दृष्टि पर अपने आपको केन्द्रित करके सामान्य श्वास लेते हुए कुछ समय तक बैठे रहें। जितनी देर तक आप आराम से इस आसन में रह सकते हैं, एक मिनट, दो मिनट, उतनी देर तक बैठे रहें। प्रारम्भ में तो व्यक्ति कुछ सैकण्ड से ज्यादा नहीं रह सकता, लेकिन जब अभ्यास हो जाये तब कम-से-कम एक मिनट तक इस अवस्था में रह सकते हैं। फिर इस अभ्यास को पैरों को बदल कर करते हैं, अर्थात् दाहिना पैर ऊपर और बायाँ पैर नीचे।

लाभ– यह अभ्यास किसी व्यक्ति के लिए वर्जित नहीं है। कोई भी व्यक्ति, किसी भी रोग से पीड़ित व्यक्ति इस अभ्यास को कर सकता है। यह शिथिलीकरण का एक उत्तम अभ्यास है। यह एक सरल अभ्यास है। इससे स्नायु मजबूत बनते हैं। यदि 10 मिनट या इससे अधिक अभ्यास किया जाए तो यह थकान, चिन्ता एवं तनाव को दूर कर देता है।

यह अभ्यास फेफड़ों के लिए, छाती को फैलाने के लिए बहुत उपयोगी है, क्योंकि इससे फेफड़ों की मांसपेशियों का प्रसार होता है। जब वे फैलती हैं, तब श्वास लेने की क्षमता बढ़ती है। यदि फेफड़ों में कोई अवरोध होजैसे, बहुत लोगों को खाँसी के समय श्वास लेने में कठिनाई होती है; बहुत लोगों को दमा या ब्रोंकाइटिस या हँफनी के समय श्वास लेने में कठिनाई होती हैतो ऐसी समस्याओं को दूर करने के लिए तथा श्वसन सम्बन्धी रोगों के लिए इस आसन का अभ्यास उपयोगी है। इसमें केवल यह ध्यान रखना है कि श्वसन प्रक्रिया पेट से हो, छाती से नहीं। कभी-कभी हम छाती से श्वास लेने लगते हैं, यह ठीक नहीं है। श्वास लेनी है, पेट को फैलाना है; श्वास छोड़नी है, पेट को अन्दर ले जाना है।

पीठ के ऊपरी भाग और गर्दन से सम्बन्धित दर्द, जिसे 'स्टिफ नेक' कहते हैं; स्पॉण्डिलाइटिस, 'राइटर्स क्रैम्प' (बहुत लिखने से कभी-कभी कन्धों

और हाथ के जोड़ों में दर्द होता है) इत्यादि के लिए यह बहुत अच्छा अभ्यास है। विशेषकर स्पॉण्डिलाइटिस के लिए बहुत लाभकारी है। कई बार कन्धे जम जाते हैं, अर्थात् हाथ ऊपर नहीं उठता, बहुत दर्द होता है। हड्डियों में कैल्शियम की मात्रा बढ़ने लगती है। उनका क्रिस्टलन होने लगता है। जब हमारे जोड़ों में कैल्शियम का क्रिस्टलन होने लगता है, तब किसी अंग को हिलाने से चुभन होती और भयंकर दर्द होता है। इसके उपचार में भी यह अभ्यास बहुत सहायक है। कभी-कभी चोट लगने से मेरुदण्ड के ऊपरी भाग में स्थित कटि कशेरुकाओं में 'स्पॉण्डिलाइटिस' होने की सम्भावना रहती है। अगर ऊपर के भाग में 'स्पॉण्डिलाइटिस' हो जाये, दो कशेरुकाओं के बीच से उनकी गद्दी हट जाये, तो यह अभ्यास स्थिति को सामान्य बनाने में बहुत सहयोग देता है। यह पैरों के कड़ेपन को दूर कर पैरों की मांसपेशियों को लचीला बनाता है।

बगल के दबाव के कारण यह अभ्यास वृक्क को भी प्रभावित करता है। वृक्क में अगर विकार हो या किसी प्रकार का रोग हो, तो उसकी रोकथाम एवं उपचार के लिए भी इस आसन का अभ्यास किया जा सकता है।

9. वीरासन

एकं पादमथैकस्मिन्विन्यसेदूरुसंस्थितम् ।
इतरद्वस्मस्तथा पश्चाद्वीरासनमितीरितम् ॥ 18 ॥

अर्थ

एक पैर को दूसरे पैर की जाँघ के समीप रखकर दूसरे पैर को पीछे की ओर निकालने से वीरासन हो जाता है ॥ 18 ॥

व्याख्या

विधि– वज्रासन की स्थिति में बैठते हैं। दाहिने घुटने को ऊपर उठाकर दायें पैर को बायें घुटने के भीतरी भाग के पास जमीन पर रखते हैं। दायीं केहुनी को दायें घुटने पर रखते हैं तथा ठुड्डी को दायीं हथेली के ऊपर रखते हैं। आँखें बन्द कर विश्राम करते हैं। शरीर पूरी तरह गतिहीन रहे। रीढ़ एवं सिर सीधे रहते हैं। फिर बायें पैर को दाहिने घुटने के पास रखकर इस अभ्यास को दोहराते हैं।

श्वास– यह कल्पना करते हुए कि श्वास भ्रूमध्य से अन्दर-बाहर आ-जा रही है, धीमा, गहरा श्वसन करें।



अवधि– कम-से-कम दो मिनट तक अभ्यास करें, फिर बायीं केहुनी को बायें घुटने के ऊपर रखते हुए अभ्यास को दोहरायें।

लाभ– यह बहुत सरल अभ्यास है। जिन लोगों को ध्यान के आसन में बैठने में कठिनाई होती है, वे इस अवस्था में ध्यान का अभ्यास कर सकते हैं। जब एक पैर पर बैठे-बैठे थक जायें तब पैर को बदल लीजिए। शरीर को एक आरामदायक स्थिति में लाने के लिए और उसमें एकाग्रता का अभ्यास करने, पढ़ाई करने एवं मन को केन्द्रित करने के लिए यह उपयोगी आसन है।

इसमें वज्रासन के ही लाभ प्राप्त होते हैं, बल्कि जो लोग वज्रासन नहीं कर पाते, जिन्हें वज्रासन करने में दिक्कत होती है, जिनकी जाँघ की मांसपेशियाँ कड़ी हैं, अथवा एड़ी के पास या घुटनों में दर्द होता है, वे इस आसन को कर सकते हैं। स्नायविक विकार के लिए भी यह बहुत उपयोगी अभ्यास है।

यह भी देखा गया है कि अगर व्यक्ति बहुत उत्तेजित हो, चंचल हो, तो उसे इसी आसन में बैठाकर, उसके एक हाथ को उसके सिर के पास रख कर, उसकी एक नासिका को बन्द कर दें और उसे पाँच मिनट तक ऐसे ही बैठाये रखें, तो दूसरी नासिका में प्रवाह के शुरू होने के पश्चात् उसकी चंचलता या उत्तेजना समाप्त हो जाती है। यह अभ्यास तन्त्रिका-तन्त्र को बहुत संवेदनशील बना देता है।

यह आसन मन को सन्तुलित बनाता है। एकाग्रता की शक्ति को बढ़ाता है। अचेतन क्षेत्रों के प्रति अधिक सजग बनाता है तथा शीघ्र ही शारीरिक एवं मानसिक शान्ति प्रदान करता है। चिन्तन की प्रक्रिया बहुत स्पष्ट एवं सूक्ष्म हो जाती है। यह आसन उन लोगों के लिए उपयोगी है जो बहुत अधिक सोचते हैं या जिनकी विचार-प्रक्रिया अनियन्त्रित या विक्षिप्त रहती है। यह वृक्क, यकृत, प्रजनक अंगों एवं आमाशय के अंगों के लिए बहुत अच्छा आसन है।

प्रकारान्तर– इस आसन को एड़ियों के ऊपर बैठकर भी किया जा सकता है, जिससे मूलाधार चक्र उत्तेजित होता है।

10. धनुरासन

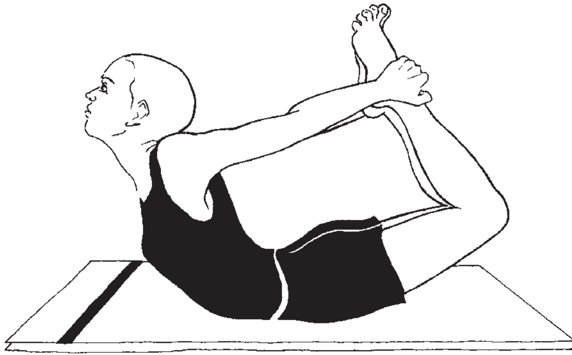
प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृतपादयुग्मम् ।
कृत्वा धनुर्वत्परिवर्तितागं निगद्यते वै धनुरासनं तत् ॥19॥

अर्थ

दोनों पैरों को भूमि पर फैला दें। दोनों हाथों को पीठ की ओर कर दोनों चरणों को पकड़ लें तथा धनुष के आकार में शरीर को कर लें। योगियों के अनुसार यह धनुरासन है ॥19॥

व्याख्या

विधि– पेट के बल लेटकर अपने पैरों को पीछे की ओर मोड़कर एड़ियों को नितम्बों के समीप लाते हुए पैरों को हाथों से पकड़ लेना है। यह प्रारम्भिक स्थिति है। हाथों से पैरों के अँगूठों को पकड़ने का ढंग ऐसा होना चाहिए कि हाथों के अँगूठे पैरों के तलवों की तरफ रहें और अंगुलियाँ पैरों के पंजों पर रहें। जाँघों, वक्ष एवं सिर को ऊपर उठाकर पैरों को यथासम्भव सिर के पास लायें। शरीर को अधिक ऊपर उठाने के लिए हाथों को पहले बाजु में रखिये, फिर कन्धों से ऊपर ले जाइये। अपने शरीर को तने हुए धनुष के आकार में लाना है। शरीर में तनाव और कड़ापन उत्पन्न करना है, जिससे शरीरहाथ, पैर, मेरुदण्ड, सिर तथा गर्दन तन जायें। भुजाएँ सीधी रहें। अन्तिम अवस्था में सिर को पीछे की



ओर झुकाते हैं तथा शरीर का पूरा भार आमाशय पर पड़ता है। केवल पैर के स्नायुओं का संकुचन होता है, पीठ एवं भुजाएँ शिथिल रहती हैं। जब तक आराम से इस अन्तिम अवस्था में रह सकते हैं, तब तक रहें।

इस अवस्था में, धनुरासन की स्थिति में शरीर को आगे-पीछे हिलाया या लुढ़काया जा सकता है। तत्पश्चात् पैर की मांसपेशियों को शिथिल करते हुए पैर, छाती एवं सिर को नीचे लाकर प्रारम्भिक स्थिति में आयें। प्रारम्भिक स्थिति में तब तक विश्राम करें जब तक श्वास सामान्य न हो जाए। यह एक आवृत्ति हुई।

लाभ– महर्षि घेरण्ड के अनुसार धनुरासन के अभ्यास से मेरुदण्ड लचीला बनता है। मेरुदण्ड में लचीलापन होने के कारण पूरे शरीर में ताजगी का अनुभव होता है। मेरुदण्ड, जो तना हुआ और कड़ा रहता है, वह ढीला हो जाता है। मेरुदण्ड के कड़े होने के कारण तन्त्रिका-तन्त्र में जो व्यवधान उत्पन्न होते हैं, वे दूर हो जाते हैं। यह कूबड़ के उपचार में सहायक होता है।

विशेषत: इसका अभ्यास मेरुदण्ड से सम्बन्धित रोगों, जैसे, स्लिपडिस्क, स्पॉण्डिलाइटिस या सायटिका के उपचार के लिए कराया जाता है। लेकिन इसका अभ्यास करने से अनुभव होता है कि जब हम धनुरासन में अपने शरीर को आगे-पीछे लुढ़काते हैं, तब शरीर की मांसपेशियों, यकृत, पाचन-संस्थान और श्वसन-संस्थान की भी मालिश होती है। उनमें रक्त-संचार तीव्र होता है। आँतों में, पेट में गति के कारण पाचन प्रक्रिया भी सुचारु रूप से चलती है। सम्पूर्ण अन्न नली पुनर्व्यवस्थित होती है। बच्चों के पेट में जब कृमि उत्पन्न होते हैं, तब भी इस अभ्यास को कराने से बहुत राहत मिलती है। यह आसन यकृत की क्रियाशीलता को बढ़ाता और पेट में वायु सम्बन्धी रोगों को भी दूर करता है। अग्नाशय एवं एड्रीनल ग्रन्थि से हार्मोन के स्राव में सन्तुलन आता है। वृक्क की मालिश होती है तथा पेट के चारों ओर जमी अतिरिक्त चर्बी घटती है। इससे पाचन-संस्थान, उत्सर्जक एवं प्रजनक अंगों की क्रियाशीलता बढ़ती है तथा यह अपच, दीर्घकालिक कब्ज एवं यकृत की मन्द क्रियाशीलता के उपचार में सहायक होता है।

योग चिकित्सा में मधुमेह, इन्द्रिय असंयम, कोलाइटिस तथा मासिक धर्म सम्बन्धी अनियमितताओं के उपचार के लिए तथा विशेष मार्गदर्शन में सरवाइकल स्पॉण्डिलाइटिस के उपचार के लिए भी इस आसन को करने का सुझाव दिया जाता है। यह वक्ष के अनेक रोगों को दूर करने में सहायक है। यह सरवाइकल तथा वक्षीय अनुकम्पी तन्त्रिकाओं में स्नायविक ऊर्जा के प्रवाह को अबाधित बनाने तथा श्वसन प्रक्रिया को सुधारने में सहायक होता है।

11. मृतासन

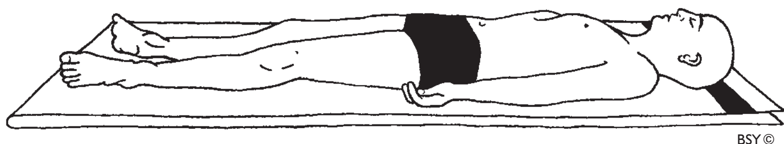
उत्तानं शववत् भूमौ शयनं तु शवासनम् ।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम् ॥20॥

अर्थ

मृतक के समान अपने पूरे शरीर को ढीला करके धरती पर लेट जायें। यह शवासन श्रम को दूर करने और चित्त को सन्तोष देने वाला है ॥20॥

व्याख्या

विधि– शवासन करने का तरीका बहुत सरल है। जमीन पर पीठ के बल लेट जाते हैं। लेकिन केवल लेटना शवासन नहीं है। इसमें शरीर की एक स्थिति भी होती है। सामान्य रूप से जब लोग लेटते हैं तब न अपने पैरों की स्थिति के प्रति सजग रहते हैं और न ही हाथों को ठीक प्रकार से रखते हैं। पैरों के बीच उतनी ही दूरी होनी चाहिए जितनी कमर की चौड़ाई है। कमर अगर 14 इन्च चौड़ी हो, तो पैरों के बीच भी 14 इन्च की दूरी होनी चाहिए। हाथों को शरीर के बगल में, लगभग 15 सेन्टीमीटर की दूरी पर रखना है; हथेलियाँ ऊपर की ओर खुली रहेंगी, अंगुलियों को थोड़ा मोड़ सकते हैं। अर्थात् हथेलियों को उलटा नहीं, बल्कि सीधा रखना है। प्रारम्भ में थोड़ा अटपटा-सा लगता है, क्योंकि हमारी आदत हाथ को उलटा रखने की है और जब हम सीधा रखने का प्रयास करते हैं तब कलाई के मुड़ने के कारण दर्द होता है या अटपटा-सा लगता है। लेकिन यह अभ्यास के ऊपर निर्भर है। धीरे-धीरे जब अभ्यास हो जाता है तो इस आसन में ही बहुत अच्छा लगता है। इसका एक दूसरा कारण है कि हथेली के पिछले भाग में बहुत कम संवेदना उत्पन्न होती है। वहाँ पर बहुत-ही कम संवेदी तन्तु हैं। लेकिन हथेली के सामने के भाग में बहुत अधिक संवेदना उत्पन्न होती है, क्योंकि उसमें संवेदी तन्त्रिका-तन्त्र की बहुत-सी नाड़ियाँ स्थित हैं, जो किसी संवेदना या किसी अनुभव को तुरंत ग्रहण कर लेती हैं। लेकिन हथेलियों के पिछले भाग में कम संवेदी तन्तुओं के कारण ऐसा नहीं होता। हाथों को उलटी स्थिति में रख कर हम उनसे प्राप्त होने वाले संवेदी उद्दीपनों को कम कर देते हैं, इसलिए हाथों को ऊपर की ओर खुला रखने के लिए कहा जाता है।



मुँह को बन्द रखें, निचले जबड़े को ढीला करें। चेहरे पर किसी प्रकार का तनाव न रहे। सिर के नीचे एक पतला तकिया या मुड़ा हुआ कम्बल रखें। तकिये के दोनों किनारे कन्धों के नीचे हों, इससे कन्धों और गले की मांसपेशियों को शिथिल होने में सहायता मिलेगी। सिर एवं मेरुदण्ड एक सीध में रहें। सिर दायें या बायें झुका हुआ न रहे। शरीर को शिथिल बनाकर सभी शारीरिक हलचल रोक दें। सामान्य श्वास के प्रति सजग बनें तथा इसे लयबद्ध एवं शिथिल होने दें। अपने शरीर के उन अंगों के प्रति सजग बनें जो जमीन का स्पर्श कर रहे हैं। यदि अभ्यास के दौरान विचार आते हैं तो उन्हें दबाने का प्रयास न करें, बल्कि अपनी चेतना को शरीर के विभिन्न अंगों पर घुमाते हुए उन्हें शिथिल बनायें।

सजगता– शवासन में शरीर में हलचल नहीं होनी चाहिए। जब एक बार शरीर शवासन की अवस्था में पहुँच जाये, तब फिर आसन की ही भावना को बनाये रखना है। आसन की भावना अगर न रहे और केवल लेटने की इच्छा हो तो सजगता का अभाव हो जायेगा। शरीर और मन में सामंजस्य नहीं रहेगा। शरीर और मन की अवस्था को हम पहचान नहीं पायेंगे, इसलिए शवासन में सजगता और स्थिरता प्रमुख हैं। इसके पीछे एक कारण है कि थोड़ी भी हलचल करने पर कुछ मांसपेशियों को कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। इससे वे मांसपेशियाँ संकुचित हो जायेंगी, जबकि शवासन में इसके ठीक विपरीत आप इन्हीं संकुचनों को दूर करने का प्रयास करते हैं।

इसके लिए थोड़ा-सा मानसिक प्रयास आवश्यक है, परन्तु यह प्रयास तनाव रहित होना चाहिए। शवासन का अभ्यास करते-करते बीच में ही नींद आ जाए तो आप इसके बहुत-से लाभों से वंचित रह जायेंगे। सो जाने से मन फिर से चिन्ताओं से घिरने लगता है, अत: अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए पूर्ण सजगता के साथ इस आसन का अभ्यास करना चाहिए।

शवासन में भी अपने आपको एकाग्र और केन्द्रित करने तथा गहराई में जाने के अनेक तरीके हैं। कुछ लोग प्रारम्भ में शरीर के प्रति सजग बनते हैं और कुछ लोग श्वास पर ध्यान करते हैं। कुछ लोग श्वास की गिनती

करते हैं, कुछ लोग शवासन में संक्षिप्त योगनिद्रा का अभ्यास करते हैं। अपने आपको केन्द्रित करने के लिए तरीके तो अनेक हैं। जितने तरीके आप खोज सकें, उतने मान्य होंगे, लेकिन शवासन की अन्तिम अवस्था या अन्तिम परिणति है 'योगनिद्राट।

अवधि– जितना समय उपलब्ध हो, उतनी देर अभ्यास करें। सामान्य रूप से जितना अधिक कर सकें, उतना ही अच्छा होगा, हालाँकि आसनों के अभ्यास के मध्य एक-दो मिनट तक शवासन का अभ्यास पर्याप्त होता है।

क्रम– इस अभ्यास को निद्रा के पूर्व तथा आसनों के अभ्यास के मध्य, विशेषकर गत्यात्मक आसनों, जैसे-सूर्यनमस्कार के पश्चात् करना चाहिए।

लाभ– यह अभ्यास सम्पूर्ण मनोकायिक संस्थान को विश्रान्त बनाता है। शरीर एवं मन को शान्त तथा शिथिल बनाकर यह आसन तनावजन्य रोगों का निवारण करता है। शरीर की थकान को दूर करता है। शरीर में अगर किसी प्रकार की उत्तेजना का अनुभव हो या अन्य आसनों के अभ्यास के बाद थकान का अनुभव हो, तो शवासन का अभ्यास कर लेना चाहिए। यह आसन शरीर के प्रति सजगता विकसित करता है। जब शरीर पूरी तरह विश्रान्त हो जाता है, तब मन के प्रति सजगता बढ़ती है और प्रत्याहार की अवस्था आती है। अगर इस अभ्यास को कोई सिद्ध कर ले तो विषम-से-विषम परिस्थितियों में भी मन शान्त और चिन्तारहित रहेगा।

जो व्यक्ति उच्च रक्तचाप, तन्त्रिका दौर्बल्य, मधुमेह एवं हृदयरोग तथा विशेष रूप से तनावजन्य रोगों से पीड़ित हैं, उन्हें शवासन का अभ्यास नियमित रूप से प्रतिदिन कुछ बार करना चाहिए।

प्रकारान्तर– शवासन में लेटे रहकर अपने दायें हाथ के प्रति सजग बनें और उसे शिथिल बनाये। फिर धीरे-धीरे हाथ की कलाई, केहुनी, काँख, दायीं बगल, दायें नितम्ब, दायीं जाँघ, दायें घुटने, पिण्डली, एड़ी, पैर के तलवे के प्रति सजग बनें और उन्हें क्रम से शिथिल बनायें। इसी प्रक्रिया को बायें भाग, सिर एवं धड़ में भी दुहरायें। जाँच कर लें कि आपके शरीर का प्रत्येक अंग शिथिल हो गया है, अनुभव करें कि सभी अंग जमीन में धँस रहे हैं। यह प्रक्रिया कई बार दोहरायें, इससे सभी प्रकार के तनाव दूर हो जायेंगे।

12. गुप्तासन

जानूर्वोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत् ।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः ॥21॥

अर्थ

दोनों घुटनों के मध्य भाग में दोनों पाँवों को छुपा कर रखें और उन पाँवों में गुह्य प्रदेश को कर लें। यह गुप्तासन कहलाता है ॥21॥

व्याख्या

इस आसन में पैरों को जाँघ के नीचे रखा जाता है। पंजों, एड़ियों और पिण्डलियों को जाँघ के नीचे छुपाकर रखने का प्रयास किया जाता है। इसी कारण इसे गुप्तासन कहते हैं।

गुदा को दोनों पंजों के ऊपर रखते हैं। यह एक सरल आसन है और सभी व्यक्ति इसका अभ्यास कर सकते हैं।



13. मत्स्यासन

मुक्तपद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनं चरेत् ।
कूर्पराभ्यां शिरो वेष्ट्यं रोगघ्नं मात्स्यमासनम् ॥22॥

अर्थ

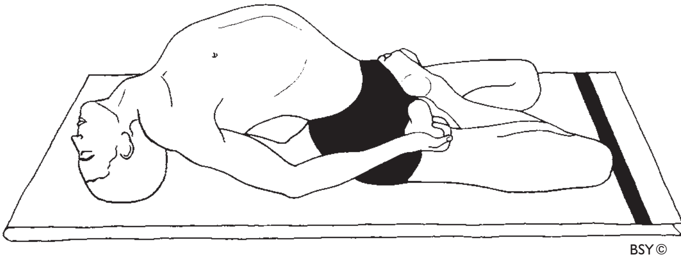
मुक्त पद्मासन की स्थिति में हाथों की केहुनियों से सिर को लपेट लें और भूमि पर चित्त लेट जायें। यह रोगों को नष्ट करने वाला मत्स्यासन कहलाता है ॥22॥

व्याख्या

जिसे हम बद्ध पद्मासन कहते हैं, उसे महर्षि घेरण्ड ने पद्मासन नाम दिया है। अर्थात् पद्मासन लगाकर, हाथों को पीछे ले जाकर पैरों को पकड़ना। यहाँ पर वे कहते हैं, मुक्त पद्मासन का अभ्यास पहले होना चाहिए। मुक्त पद्मासन में हाथों का बन्धन नहीं होता, जो पहले वाले अभ्यास में था। मुक्त पद्मासन मतलब सामान्य पद्मासन।

विधि– पद्मासन में बैठकर केहुनियों के सहारे पीछे की ओर झुकते हैं और सिर को, ब्रह्मरन्ध्र को जमीन पर रखते हैं। फिर दोनों हाथों से पैरों के पंजों को पकड़ लेते हैं। केहुनियाँ जमीन पर रहती हैं। अत: पैर और जाँघ पद्मासन की अवस्था में जमीन पर, मेरुदण्ड एक सेतु की तरह चापाकार स्थिति में और सिर भूमि पर रहेगा। सिर की स्थिति को इस प्रकार व्यवस्थित करें कि मेरुदण्ड का अधिकतम विस्तार हो।

शरीर का भार सिर, नितम्बों एवं पैरों पर डालकर भुजाओं एवं पूरे शरीर को शिथिल बनायें। आँखें बन्द करें तथा धीमा, गहरा श्वसन करें। फिर



जिस क्रम से आप मत्स्यासन की स्थिति में आये थे, उसके विपरीत क्रम से प्रारम्भिक स्थिति में लौट आयें। पैरों को बदलकर अभ्यास की पुनरावृत्ति करें। यह मत्स्यासन का अभ्यास है।

सजगता– मत्स्यासन के अभ्यास में शारीरिक रूप से सजगता आमाशय, वक्ष एवं श्वास पर रहे। आध्यात्मिक दृष्टि से धारणा का केन्द्र विशुद्धि चक्र रहता है, जहाँ पर हम अपने ध्यान को केन्द्रित करते हैं।

क्रम– योग में एक नियम है कि आगे झुकने वाले आसन के बाद एक पीछे झुकने वाले आसन का अभ्यास करना चाहिए। सामान्य रूप से भुजंगासन के बाद उसकी विपरीत अवस्था के लिए मत्स्यासन का अभ्यास किया जाता है। मत्स्यासन के बाद हलासन या सर्वांगासन का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि वे गर्दन का विपरीत दिशा में विस्तार कर पेशीय तनाव को दूर करते हैं।

श्वास– मत्स्यासन के समय श्वसन क्रिया धीमी एवं गहरी होती है। श्वास का अनुभव अपने पेट में करना है।

अवधि– अन्तिम स्थिति में 5 मिनट तक रहा जा सकता है, यद्यपि सामान्य स्वास्थ्य के लिए 1 से 3 मिनट तक का समय पर्याप्त है।

सावधानियाँ– हृदय रोग, पेप्टिक अल्सर, हर्निया, मेरुदण्ड से सम्बन्धित रोगों या किसी गंभीर रोग से पीड़ित व्यक्तियों को इस आसन का अभ्यास नहीं करना चाहिए। गर्भवती महिलाओं को भी इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– इस आसन से आँतों तथा आमाशय के अंगों का विस्तार होता है तथा यह पेट के सभी रोगों के लिए लाभकारी है। यह प्रदाही एवं खूनी बवासीर को भी दूर करता है। थायराइड ग्रन्थि के कार्य को नियमित बनाता है तथा थाइमस ग्रन्थि को उद्दीप्त कर प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाता है।

इसमें श्रोणि प्रदेश का अच्छा विस्तार होता है तथा जाँघों पर पैरों का जो दबाव पड़ता है, वह पैरों में रक्त संचरण घटाकर रक्त को श्रोणि क्षेत्र में भेजता है, जिससे प्रजनन संस्थान के रोगों को दूर करने या उनसे बचाव में सहायता मिलती है। आसन की अन्तिम स्थिति में शीतकारी प्राणायाम का अभ्यास आवाज को मधुर एवं स्थिर बनाता है। यौवन एवं प्राणशक्ति में वृद्धि होती है।

इस अभ्यास से फेफड़ों का विस्तार होता और फेफड़ों तथा श्वसन से सम्बन्धित रोग दूर होते हैं; चाहे दमा हो, चाहे ब्रोंकाइटिस हो या कफ दोष हो। जब गर्दन सूज जाती है, विशेषकर टाँसिलाइटिस होने पर इसी अवस्था में गर्दन की मालिश करने पर सूजन समाप्त हो जाती है। यह आसन पीठ में

जमे रक्त का पुनर्संचरण करता है। सरवाइकल स्पॉण्डिलाइटिस तथा पीठ के निचले भाग में जो तनाव उत्पन्न होते हैं, वे भी इस अभ्यास से दूर हो जाते हैं। पीठ के निचले भाग में, कमजोर कमर के कारण महिलाओं को गर्भाधान के समय जो दर्द होता है, उसके लिए भी यह उपयोगी है।

हठयोग में एक जगह वर्णन भी किया गया है कि कब्जियत को दूर करने के लिए दो-तीन गिलास पानी पीकर इस अभ्यास को जितनी देर हो सके, करना चाहिए। हठयोग में मान्यता है कि ऐसा करने से कब्जियत की बीमारी दूर हो जाती है। यह अभ्यास आँतों का विस्तार करता है, अत: उनके लिए विशेष लाभप्रद है।

टिप्पणी– यह महत्त्वपूर्ण है कि शरीर को भुजाओं की सहायता से धीरे-धीरे झुकाकर अन्तिम अवस्था में लाया जाए और उसी प्रकार प्रारम्भिक स्थिति में लौटा जाए। यह क्रिया पूर्ण नियन्त्रण एवं सावधानी के साथ करें, क्योंकि झटका लगने से मेरुदण्ड को क्षति पहुँच सकती है।

14. मत्स्येन्द्रासन

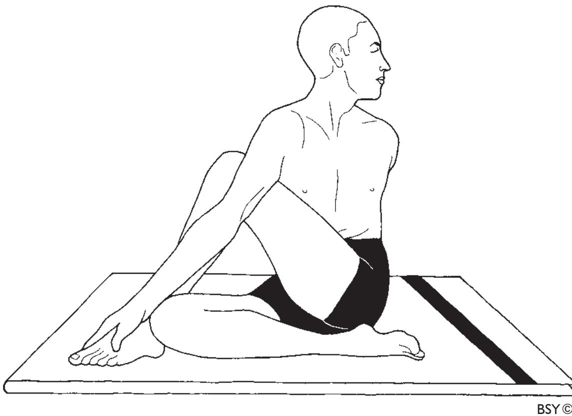
उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठत्ययत्नतः।
नम्रितं वामपादं हि दक्षजानूपरि न्यसेत्॥23॥
तत्र याम्यं कूर्परं च याम्यकरेऽपि च ।
भ्रुवोर्मध्ये गतां दृष्टिः पीठं मात्स्येन्द्रमुच्यते ॥24॥

अर्थ

उदर को पीठ की ओर खींचकर पीठ को सीधा रखते हुए बायें पाँव की एड़ी को यत्नपूर्वक मोड़ कर दायीं जाँघ पर रख लें और उस पर दायीं केहुनी रखें तथा ठुड्डी को दायें हाथ पर रख कर दृष्टि को भौंहों के मध्य भाग में स्थिर कर लें। यह मत्स्येन्द्रासन कहलाता है ॥23-24॥

व्याख्या

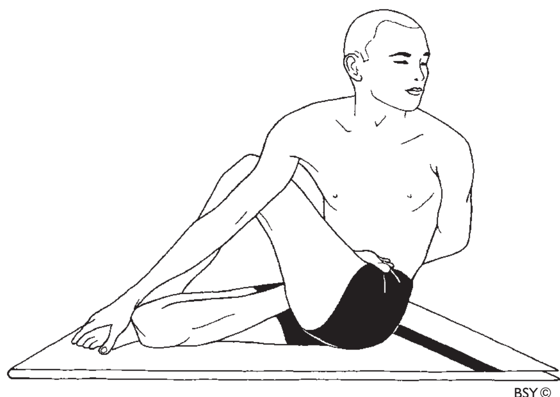
विधि– इसकी विधि बहुत सरल है। अपने पैरों को पहले सामने फैला लेते हैं और दाहिने पैर को मोड़कर जमीन पर बायें घुटने की बगल में बाहर की ओर रखते हैं। दायें पैर की अंगुलियाँ सामने की ओर रहेंगी। बायें पैर को मोड़कर बायीं एड़ी को दाहिने नितम्ब के पास रखते हैं। इसमें एक पैर उठा हुआ रहता है। अब जो पैर उठा हुआ है, उसकी विपरीत भुजा को छाती और घुटने के बीच से ले जाते हैं, इससे एक प्रकार का तनाव उत्पन्न होता है।



इसके बाद केहुनी से घुटने को शरीर की तरफ दबाते हुए, हाथ को सीधा करके पैर या टखने को इस प्रकार पकड़ते हैं कि दायाँ घुटना काँख के पास रहे। दाहिनी भुजा को सामने की ओर फैलाकर दृष्टि को अंगुलियों के अग्रभाग पर केन्द्रित करते हैं। दायीं भुजा, धड़ एवं सिर को एक साथ घुमाते हुए धीरे से दायीं ओर मुड़ते हैं। सिर झुका हुआ न रहे। धड़ को पीठ की मांसपेशियों का उपयोग किये बिना यथासम्भव मोड़ने के लिए बायीं भुजा से दायें घुटने पर दबाव डालते हुए उसका उपयोग एक उत्तोलक की भाँति करते हैं। दृष्टि को बायें हाथ का अनुसरण करते हुए घुमायें और कन्धों के ऊपर से पीछे की ओर देखें। पीठ में तनाव उत्पन्न न होने दें। दायीं केहुनी को मोड़कर भुजा को कमर के पृष्ठ भाग के चारों ओर लपेट लें। दाहिने हाथ के पीछे का भाग दायीं कमर के चारों ओर लिपट जाए। वैकल्पिक रूप से इसे स्कंधास्थियों के मध्य रखा जा सकता है। अंगुलियाँ ऊपर की ओर रहें। हाथ को यथासम्भव ऊपर ले जायें। हाथ की यह स्थिति मेरुदण्ड को सीधा रखने में सहायक होती हैं।

इस अभ्यास में कहा गया है, 'भ्रुवोर्मध्येगतां दृष्टिः' भ्रूमध्य में अपनी दृष्टि को केन्द्रित करना है। उसके बाद कुछ समय तक सामान्य श्वास लेते हुए इसी अवस्था में रहते हैं, फिर पैरों को बदल कर यही क्रिया विपरीत दिशा में करते हैं। यह अर्द्धमत्स्येन्द्रासन है।

पूर्ण मत्स्येन्द्रासन इससे भी सरल है। केवल इतना अन्तर है कि पैर को नीचे रखने के बदले अर्द्धपद्मासन लगाकर ऊपर रखा जाता है। सबसे पहले पैरों को सामने फैला लेते हैं। फिर दायें पैर को मोड़ कर बायीं जाँघ के ऊपर



रखते हैं और बायें पैर को घुटने से मोड़कर खड़ा कर लेते हैं। तो वह पैर, जो अर्द्धमत्स्येन्द्रासन की अवस्था में जमीन पर था, अब जाँघ के ऊपर आ गया है। हाथों की स्थिति अर्द्धमत्स्येन्द्रासन के समान ही रहती है। इसमें यकृत और मूत्राशय पर एड़ी का जबरदस्त दबाव पड़ता है।

कहा जाता है कि योगी मत्स्येन्द्रनाथ इसी आसन में बैठकर ध्यान किया करते थे। उन्हीं के नाम पर इसका नाम मत्स्येन्द्रासन पड़ा।

श्वास– जब धड़ सामने की ओर रहता है, तब श्वास लें, धड़ को मोड़ते हुए श्वास छोड़ें। अन्तिम स्थिति में बिना जोर लगाये धीमी, गहरी श्वास लें। प्रारम्भिक स्थिति में लौटते हुए श्वास अन्दर खींचें।

अवधि– दोनों ओर एक-एक बार अभ्यास करें। धीरे-धीरे प्रत्येक तरफ शरीर को 1 या 2 मिनट या 30 श्वास तक रखने का प्रयास करें।

सजगता– मेरुदण्ड को सीधा रखने तथा अन्तिम स्थिति में श्वास के साथ पेट की गति पर सजगता रहे। आध्यात्मिक रूप से एकाग्रता आज्ञा चक्र पर रहती है, जिसे यहाँ पर भ्रूमध्य दृष्टि के नाम से सम्बोधित किया गया है।

क्रम– इस आसन का अभ्यास आगे एवं पीछे झुकने वाले आसनों के अभ्यास के बाद करना चाहिए।

सावधानियाँ– महिलायें दो-तीन महीने के गर्भ के बाद इस आसन का अभ्यास न करें। पेप्टिक अल्सर, हर्निया या हाइपर थायराइड से ग्रस्त व्यक्ति इसका अभ्यास योग्य शिक्षक के मार्गदर्शन में ही करें। जिन्हें हृदय रोग है, उन्हें यह अभ्यास नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे हृदय से निकलने वाली धमनियों और कशेरुकाओं पर अधिक जोर पड़ता है।

साइटिका या स्लिप डिस्क से पीड़ित व्यक्तियों को इस आसन से बहुत लाभ हो सकता है, किन्तु उन्हें यह अभ्यास बहुत सावधानी से करना चाहिए।

लाभ– यह आसन यकृत और मूत्राशय को सक्रिय बनाता है। जिन लोगों के शरीर के भीतर इन्सुलिन का उत्पादन नहीं होता, जिन्हें मधुमेह की बीमारी होती है, यह अभ्यास उनके शरीर में अग्नाशय को सक्रिय बनाकर इन्सुलिन के उत्पादन में सहयोग देता है, इसलिए यह मधुमेह के उपचार के लिए रामबाण दवा है। इस अभ्यास में हम शरीर को मोड़ते हैं, जिसके कारण आँतों, आमाशय एवं पाचन-संस्थान की मालिश होती है, तथा पाचन-संस्थान सम्बन्धी रोगों का निवारण होता है।

यह आसन पीठ एवं पेट के एक अर्द्ध भाग की मांसपेशियों का विस्तार करते हुए दूसरे अर्द्ध भाग की मांसपेशियों को संकुचित करता है। यह मेरुदण्ड

के स्नायुओं को स्वस्थ बनाता है, पीठ की मांसपेशियों को लचीला बनाता है। कटि वेदना, वात रोग तथा मांसपेशियों की जकड़न को दूर करता है तथा आसन्न कशेरुकाओं में अस्थि– उद्वर्ध पनपने की प्रवृत्ति को कम करता है। स्लिपडिस्क का रोग यदि गम्भीर अवस्था में न हो तो सावधानीपूर्वक इस आसन का अभ्यास करने से यह लाभदायक सिद्ध होता है।

यह आसन अधिवृक्क ग्रन्थि, उपवृक्क ग्रन्थि एवं पित्त के स्राव का नियमन करता है। विशेष निर्देशन में, जब तक बिना किसी असुविधा के इसका अभ्यास कर सकते हों, इसका उपयोग साइनोसाइटिस, हे फीवर, ब्रोंकाइटिस, कब्ज, कोलाइटिस, मासिक धर्म सम्बन्धी अनियमितताओं, मूत्र निष्कासन प्रणाली से सम्बद्ध रोगों तथा सरवाइकल स्पॉण्डिलाइटिस के योगोपचार के लिए किया जा सकता है।

ग्रीवा प्रदेश में एकत्र रक्त पर दबाव डालकर उसमें बहाव उत्पन्न करता है तथा उससे सम्बन्धित नाड़ियों को शक्ति प्रदान करता है। साथ-ही गर्दन, सिर तथा पीठ के दर्द से मुक्ति दिलाता है। पैर की मांसपेशियों को लचीला बनाता है तथा जोड़ों के कड़ेपन को दूर करता है।

15. गोरक्षासन

जानूर्वोरन्तरे पादौ उत्तानौ व्यक्तसंस्थितौ ।
गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः ॥25॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत् ।
गोरक्षासनमित्याहुर्योगिनां सिद्धिकारणम् ॥26॥

अर्थ

दोनों जाँघों और घुटनों के मध्य में दोनों पैर के पंजों को छुपे रूप में रखें तथा दोनों हाथों से दोनों एड़ियों को पकड़ कर कण्ठ का संकोच करें और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमा लें। यह गोरक्षासन योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाला है ॥25-26॥

व्याख्या

विधि– दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठ जाते हैं। घुटनों को मोड़कर, तलवों को मिलाकर एड़ियों को ऊपर उठा देते हैं। घुटने और पैर के पंजे जमीन पर रहते हैं। इसमें श्रोणि प्रदेश, नितम्ब और प्रजननेन्द्रियाँ एड़ी के पीछे रहती हैं। हाथों को नितम्बों के पीछे इस प्रकार रखते हैं कि अंगुलियाँ बाहर की ओर रहें,



शरीर को सामने की ओर झुकाते हुए इतना ऊपर उठाते हैं कि पाँव जमीन के लम्बवत् हो जायें। नाभि के सामने से दोनों कलाइयों को आर-पार करते हुए बायीं एड़ी को दायें हाथ से तथा दायीं एड़ी को बायें हाथ से पकड़ लेते हैं। मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए सामने की ओर देखते हैं।

इस अवस्था में जालन्धर बन्ध एवं नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास भी करते हैं। सामान्य श्वास लेते हुए जितनी देर तक आराम से बैठ सकते हैं, उतनी देर बैठिये।

सजगता– यहाँ पर एकाग्रता के लिए दो केन्द्र हैं। पहला केन्द्र है मूलाधार और दूसरा केन्द्र है विशुद्धि। प्रारम्भ में मूलाधार में ध्यान कराया जाता है, किन्तु जब आप उस स्थिति में बिना किसी शारीरिक कष्ट के लम्बे समय तक आराम से बैठ सकते हैं; शरीर से आपका ध्यान हट सकता है, तब विशुद्धि चक्र में ध्यान केन्द्रित किया जाता है और इसी आसन को गोरक्षासन कहते हैं।

लाभ– इस आसन के अभ्यास से प्रजनन इन्द्रियों, काम वासना और वीर्य स्खलन पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है। यह पैरों को बहुत अधिक लचीला बना देता है। यह आसन अपान के प्रवाह को ऊर्ध्वगामी बनाकर ध्यान की अवस्था लाने में सहायक होता है। वास्तव में यह ध्यान का एक अभ्यास है। इस अभ्यास को करते समय जब आँखें बन्द रहती हैं, तब प्रतीक पर ध्यान किया जाता है। इसमें मन तुरंत एकाग्र होता है, क्योंकि शरीर की अवस्था इस प्रकार की हो जाती है कि मन भटकता ही नहीं। वह नासिकाग्र में केन्द्रित हो जाता है, उसके लिए इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। अत: मन को केन्द्रित करने तथा धारणा की अवस्था को प्राप्त करने के लिए भी इस आसन का अभ्यास किया जाता है। गले के संकुचन की क्रिया से अनेक रोगों का नाश होता है।

16. पश्चिमोत्तान आसन

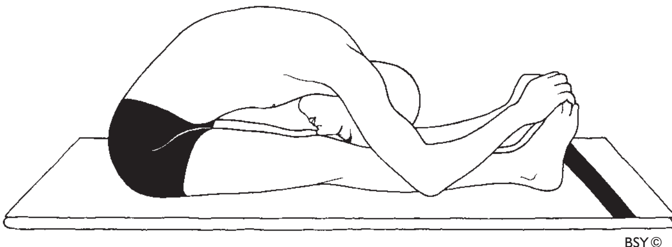
प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ विन्यस्तभालं चितियुग्ममध्ये ।
यत्नेन पादौ च धृतौ कराभ्यां तत्पश्चिमोत्तानमिहासनं स्यात् ॥27॥

अर्थ

दोनों पाँवों को दण्ड के समान सहज भाव से भूमि पर फैलायें और उनके अँगूठों को पकड़ लें। फिर दोनों जाँघों के मध्य में सिर को रखें, तो यह पश्चिमोत्तान आसन होगा ॥27॥

व्याख्या

विधि– अपने पैरों को भूमि पर सीधा, लकड़ी की भाँति फैला दीजिए, अर्थात् पैर मुड़े हुए नहीं रहने चाहिए। पैरों के अँगूठों को हाथों से पकड़ लीजिए। यदि यह असम्भव लगे तो एड़ी, टखना या पैर के किसी भी भाग को पकड़ सकते हैं, जहाँ तक आप आसानी से पहुँच सकें । पैरों को आपस में सटाकर रखिये। हाथों को घुटनों पर रखिये। यह प्रारम्भिक स्थिति है। पूरे शरीर को शिथिल बनायें। हाथों को पैरों पर आगे सरकाते हुए नितम्बों से ऊपर के शरीर को सामने की ओर झुकायें। बिना जोर लगाये या बिना झटके के धीरे-धीरे आगे झुकें । इस स्थिति में कुछ क्षणों तक रुकें । पीठ एवं पैरों की मांसपेशियों को तानते हुए उन्हें शिथिल बनायें। पैरों को सीधा रखते हुए तथा अँगूठे, टखने, एड़ी या पैर के किसी भाग को मजबूती से पकड़े हुए भुजाओं की मांसपेशियों का उपयोग करते हुए (पीठ की मांसपेशियों का नहीं) केहुनियों को मोड़ें और धड़ को धीरे-धीरे पैरों की



ओर लायें। ललाट को घुटनों से छुआने का प्रयत्न करें, पर जोर न लगायें। यह अन्तिम स्थिति है।

जितनी देर तक सुविधापूर्वक इस अवस्था में रह सकते हैं, रहें और शरीर को शिथिल बनायें। फिर धीरे-धीरे प्रारम्भिक स्थिति में वापस आ जायें। यह एक आवृत्ति हुई। इस आसन को योगी पश्चिमोत्तानासन कहते हैं।

प्रकारान्तर– पश्चिमोत्तानासन के अनेक प्रकारान्तर हैं। ऊपर वर्णित क्रिया सबसे सरल है। पैरों को सामने फैलाकर, बैठी हुई अवस्था में हाथों को ऊपर उठा कर आगे झुकना। इसी क्रिया को गत्यात्मक अभ्यास का रूप देने के लिए लेट कर ऊपर उठते हैं। हाथों को सिर के ऊपर जमीन पर रख कर, बिना एड़ी को ऊपर उठाये अपने शरीर को सीधा रखते हुए ऊपर उठते हैं, एक साथ आगे झुकते हैं और अन्तिम अवस्था में कुछ देर तक रुकते हैं।

श्वास– प्रारम्भिक स्थिति में श्वास लें। सामने झुकते हुए धीरे-धीरे श्वास छोड़ें। पैरों को पकड़कर श्वास लें। पुन: धड़ को पैरों के और समीप लाते हुए श्वास छोड़ें। अन्तिम स्थिति में श्वास को बाहर रोके रहें। प्रारम्भिक स्थिति में लौटते हुए श्वास लें।

अवधि– आरम्भिक अभ्यासियों को अन्तिम अवस्था में केवल थोड़ी देर रुकते हुए 5 आवृत्ति तक अभ्यास करना चाहिए। पुराने अभ्यासी अन्तिम अवस्था में 5 मिनट तक रह सकते हैं।

सजगता– इसमें धारणा का केन्द्र है मणिपुर चक्र। बहुत-से लोगों को आज्ञा चक्र में ध्यान केन्द्रित करने का निर्देश भी दिया जाता है, लेकिन मुख्य केन्द्र है, मणिपुर चक्र, अर्थात् नाभि का क्षेत्र, अभ्यास के समय पेट जहाँ पर दबता है।

सावधानियाँ– इतना ही ध्यान रखना है कि जिन लोगों का शरीर स्थूल है, उन्हें आगे झुकने के लिए अपने शरीर को झटका नहीं देना है, जोर नहीं लगाना है। धीरे-धीरे इसका अभ्यास सहज हो जायेगा।

इस आसन को रक्तचाप, हृदयरोग और स्पॉण्डिलाइटिस से पीड़ित व्यक्तियों को नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें उठते समय कन्धों पर बहुत जोर पड़ता है और दर्द के बढ़ जाने की सम्भावना रहती है। साथ-ही-साथ जिन लोगों को साइटिका दर्द या स्लिपडिस्क या मेरुदण्ड सम्बन्धी कोई दोष है, उन्हें भी यह आसन नहीं करना चाहिए।

क्रम– इस आसन का अभ्यास पीछे झुकने वाले आसनों, जैसे– सेतु आसन, चक्रासन, भुजंगासन या मत्स्यासन के बाद करना चाहिए।

लाभ– यह आसन घुटनों के पीछे की नसों का विस्तार करता है तथा कूल्हों के जोड़ों को लचीला बनाता है। यह सम्पूर्ण आमाशय एवं श्रोणि प्रदेश के साथ-साथ यकृत, अग्न्याशय, प्लीहा, वृक्क तथा अधिवृक्क ग्रन्थि को शक्ति प्रदान कर उनकी मालिश करता है। यह आसन श्रोणि प्रदेश में जमी अतिरिक्त चर्बी को घटाकर मूत्र एवं प्रजनन संस्थान के रोगों को दूर करने में सहायक होता है। यह मेरुदण्ड के स्नायुओं एवं मांसपेशियों में रक्त का संचार बढ़ाता है। योग चिकित्सा में इसका उपयोग मासिक धर्म सम्बन्धी अनियमितताओं, यकृत की कार्य मन्दता, मधुमेह, कोलाइटिस, ब्रोंकाइटिस एवं इयोसिनोफीलिया के उपचार के लिए किया जाता है।

मेरुदण्ड में एक विशेष प्रकार का रोग होता है जिसे मेरुदण्ड की पार्श्वकुब्जता कहते हैं। कमर के पास रीढ़ की हड्डी मुड़ जाती है। ऐसे लोग, जिन्हें यह रोग होता है, सीधे खड़े नहीं रह सकते। उनकी रीढ़ की हड्डी टेढ़ी रहती है। रीढ़ की हड्डी को सीधा करने के लिए यह बहुत अच्छा अभ्यास है, क्योंकि इस अभ्यास में रीढ़ की हड्डी का पूरा विस्तार होता है।

इस आसन का अभ्यास विशेषकर पेट और कमर में लचीलापन लाने के लिए कराया जाता है। मोटापे को कम करने के लिए, चर्बी को कम करने के लिए, साथ-ही-साथ वृक्क से सम्बन्धित रोगों के लिए भी यह उपयुक्त अभ्यास है। मधुमेह, दमा और श्वसन सम्बन्धी रोगों में इसका अभ्यास कराया जाता है।

17. उत्कट आसन

अंगुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फौ च खे गतौ ।
तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयं तूत्कटासनम् ॥28॥

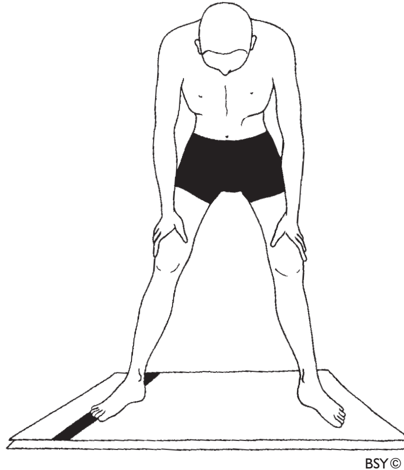
अर्थ

पाँवों के अँगूठों को पृथ्वी पर टिका कर उनके सहारे बैठें और एड़ियों को भूमि पर न टिकने दें तथा गुदा स्थान को एड़ियों पर रख लें तो यह उत्कट आसन कहलायेगा ॥28॥

व्याख्या

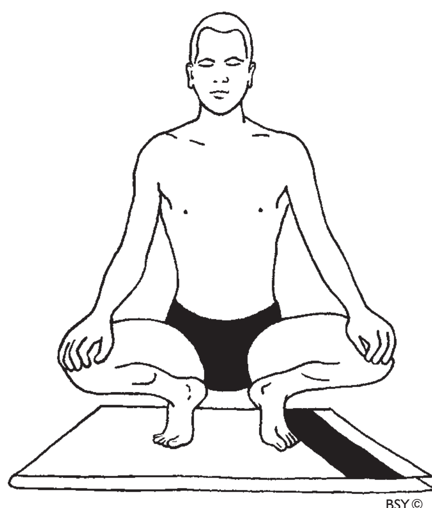
विधि– सामान्य रूप से हम उत्कट आसन का अभ्यास इस प्रकार करते हैं– सीधे खड़े होकर पैरों के बीच कमर की चौड़ाई जितनी दूरी रखते हैं और घुटनों को मोड़ लेते हैं। हाथों को घुटनों पर रख देते हैं। यह सबसे सरल तरीका है।

लेकिन इसकी अन्तिम अवस्था दूसरी है। वह भी बहुत सरल है। अन्तिम अवस्था में दोनों पैरों को आपस में सटाकर रखते हैं। अब जिस प्रकार ताड़ासन में पंजों को ऊपर उठाते हैं, उसी प्रकार ऊपर उठते हैं और उसी अवस्था में फिर घुटनों को फैलाते हुए इस प्रकार बैठते हैं कि एड़ी गुदा द्वार से लग जाये। घुटने



ऊपर रहते हैं। दोनों हाथ घुटनों पर रहेंगे। घुटनों को जमीन से नहीं लगाना है, वे ऊपर रहेंगे। केवल पंजों पर शरीर का भार रहेगा और एड़ियाँ गुदा-द्वार से सटी हुई रहेंगी।

इसका उत्कट आसन नाम इसलिए पड़ा कि इसमें बैठने से उत्सुकता झलकती है। उत्सुकता के समय आदमी इसी प्रकार बैठता है ताकि यदि जल्दी से कुछ काम करना हो तो तुरंत उठ जायें। पंजे और एड़ियाँ परस्पर जुड़ी हुई रहती हैं।



लाभ– यह बहुत सरल आसन है। इसमें केवल शारीरिक सन्तुलन का ध्यान रखना है। चाहे आगे गिरें या पीछे, चोट लगेगी। अत: यह शारीरिक सन्तुलन को पक्का बनाने के लिए, सन्तुलन समूह के आसनों में से एक है। इसके लाभ कुछ विशेष नहीं हैं। लाभ केवल इतना है कि जाँघों की मांसपेशियों को पुष्ट बनाता है।

18. संकट आसन

वामपादचितेर्मूलं विन्यस्य धरणीतले ।
पाद दण्डेनयाम्येन वेष्टयेद्वामपादकम् ।
जानुयुग्मे करयुग्मेतत्संकटासनम् ॥29॥

अर्थ

बायें पाँव को घुटने तक भूमि पर टिका कर दायें पाँव से बायें पाँव को लपेट लें और फिर दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रख लें। इसे संकटासन कहते हैं ॥29॥

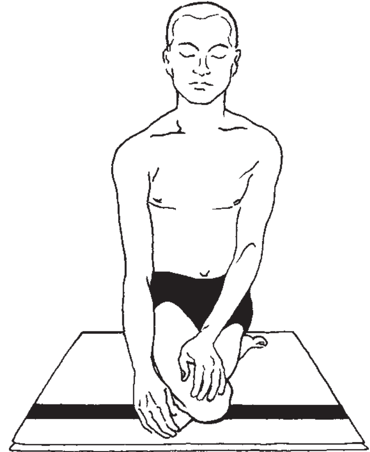
व्याख्या

विधि– खड़े होकर बायें पैर को जमीन पर रखिये और दाहिने पैर को मोड़कर बायें पैर के चारों तरफ लपेट लीजिये। दायीं जाँघ बायीं जाँघ के सामने रहेगी। हाथों को जाँघों पर दबा कर रखना है। इसको महर्षि घेरण्ड ने संकटासन कहा है।

यह एक कठिन आसन है। दोनों पैरों में दर्द होने पर पेशियों को आराम देने के लिए हम एक पैर को उस संकटमय स्थिति में ऊपर उठा लेते हैं। इसी सिद्धान्त पर संकटासन आधारित है।

सजगता– एक निश्चित बिन्दु पर दृष्टि को एकाग्र करते हुए शारीरिक सन्तुलन बनाये रखने पर सजगता को केन्द्रित करें। धारणा का केन्द्र मूलाधार चक्र होता है।

लाभ– यह मांसपेशियों को पुष्ट बनाता है, स्नायुओं को स्वास्थ्य प्रदान करता है तथा पैर के जोड़ों को ढीला बनाता है।



19. मयूरासन

पाण्योस्तलाभ्यामवलम्ब्य भूमिं तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वम् ।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे मायूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ॥30॥

अर्थ

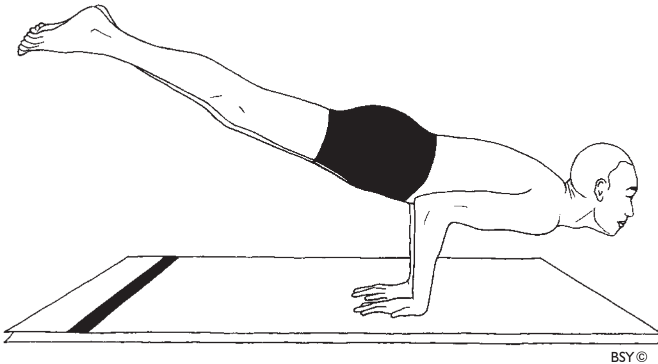
दोनों हाथों की हथेलियों को धरती पर टिका कर दोनों केहुनियों को नाभि पार्श्व में लगा लें। फिर दोनों पैरों को पीछे की ओर इस प्रकार उठा लें (क्षैतिज), जिस प्रकार डण्डे को उठाया जाता है। यह मयूरासन कहलाता है ॥30॥

व्याख्या

जमीन पर वज्रासन में बैठकर दोनों हथेलियों को जमीन पर रखना है; केहुनियों को नाभि की बगल में रखना है और कुर्सी के उठे हुए हत्थे की भाँति अपने पूरे शरीर को केहुनियों के सहारे ऊपर उठा देना है। इस आसन को विशेषज्ञों ने मयूरासन कहा है।

विधि– पहले वज्रासन में बैठ जाते हैं और घुटनों को अलग कर सिंहासन की स्थिति में आ जाते हैं, जिसमें दोनों हथेलियाँ अन्दर की तरफ मुड़ी रहती हैं। हाथों की स्थिति को सुविधा एवं लचीलेपन के अनुसार व्यवस्थित किया जा सकता है।

भुजाओं के केहुनियों से नीचे के भाग तथा केहुनियों को आपस में सटाकर नाभि के समीप रखते हैं और सामने झुककर पेट को केहुनियों पर तथा वक्ष को



भुजाओं के ऊपरी भाग पर टिकाते हैं। पैरों को पीछे ले जाकर पहले जमीन पर ही रखते हैं, उसके बाद शरीर की मांसपेशियों को तानते हुए सिर और पैरों को इतना ऊपर उठाते हैं कि वे जमीन के समानान्तर हो जायें।

मयूर आसन का यह अभ्यास है तो बहुत सरल, लेकिन कुछ ही व्यक्ति इसे कर सकते हैं, क्योंकि इसमें यह ख्याल रखना है कि शरीर सन्तुलित रहे। सिर को ऊपर उठाकर रखते हैं। इस स्थिति में पूरा शरीर हथेलियों पर सन्तुलित रहता है। पैरों को सीधा रखते हुए और अधिक पेशीय बल का प्रयोग करके तथा शारीरिक सन्तुलन को समायोजित करते हुए, उन्हें और ऊपर उठाने का प्रयास करते हैं। अधिक जोर नहीं लगाना है। अन्तिम स्थिति में शरीर का भार पेट की मांसपेशियों पर अवलम्बित रहता है, वक्ष पर नहीं। अन्तिम अवस्था में श्वास को अन्दर रोका जाता है। जितनी देर आप श्वास को रोक सकते हैं, उतनी देर रोकिये और फिर प्रारम्भिक अवस्था में सिर को शरीर की सीध में ले आइये। यह एक आवृत्ति हुई। जब श्वास सामान्य हो जाए तो दूसरी आवृत्ति कर सकते हैं। जैसे-जैसे अभ्यास शुद्ध होता जायेगा, पैर ऊपर उठने लगेंगे।

श्वास– श्वास छोड़ते हुए शरीर को जमीन से ऊपर उठाते हैं। शरीर को वापस जमीन पर लाते समय श्वास अन्दर लेते हैं। आरम्भ में अन्तिम स्थिति में श्वास रोके रहते हैं। उच्च अभ्यासी इस स्थिति में धीमा, गहरा श्वसन कर सकते हैं।

अवधि– तीन आवृत्ति तक इसका अभ्यास कर सकते हैं। प्रारम्भ में कुछ क्षणों तक ही इस आसन में रहें, धीरे-धीरे अभ्यास से इसकी अवधि बढ़ायें। पुराने अभ्यासी अन्तिम स्थिति में कुछ मिनटों तक रह सकते हैं।

क्रम– अपने आसन अभ्यास के क्रम में सबसे अन्त में इस आसन का अभ्यास करें। मयूरासन रक्त परिसंचरण की गति को बहुत अधिक बढ़ा देता है तथा इस आसन में शुद्धिकरण के परिणामस्वरूप रक्त में विषाक्त तत्त्वों की मात्रा बढ़ जाती है। इसलिए इसका अभ्यास कभी सिर के बल किये जाने वाले आसन के पूर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे विषाक्त तत्त्वों की अतिरिक्त मात्रा मस्तिष्क में प्रवेश कर सकती है।

सावधानियाँ– खाने के तत्काल बाद इसे नहीं करना चाहिए। अगर आप प्रयास करके देखें तो स्वयं अनुभव करेंगे कि हर व्यक्ति इस अभ्यास को नहीं कर सकता। सम्भव भी नहीं है। केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसके शरीर में पहले से लचीलापन और शारीरिक सन्तुलन हो। अगर शरीर सन्तुलित नहीं

है; अगर शरीर पर नियन्त्रण नहीं है, तो यह अभ्यास नहीं कर पायेंगे। केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो पूर्णरूपेण स्वस्थ हो। किसी प्रकार के रोग में इस आसन का अभ्यास नहीं होता, चाहे वायु विकार ही क्यों न हो। इस बात का विशेष ध्यान रखना है। अगर एक सामान्य रोग या वायु विकार की अवस्था में इस आसन का अभ्यास किया जायेगा तो वायु ऊपर की ओर बढ़ सकती है, और चूँकि इसमें कुम्भक किया जाता है, इसलिए वायु छाती में रुक जायेगी, जिससे छाती में दर्द शुरू हो सकता है। किसी प्रकार की शारीरिक समस्या में, चाहे हर्निया हो, अल्सर हो, उच्च रक्तचाप हो या दिल का रोग हो, इसका अभ्यास नहीं किया जाता। गर्भवती महिलाओं को भी इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– इस अभ्यास के अनेक लाभ हैं, क्योंकि इसमें पूरे शरीर का भार केहुनियों पर पड़ता है और केहुनियाँ नाभि क्षेत्र को भीतर की ओर दबाती हैं, जिससे यकृत, मूत्राशय, आँतों, आमाशय और तन्त्रिका-तन्त्र की भी नाड़ियाँ प्रभावित होती हैं। स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए यह बहुत-ही अच्छा अभ्यास है। इसमें आन्तरिक अंगों की क्षमता में वृद्धि होती है और इसका वास्तविक प्रभाव पड़ता है शरीर की अन्त:स्रावी ग्रन्थियों पर। चुल्लिका ग्रन्थि में अगर किसी प्रकार का दोष हो, हार्मोनों का उत्पादन बन्द हो गया हो अथवा कम या अधिक मात्रा में उत्पादन हो रहा हो, तो उस दोष को दूर करने के लिए, चुल्लिका ग्रन्थियों को सन्तुलित और नियन्त्रित रखने के लिए इसका अभ्यास किया जाता है।

यह आसन चयापचय क्रियाओं को उद्दीप्त करता है, जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न अंगों से स्राव की मात्रा में वृद्धि होती है। यह रक्त से विषाक्त तत्त्वों के निष्कासन की क्रिया को तीव्र बनाता है, जिससे त्वचा के रोगों, जैसे, व्रण आदि के निवारण में सहायता मिलती है।

यह आसन बादी, कब्ज, मधुमेह, यकृत एवं वृक्क की मन्दता के उपचार में उपयोगी है। यह शारीरिक-मानसिक सन्तुलन को बढ़ाता है। पूरे शरीर की मांसपेशियों को सुदृढ़ बनाकर पेशीय नियन्त्रण बढ़ाता है। विशेष लाभ यह है कि शरीर में पहले से जमा विषाक्त तत्त्व दग्ध हो जाते हैं तथा त्रिदोषोंवात, पित्त और कफ में सन्तुलन एवं सामंजस्य स्थापित होता है।

जिन व्यक्तियों को शारीरिक शुद्धिकरण की प्रक्रियाओं तथा विषाक्त तत्त्वों को निष्कासित करने की प्रक्रियाओं को तीव्र बनाना हो, वे निम्नलिखित निर्देशों का पालन कर इस अभ्यास के लिए अपने आपको तैयार बनायें

अ) दूध से बनी चीजों, वसा, मांस, मसाले तथा ऐसी वस्तुओं को अपने आहार से हटा दें, जिनके पाचन में कठिनाई होती है।

ब) एक महीने तक फल, सब्जी, चावल, रोटी या ब्रेड, छाछ– इसी प्रकार का सादा भोजन ग्रहण करें, जो सुपाच्य हो।

स) दो सप्ताह तक इस प्रकार के आहार-नियन्त्रण के पश्चात् मयूरासन का अभ्यास आरम्भ करें।

एक महीने के भीतर आपका शरीर-संस्थान आन्तरिक एवं बाह्य रूप से शुद्ध हो जाना चाहिए। यदि नहीं होता है, तो नियन्त्रित आहार एवं मयूरासन का अभ्यास जारी रखें।

टिप्पणी– महिलाओं के पेट एवं वक्ष की पेशीय संरचना पुरुषों से भिन्न होती है। उन्हें मयूरासन का अभ्यास कठिन लग सकता है।

अन्तिम स्थिति से सामने की ओर गिर जाना बहुत आसान है, इसलिए सावधान रहें और आवश्यक हो तो चेहरे के नीचे जमीन पर एक छोटी-सी गद्दी रख लें।

20. कुक्कुटासन

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
कूर्पराभ्यां समासीनो उच्चस्थ: कुक्कुटासनम् ॥31॥

अर्थ

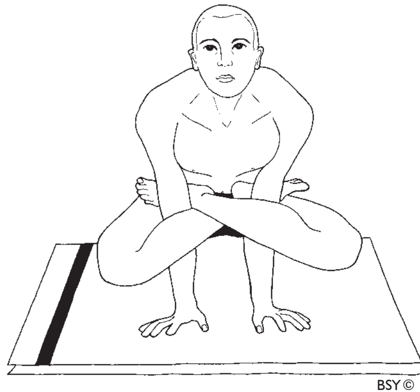
पद्मासन में बैठिये। जाँघों और पिण्डलियों के बीच से दोनों हाथों को निकालकर जमीन पर रखिये। दोनों हथेलियों को जमीन पर टिका कर (अंगुलियाँ आगे की ओर रहें) शरीर को हवा में ऊपर उठाइये। पद्मासन में ही शरीर केहुनियों पर टिका रहेगा। यह कुक्कुटासन कहलाता है ॥31॥

व्याख्या

कुक्कुट का अर्थ होता है मुर्गा। इस आसन में शारीरिक विन्यास एक मुर्गे की भाँति होता है। इस कारण इसे कुक्कुटासन कहते हैं।

विधि– पद्मासन में बैठिये। हाथों को पिण्डलियों एवं जाँघों के बीच घुटनों के पास से निकालते हुए धीरे-धीरे भुजाओं को केहुनियों तक पैरों के बीच से निकाल लें। हथेलियों को जमीन पर दृढ़ता से इस प्रकार रखें कि अंगुलियाँ सामने की ओर रहें।

हाथों को सीधा एवं आँखों को सामने के किसी बिन्दु पर स्थिर रखते हुए शरीर को जमीन से ऊपर उठायें। पूरा शरीर केवल हाथों पर सन्तुलित रहता



है। पीठ को सीधा रखें। जब तक आराम से रह सकते हों, अन्तिम स्थिति में रहें, फिर जमीन पर वापस आ जायें और धीरे-धीरे भुजाओं, हाथों एवं पैरों को शिथिल बनायें। पैरों की स्थिति बदलकर इस अभ्यास को दुहरायें।

श्वास– शरीर को ऊपर उठाते हुए श्वास छोड़ें। अन्तिम स्थिति में सामान्य श्वास लें। शरीर को नीचे लाते हुए श्वास छोड़ें।

सजगता– नासिका में आती-जाती हुई श्वास तथा सन्तुलन को बनाये रखने पर अपनी सजगता केन्द्रित करें। इसमें धारणा का केन्द्र मूलाधार चक्र होता है।

लाभ– इस आसन से भुजाओं एवं कन्धों की मांसपेशियों को शक्ति प्राप्त होती है। वक्ष का विस्तार होता है। यह पैरों के जोड़ों को ढीला कर सन्तुलन एवं स्थिरता के भाव को विकसित करता है। मूलाधार चक्र के उद्‌दीपन के कारण इसका उपयोग कुण्डलिनी जागरण के लिये किया जाता है। कुछ लोग तो काँख तक अपने शरीर को ऊपर उठा लेते हैं। कन्धों के रोग, भुजाओं, छाती, फेफड़ों और दिल से सम्बन्धित रोगों के निराकरण में यह विशेष उपयोगी अभ्यास है।

टिप्पणी– भुजाएँ एवं कलाइयाँ शरीर का भार सहने लायक होनी चाहिए। जिनके पैरों में बहुत अधिक बाल होते हैं, उनके लिए हाथों को पिण्डलियों एवं जाँघों के बीच से निकालने की प्रक्रिया कठिन एवं कष्टप्रद हो सकती है। यदि पैरों में तेल लगा लिया जाए या पैरों के बालों को हटा दिया जाए तो प्रक्रिया आसान हो जाती है। जिनके पैरों में अधिक चर्बी या मांसपेशियाँ होती हैं, उन्हें भी इस आसन में कठिनाई होती है।

21. कूर्मासन

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितौ ।
ऋजुकायशिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम् ॥32॥

अर्थ

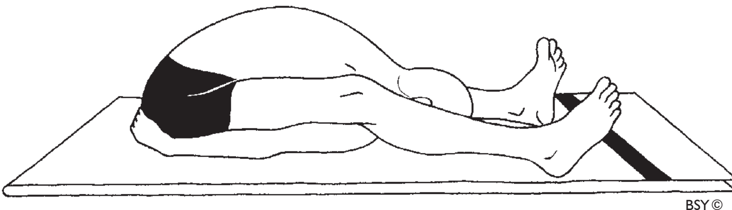
दोनों अण्डकोशों के नीचे दोनों एड़ियों को व्युत्क्रम से रखना और शरीर, सिर तथा ग्रीवा को सीधा करके बैठना कूर्मासन कहलाता है ॥32॥

व्याख्या

कूर्म का अर्थ होता है कछुआ। कछुए के शरीर को यदि देखें तो उसके कवच से केवल हाथ और पैर निकले हुए दिखायी देंगे। ठीक इसी प्रकार इस आसन में अपने शरीर की आकृति को कछुए की आकृति के सदृश बनाया जाता है।

एड़ियों को विरुद्ध दिशा में लाइये। उन्हें अण्डकोश के नीचे रखिये। सिर, गर्दन और धड़ एक सीधी रेखा में रहें। यही कूर्मासन है। महर्षि घेरण्ड द्वारा वर्णित कूर्मासन की यह विधि सामान्य कूर्मासन की क्रिया से थोड़ी भिन्न है। सामान्य रूप से प्रसिद्ध कूर्मासन की क्रिया इस प्रकार है:

विधि– पैरों को सामने की ओर फैलाकर बैठिये। पैरों को यथासम्भव दूर-दूर रखिये। एड़ियों को जमीन के सम्पर्क में रखते हुए घुटनों को थोड़ा-सा मोड़िए। आगे झुककर हाथों को घुटनों के नीचे रखिए, हथेलियाँ ऊपर या नीचे की ओर खुली रहें। आगे झुकें तथा भुजाओं को धीरे-धीरे पैरों के नीचे सरकायें। आवश्यकता पड़े तो घुटनों को थोड़ा और मोड़ सकते हैं। घुटनों के नीचे से हाथों को इतना पीछे ले जायें कि केहुनियाँ घुटनों के पीछे के भाग के निकट आ जायें। पीठ की मांसपेशियों में तनाव न आने दें।



एड़ियों को धीरे से आगे खिसकाते हुए पैरों को यथासम्भव सीधा करने का प्रयास करें। इससे शरीर भी अपने आप और आगे झुकेगा। श्वास एवं शिथिलता के प्रति सजग रहते हुए शरीर को धीरे-धीरे आगे झुकायें जब तक ललाट या ठुड्डी पैरों के बीच जमीन का स्पर्श न करने लगे। किसी प्रकार का जोर न लगायें। भुजाओं को मोड़कर नितम्बों के नीचे परस्पर बाँध लें। यह अन्तिम स्थिति है। पूरे शरीर को शिथिल बनायें। आँखों को बन्द करें तथा धीमी, गहरी श्वास लें। जब तक इस अन्तिम स्थिति में आराम से रह सकते हों, रहें। प्रारम्भिक स्थिति में वापस आयें और इसके एक विपरीत आसन का अभ्यास करें, तत्पश्चात् शवासन में विश्राम करें।

कहा जाता है कि यह आसन तन्त्रिका-तन्त्र को मजबूत बनाता है। इसमें केवल कमर को आगे झुकाने के लिए लचीलेपन की आवश्यकता है, और जब कमर आगे झुक जाये तब अपने आप को उस अवस्था में बाँध लेते हैं। पैर सामने फैले रहते हैं और हाथ पीछे बँधे रहते हैं। इस कारण पीठ कछुए के कवच का-सा रूप धारण कर लेती है और सम्पूर्ण आकृति कछुए की भाँति दिखायी देती है।

सजगता– मेरुदण्ड, पीठ की मांसपेशियों, आमाशय को शिथिल बनाने तथा श्वास पर सजगता रहे। धारणा का केन्द्र स्वाधिष्ठान या मणिपुर चक्र होता है।

क्रम– इसके पूर्व एवं पश्चात् पीछे झुकने वाले किसी आसन, जैसे, भुजंगासन, मत्स्यासन या सुप्त वज्रासन का अभ्यास करें। पूर्ण धनुरासन कूर्मासन का ठीक विपरीत आसन है।

सावधानियाँ– स्लिपडिस्क, साइटिका, हर्निया या दीर्घकालिक गठिया से पीड़ित व्यक्ति इस आसन का अभ्यास न करें। यदि मेरुदण्ड पर्याप्त लचीला हो तभी इसका अभ्यास किया जाना चाहिए।

श्वास– आगे झुकते हुए श्वास छोड़ें। अन्तिम स्थिति में सामान्य श्वास लें।

अवधि– लगभग 3 मिनट अन्तिम अवस्था में रहें। आध्यात्मिक लाभ के लिए अधिक देर तक भी रहा जा सकता है।

लाभ– कूर्मासन आमाशय के सभी अंगों को स्वस्थ बनाता है तथा मधुमेह, आध्मान एवं कब्ज जैसे रोगों के उपचार में सहायक होता है। यह सरदर्द एवं गर्दन दर्द का निवारण कर तथा स्नायु शमन कर मेरुदण्ड में रक्त संचार बढ़ाता है।

इस अभ्यास में सामान्य श्वास पर ध्यान करते हुए अगर कुछ समय तक रहा जाये तो मन को केन्द्रित करने के लिए यह बहुत ही उत्तम आसन है। कहा

जाता है कि यदि किसी व्यक्ति को बहुत क्रोध आता हो तो उसे शशांकासन करना चाहिए ताकि क्रोध कम हो जाये, समाप्त हो जाये और क्रोध की प्रवृत्ति पूर्णरूपेण समाप्त हो जाये। क्रोध को नियन्त्रण में लाने के लिए कूर्मासन सबसे उपयोगी अभ्यास है, परन्तु कूर्मासन कठिन है, इसलिए शशांकासन बताया जाता है।

मानसिक उत्तेजना को शान्त करने के लिए, मन को अन्तर्मुखी बनाने के लिए और मेरुदण्ड को लचीला बनाने के लिए इसका अभ्यास किया जाता है। इस आसन के अभ्यास से आत्मसंयम, आन्तरिक सुरक्षा तथा समर्पण की भावना जाग्रत होती है और सुख-दु:ख का प्रभाव समाप्त हो जाता है। वासना एवं भय कम होते हैं तथा शरीर एवं मन को स्फूर्ति प्राप्त होती है।

टिप्पणी– यह आसन आध्यात्मिक साधकों को योगाभ्यास की पाँचवीं अवस्था, प्रत्याहार के लिए तैयार करता है। कूर्म प्रतीकात्मक रूप से प्रत्याहार की अवस्था को दर्शाता है। भगवत् गीता में कहा गया है

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश:।
इन्द्रियाणिन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

'जब योगी सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से उसी प्रकार समेट लेता है, जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, तब उस योगी की बुद्धि स्थिर होती है।'

22. उत्तान कूर्मासन

कुक्कुटासनबन्धस्थं कराभ्यां धृतकन्धरम् ।
पीठं कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम् ॥33॥

अर्थ

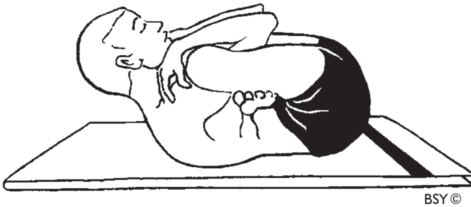
कुक्कुटासन में कन्धों को दोनों हाथों से पकड़ कर कछुए के समान सीधा हो जाना उत्तान कूर्मासन कहलाता है ॥33॥

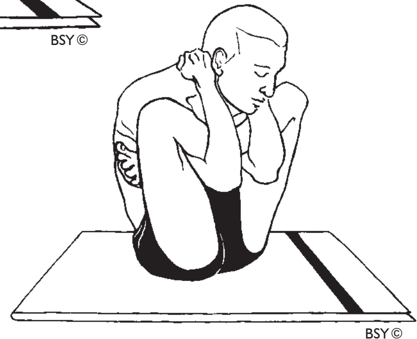
व्याख्या

विधि– उत्तान कूर्मासन का अभ्यास पद्मासन में किया जाता है। पद्मासन में हाथों को जाँघों और पिण्डलियों के बीच से निकालकर कन्धों को पकड़ते हैं और उसके बाद जमीन पर सीधा लेट जाते हैं। यही उत्तान कूर्मासन है।

कुक्कुटासन और उत्तान कूर्मासन में यही भिन्नता है कि उत्तान कूर्मासन में हथेलियों को जमीन पर न टिकाकर उनसे कन्धों को पकड़ते हैं और शरीर पद्मासन की अवस्था में जमीन पर ही रहता है।

लाभ– इस आसन के लाभ कुक्कुट आसन के लाभ के समान ही है। अन्तर इतना ही है कि इसमें शरीर ज्यादा संकुचित हो जाता है, एक आकृति





में बन्ध जाता है। शरीर की संकुचित अवस्था में जब हम सिर को नीचे रखते हैं और पिण्डलियाँ केहुनियों के ऊपर रहती हैं, तब सभी अंगों में दबाव की उत्पत्ति होती है।

इस आसन को करने से पूरे शरीर में नये रक्त का संचार तीव्र गति से होता है। विशेषकर मांसपेशियों में जमे हुए रक्त को हटाने के लिए इस आसन का अभ्यास किया जाता है।

23. मण्डूकासन

पृष्ठदेशे पादतलावङ्गुष्ठौ द्वौ च संस्पृशेत् ।
जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साध्येन्मण्डूकासनम् ॥34॥

अर्थ

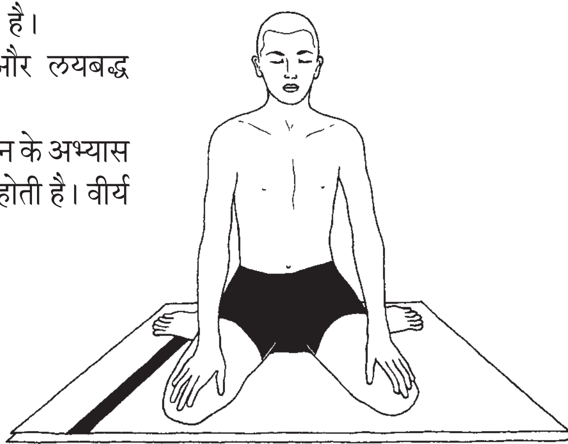
दोनों पाँवों को पृष्ठभाग में ले जाकर मिलायें और अँगूठे मिलाकर दोनों घुटनों को आगे रखें। इस प्रकार मण्डूकासन होता है ॥34॥

व्याख्या

विधि– मण्डूकासन की विधि बहुत सरल है। वज्रासन में बैठ कर घुटनों को यथासम्भव दूर-दूर फैलाते हैं। फिर पैरों एवं एड़ियों को इतना फैलाते हैं कि नितम्ब आराम से भूमि पर टिक जायें। पैरों की अंगुलियाँ बाहर की ओर रहती हैं तथा पैरों का भीतरी भाग भूमि के सम्पर्क में रहता हैं। यदि पैरों की अंगुलियों को बाहर की ओर रखते हुए इस आसन में बैठना सम्भव न हो तो उन्हें अन्दर की ओर भी रख सकते हैं, किन्तु नितम्ब भूमि पर टिके रहने चाहिए। हाथों को घुटनों के ऊपर रखें, सिर एवं मेरुदण्ड को सीधा रखें। आँखों को बन्द करें और पूरे शरीर को शिथिल बनायें। यह आसन 'मण्डूक' अर्थात् मेंढक की भाँति दिखने वाला आसन है।

श्वास– धीमी और लयबद्ध होनी चाहिए।

लाभ– इस आसन के अभ्यास के बाद ताजगी प्राप्त होती है। वीर्य की रक्षा होती है।



24. उत्तान मण्डूकासन

मण्डुकासनमध्यस्थं कूर्पराभ्यां धृतं शिरः।
एतद्भेकवदुत्तानमेतदुत्तानमण्डुकम् ॥35॥

अर्थ

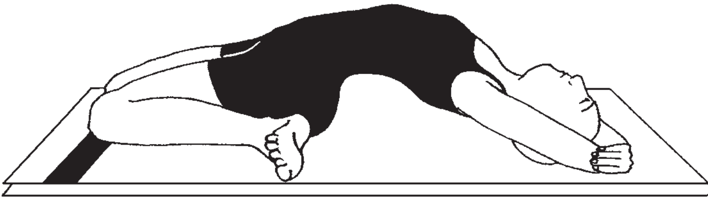
मण्डूकासन करके मस्तक को केहुनियों पर टिका लें और मेंढक के समान उत्तान हो जायें तो यह उत्तान मण्डूकासन होगा ॥35॥

व्याख्या

विधि– उत्तान मण्डूकासन का अभ्यास सुप्त वज्रासन के समान किया जाता है। वज्रासन लगाकर पीछे लेट जाना है, सिर को नीचे रख लेना है, दोनों जाँघें एक साथ रहेंगी। यह सुप्त वज्रासन है। इसमें वज्रासन की ही तरह नितम्ब एड़ी के ऊपर रहते हैं, केवल पीठ धुनषाकार मुड़ी हुई रहती है। उत्तान मण्डूकासन में कमर को भी उठा दिया जाता है। कमर को उठाने से शरीर का भार केवल घुटनों और सिर पर रहता है तथा इसमें पैर अलग-अलग रहते हैं।

लाभ– इस आसन का अभ्यास छाती के विस्तार, श्वसन प्रणाली से सम्बन्धित रोगों के निदान, स्पॉण्डिलाइटिस, स्लिपडिस्क, साइटिका इत्यादि के उपचार के लिए किया जाता है।

श्वास एवं सजगता– इस आसन में श्वास की गति को सामान्य ही रखते हैं और धारणा का केन्द्र मणिपुर चक्र होता है।



25. वृक्षासन

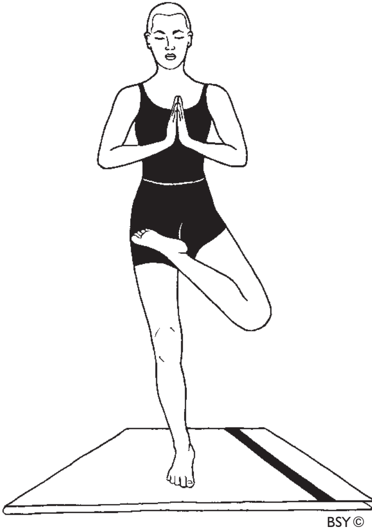
वामोरुमूलदेशे च याम्यं पादं निधाय वै ।
तिष्ठेत्तु वृक्षवद्‌भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ॥36॥

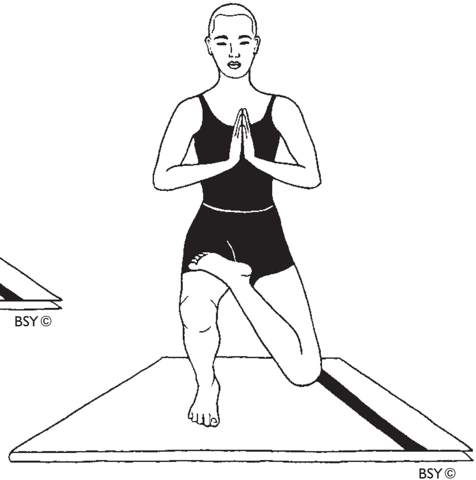
अर्थ

बायें जाँघ की जड़ में दायाँ पाँव रखें और वृक्ष के समान सीधा खड़े हो जायें। इसे वृक्षासन कहते हैं ॥36॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड ने जिस आसन को यहाँ वृक्षासन के नाम से समझाया है, उसका अब प्रचलित नाम है वातायनासन। आजकल प्रचलित वृक्षासन एक दूसरा अभ्यास है। वह सन्तुलन के आसनों के समूह में आता है।





विधि– खड़े होकर आँखों की सीध में किसी बिन्दु पर दृष्टि को स्थिर करते हैं। दाहिने पैर को मोड़कर उसके पंजे को अर्द्ध पद्मासन की स्थिति में बायीं जाँघ पर रख लेना है और एक वृक्ष की भाँति स्थिर अवस्था में खड़े होना है। हाथों को प्रणाम की मुद्रा में छाती से लगा लेना है और दायें घुटने को मोड़ते हुए, शारीरिक सन्तुलन बनाये रखते हुए धीरे-धीरे नीचे आना है। दाहिने पैर के घुटने को जमीन पर रखना है। इस अन्तिम स्थिति में कुछ देर रुकना है। फिर धीरे-धीरे शरीर को ऊपर उठाते हुए दायें घुटने को सीधा कर प्रारम्भिक स्थिति में आ जाना है। बायें पैर को सीधा कर जमीन पर रख लेना है। यह है वातायनासन। इसे महर्षि घेरण्ड ने वृक्षासन की संज्ञा दी है।

श्वास– प्रारम्भिक स्थिति में एक पैर पर खड़े रहते हुए श्वास लें। शरीर को नीचे झुकाते एवं वापस ऊपर लाते समय श्वास रोके रहें। अन्तिम स्थिति में सामान्य श्वास लें। प्रारम्भिक स्थिति में वापस आकर श्वास छोड़ें।

सजगता– शारीरिक सन्तुलन को बनाये रखने पर। ध्यान को अनाहत चक्र में केन्द्रित किया जाता है।

लाभ– इस आसन का अभ्यास सन्तुलन की प्राप्ति के लिए, पैरों की मांसपेशियों और उदर क्षेत्र को मजबूत बनाने के लिए किया जाता है। यह वृक्क एवं मूत्राशय की अतिक्रियाशीलता को कम करता है। यह ब्रह्मचर्य पालन के लिए वीर्य रक्षा की क्षमता विकसित करता है।

26. गरुड़ासन

जङ्घोरुभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुना ।
जानूपरि करद्वन्द्वं गरुडासनमुच्यते ॥37॥

अर्थ

दोनों जाँघों और घुटनों से धरती को दबायें और देह को स्थिर रखें तथा दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रखकर बैठ जायें। यह गरुड़ासन कहलाता है ॥37॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड ने गरुड़ासन की जो प्रक्रिया बतलायी है, वह सामान्य प्रचलित प्रक्रिया से भिन्न है।

विधि– सामान्य प्रचलित प्रक्रिया इस प्रकार है– जमीन पर बैठ कर पैरों को सामने जितना फैला सकते हैं, उतना फैला लेना है। जाँघों को हाथों से जमीन पर दबाना है। मेरुदण्ड को सीधा रखना है और शरीर के भार को एड़ियों और नितम्बों से ऊपर करना है, ताकि पूरा भार जाँघों पर आ जाये।

इस अभ्यास में आप मेरुदण्ड को जितना ऊपर उठाने का प्रयास करेंगे, उतना कम भार नीचे पैर में पड़ेगा और जितना कम भार नीचे पड़ेगा, उतने ही बल से शरीर का गुरुत्व केन्द्र जाँघों में आ जायेगा। फिर धीरे-धीरे ऊपर उठ सकते हैं।

इस आसन का दूसरा नाम है शक्तिचालन आसन। कुण्डलिनी योग और क्रिया योग के कुछ अभ्यासों में इस आसन का प्रयोग किया जाता है, विशेषकर बन्धों के साथ। इस आसन में शरीर की सभी मांसपेशियों और मेरुदण्ड को ऊपर की तरफ खींचा जाता है, जैसे ताड़ासन में हम शरीर को तानते हैं, उसका विस्तार करते हैं।

लाभ– गरुड़ासन हाथों एवं पैरों की मांसपेशियों को शक्ति प्रदान करता है, स्नायुओं को स्वस्थ तथा जोड़ों को ढीला बनाता है। यह साइटिका, आमवात तथा हाइड्रोसिल के उपचार में सहायक होता है। कहा जाता है कि यह अभ्यास कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में सहायक होता है।

27. वृषासन

याम्यगुल्फे पादमूले वामभागे पदेतरम् ।
विपरीतं स्पृशेद् भूमिंवृषामिदं भवेत् ॥38॥

अर्थ

दाहिनी एड़ी पर गुदा द्वार को रखिये। बायीं एड़ी को गुदा की बायीं ओर रखिए। तलवों का विपरीत भाग जमीन पर रहे। यह वृषासन कहलाता है॥38॥

व्याख्या

यह एक सरलतम आसन है। प्रत्येक व्यक्ति आसानी से इसका अभ्यास कर सकता है।

28. शलभासन

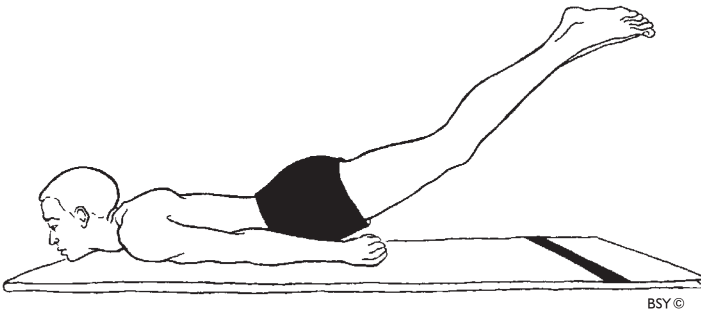
अध्यास्य शेते करयुग्मवक्ष आलम्ब्य भूमिं करयोस्तलाभ्याम् ।
पादौ च शून्ये च वितस्ति चोर्ध्वं वदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्राः ॥39॥

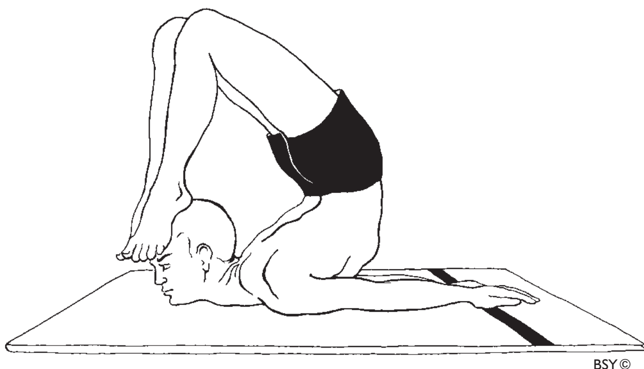
अर्थ

जमीन पर पेट के बल लेट जाना है। मुख जमीन की ओर रहेगा। दोनों हाथों को छाती की बगल में रखना है। हथेलियाँ जमीन पर अच्छी तरह टिकी रहें। इस अवस्था में अपने पैरों को ऊपर उठाना है। मुनीन्द्रों ने इसे शलभासन कहा है ॥39॥

व्याख्या

विधि– पैरों को सटाकर रखते हुए पेट के बल लेट जाइए, तलवे ऊपर की ओर रहें। प्रारम्भिक अवस्था में हाथों को जाँघों के नीचे भी रखा जा सकता है। जब हम हाथों को जाँघों के नीचे रखते हैं, तब पैरों को उठाने के लिए हाथों का सहारा ले सकते हैं, लेकिन धीरे-धीरे जब अभ्यास पक्का हो जाये, तब हाथों को जाँघों के नीचे से निकाल कर बगल में रख देते हैं। हथेलियाँ नीचे की ओर रहती हैं। ठुड्डी को थोड़ा सामने की ओर ले जाकर जमीन पर रखते हैं और पूरे अभ्यास के दौरान जमीन पर ही रखते हैं। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनाते हैं। यह आरम्भिक स्थिति है। पैरों को सटाकर रखते हुए धीरे-धीरे जितना सम्भव हो उतना ऊपर उठाते हैं। पैरों को ऊपर उठाने के लिए हाथों से जमीन पर दबाव डालते हैं और कमर के पीछे के भाग की





मांसपेशियों को संकुचित करते हैं। बिना तनाव के जब तक आराम से अन्तिम स्थिति में रह सकते हैं, तब तक रहते हैं। फिर धीरे-धीरे पैरों को जमीन पर ले आते हैं। यह एक आवृत्ति हुई।

प्रारम्भिक स्थिति में वापस आकर सिर को एक ओर मोड़ते हुए, श्वास एवं हृदय की गति के सामान्य होने तक विश्राम करते हैं।

चूँकि इस अभ्यास को करते समय शरीर की आकृति एक शलभ (टिड्डी) की भाँति हो जाती है, इसलिए इसे शलभासन कहते हैं।

श्वास– प्रारम्भिक स्थिति में गहरी श्वास लेते हैं। पैरों को ऊपर उठाते समय तथा अन्तिम स्थिति में श्वास रोके रहें। पैरों को नीचे लाते हुए श्वास छोड़ें। आरम्भिक अभ्यासियों को पैरों को ऊपर उठाते समय श्वास लेने से अभ्यास में सुविधा होती है। उच्च अभ्यासी आरम्भिक स्थिति में लौटने के पश्चात् रेचक करें।

अवधि– यदि गत्यात्मक रूप से अभ्यास कर रहे हैं, तो 5 आवृत्ति तक अभ्यास करें और यदि स्थिरता से कर रहे हैं तो 3 आवृत्ति करें।

सजगता– विशुद्धि चक्र पर ध्यान को केन्द्रित करें।

सावधानियाँ– शलभासन के लिए बहुत अधिक शारीरिक प्रयास की आवश्यकता होती है। अत: जिन लोगों का हृदय कमजोर हो, हृद् धमनी घनास्त्रता या उच्च रक्तचाप हो, उन्हें यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। पेप्टिक अल्सर, हर्निया, आँतों के यक्ष्मा तथा इस प्रकार के अन्य रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को भी यह अभ्यास न करने का सुझाव दिया जाता है।

लाभ– परानुकम्पी तन्त्रिकाओं का प्राधान्य विशेष रूप से गर्दन एवं श्रोणि-प्रदेश में होता है। शलभासन पूरे स्वैच्छिक तन्त्रिका तन्त्र को, विशेषकर परानुकम्पी नि:स्राव को उद्दीप्त करता है। यह पीठ के निचले भाग एवं श्रोणि प्रदेश के अंगों को पुष्ट बनाता है। साइटिक तन्तुओं को स्वस्थ बनाकर मेरुदण्ड से सम्बन्धित विकृतियों और विकारों, जैसे, पीठ दर्द, साइटिका एवं स्लिपडिस्क (यदि रोग गम्भीर अवस्था में न हो तो) को दूर करने के लिए यह आसन बहुत उपयोगी है। यह यकृत तथा आमाशय के अन्य अंगों की क्रियाशीलता को समंजित एवं सन्तुलित करता है। पेट एवं आँतों के रोगों को दूर कर क्षुधा बढ़ाता है।

शलभासन की अन्तिम स्थिति दूसरे प्रकार की होती है। पैरों को एकदम उठा कर केवल कन्धों पर ही अपने शरीर के भार को रखना है। इसमें भी मेरुदण्ड की आकृति धनुष के समान हो जाती है और पूरे शरीर का भार कन्धों, छाती एवं ठुड्डी पर रहता है। अन्तिम अवस्था को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर का सन्तुलन बहुत अच्छा रहे, नहीं तो गर्दन को चोट पहुँच सकती है।

पूर्ण शलभासन– विधि– पैरों को जितना सम्भव हो ऊपर उठाकर शलभासन की अन्तिम स्थिति में आयें। हाथों की मांसपेशियों को तानें। शरीर को सहारा देने के लिए हाथों एवं कन्धों को भूमि पर जमाये रखें। पैरों को झटके से ऊपर उठाकर लम्बवत् करें तथा कन्धों, ठुड्डी एवं भुजाओं पर शरीर के भार को सन्तुलित करें। जब सन्तुलन प्राप्त हो जाए तो घुटनों को धीरे-धीरे मोड़कर पैरों के अँगूठों को सिर से छुआयें। यह अन्तिम स्थिति है। जब तक आराम के साथ इस स्थिति में रह सकते हैं, तब तक रहें। प्रारम्भिक स्थिति में वापस आने के लिए पैरों को सिर से उठाकर पुन: सन्तुलन की स्थिति प्राप्त करें। तत्पश्चात् धीरे-धीरे शरीर को झुकाते हुए प्रारम्भिक स्थिति में ले आयें।

अवधि– अन्तिम स्थिति में रुकने की अवधि को क्रमश: बढ़ाते हुए एक या दो आवृत्ति अभ्यास करें।

सजगता– आमाशय पर, शरीर को शिथिल तथा सन्तुलित बनाये रखने पर। धारणा का केन्द्र विशुद्धि चक्र रहता है।

सावधानियाँ– शलभासन के इस उच्च अभ्यास को पूर्ण रूप से स्वस्थ एवं लचीली पीठ वाले व्यक्तियों को ही करना चाहिए।

29. मकरासन

अध्यास्य शेते हृदयं निधाय, भूमौ च पादौ प्रसार्यमाणौ ।
शिरश्च धृत्वा करदण्डयुग्मे, देहाग्निकारं मकरासनं तत् ॥40।।

अर्थ

पेट के बल लेट कर हाथों को ठुड्डी में टिका देते है। केहुनियाँ जमीन पर और चेहरा दोनों हथेलियों के बीच में रहता है। इसी अवस्था में अपने शरीर को ढीला छोड़ देते हैं। यह शरीरस्थ अग्नि को तीव्र करने वाला मकरासन है ॥40॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड कहते हैं, *'पादौप्रसार्यमाणौ'* पैरों को अलग-अलग रखना चाहिए, और सामान्य रूप में जो अभ्यास किया जाता है, उसमें पैरों को एक साथ रखते हैं। केवल एक अन्तर यहाँ पर दिखायी देता है।

विधि– पेट के बल सीधा लेट जायें। सिर और कन्धों को ऊपर उठायें तथा केहुनियों को जमीन पर रखते हुए ठुड्डी को हथेलियों पर टिकायें। मेरुदण्ड को अधिक चापाकर स्थिति में करने के लिए केहुनियों को मिलाकर रखें। यदि गर्दन पर अतिरिक्त तनाव पड़ रहा हो तो केहुनियों को थोड़ा फैला लें। मकरासन में दो बिन्दुओं पर प्रभाव का अनुभव होता है, गर्दन एवं पीठ का निचला भाग। यदि केहुनियाँ आपस में बहुत दूर रहेंगी, तो गर्दन में तनाव का अनुभव होगा और यदि उन्हें वक्ष के बहुत पास लायें तो पीठ के निचले भाग में अधिक तनाव का अनुभव होगा। केहुनियों की स्थिति को इस प्रकार व्यवस्थित करें कि ये दोनों बिन्दु सन्तुलित हो जाएँ। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनायें।

श्वास– सहज एवं लयबद्ध हो।

सजगता– पीठ के निचले भाग के प्रति सजग रहते हुए श्वासों की गिनती करें। जिन लोगों को पीठ या मेरुदण्ड सम्बन्धी कोई रोग हो, वे श्वास लेते हुए सजगता को मेरुदण्ड के निचले सिरे से गर्दन तक लायें। कल्पना करें कि श्वास काँच की नली में चढ़ते-उतरते पारे के समान मेरुदण्ड में ऊपर-नीचे चढ़-उतर रही है। इस अभ्यास से जल्द ही इस क्षेत्र में रोगहर ऊर्जा सक्रिय हो जाती है। यदि तनाव के कारण पीठ के निचले भाग में दर्द रहता हो, तो

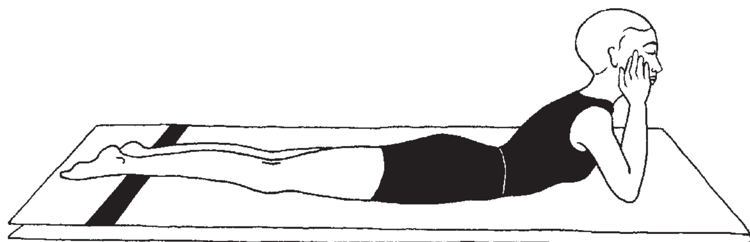
इस क्षेत्र पर सजगता को केन्द्रित कर अनुभव करें कि प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ यह क्षेत्र फैलता एवं शिथिल होता है। आध्यात्मिक रूप से धारणा का केन्द्र मणिपुर चक्र होता है।

अवधि– जितनी देर सम्भव हो, इस आसन का अभ्यास किया जा सकता है।

सावधानियाँ– जिन व्यक्तियों की पीठ में दर्द रहता है, उन्हें यदि इस आसन में दर्द का अनुभव हो तो वे इसका अभ्यास न करें।

लाभ– यह छाती और फेफड़ों का विस्तार करता है। गले को साफ करता है, क्योंकि अभ्यास के समय जब हम गले को ऊपर करते हैं, तो श्वसन नली और अन्न नली एक सीधी रेखा में हो जाती हैं। सामान्य अवस्था में दिन-रात हर समय अन्न नली और श्वसन नली मुड़ी हुई रहती हैं और कफ इसी मुड़े हुए क्षेत्र में एकत्र होता है। इसी क्षेत्र में एक कपाट का संकुचन हो जाता है। जब जल पीते हैं तब वह श्वास नली में नहीं जाता, अन्न नली में ही जाता है। इसी प्रकार जब श्वास लेते हैं, तब वह अन्न नली में नहीं जाती, श्वसन नली में जाती है। अर्थात् दोनों के मार्ग अलग होते हैं। जहाँ पर ये मार्ग अलग होते हैं, उसी स्थान पर कफ एकत्र होता है। जब इस आसन का अभ्यास करते हैं, तब ये नलियाँ सीधी हो जाती हैं, उनमे जमा हुआ कफ साफ हो जाता है और बन्द मार्ग खुल जाता है।

स्लिपडिस्क, साइटिका, पीठ के निचले भाग में दर्द या मेरुदण्ड सम्बन्धी अन्य रोगों से पीड़ित लोगों के लिए यह आसन बहुत प्रभावकारी है। उन्हें इस आसन में लम्बे समय तक रहना चाहिए, क्योंकि यह कशेरुका-स्तम्भ को उसकी प्राकृतिक अवस्था में रखता है तथा मेरुदण्ड के स्नायुओं को दबावमुक्त करता है। दमा के रोगियों तथा फेफड़े से सम्बन्धित अन्य रोगों से पीड़ित लोगों को इस सरल आसन का अभ्यास श्वास की सजगता के साथ नियमित रूप से करना चाहिए, क्योंकि इस आसन में फेफड़ों में अधिक वायु प्रवेश कर पाती है।



30. उष्ट्रासन

अध्यास्य शेते पदयुग्मव्यस्तं, पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम् ।
आकुञ्च्य सम्यग्ध्युदरास्यगाढं, उष्ट्रदं च पीठं यतयो वदन्ति ॥41॥

अर्थ

अधोमुख लेटें और दोनों पाँवों को पलटकर पीठ पर टिका लें तथा पाँवों को हाथों से पकड़कर मुख और पाँवों को दृढ़तापूर्वक सिकोड़ लें, यह उष्ट्रासन कहलाता है ॥41॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड ने जिस उष्ट्रासन का वर्णन किया है, वह आजकल प्रचलित उष्ट्रासन से थोड़ा भिन्न है। हम जिस विधि का प्रशिक्षण देते हैं, वह इस प्रकार है:

विधि– वज्रासन में बैठते हैं। भुजाओं को बगल में रखते हुए घुटनों पर खड़े होते हैं। इस आसन में घुटनों से नीचे पैरों को जमीन पर टिकाते हैं। घुटने और पैर आपस में मिले रहते हैं, किन्तु यदि उन्हें अलग-अलग रखने में सुविधा का अनुभव हो तो अलग-अलग भी रख सकते हैं। पीठ को पीछे की ओर मोड़ कर दायें हाथ से दायीं एड़ी तथा बायें हाथ से बायीं एड़ी को पकड़ते हैं।

इसमें एक बात का ध्यान रखिये कि जब इस प्रकार के आसन में खड़े होते हैं, तब एड़ियों के बीच कमर की चौड़ाई जितनी दूरी होनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि जाँघों के सामने का भाग, जहाँ तक हो सके, सीधा रहे। जाँघों को घुटनों से कमर तक सीधा ही रखना है और कमर से ऊपर शरीर को मोड़ना है। इस स्थिति में आने के लिए आमाशय को जोर लगाकर सामने की ओर फैलाते हैं। इस अवस्था में सिर को पीछे ले जाते हैं। पूरे शरीर को विशेषकर मेरुदण्ड को शिथिल बनाने का प्रयास करते हैं। शरीर का भार समान रूप से हाथों एवं पैरों पर रहना चाहिए। पीठ को चापाकार आकृति में बनाये रखने के लिए भुजाएँ कन्धों को अवलम्ब प्रदान करती हैं।

जब तक सुविधापूर्वक इस अन्तिम स्थिति में रह सकते हैं, रहें। तत्पश्चात्

हाथों को एक-एक कर एड़ियों से हटाते हुए प्रारम्भिक स्थिति में आ जाते हैं। उष्ट्रासन का अभ्यास करते समय शरीर की आकृति ऊँट के कूबड़ के सदृश हो जाती है।

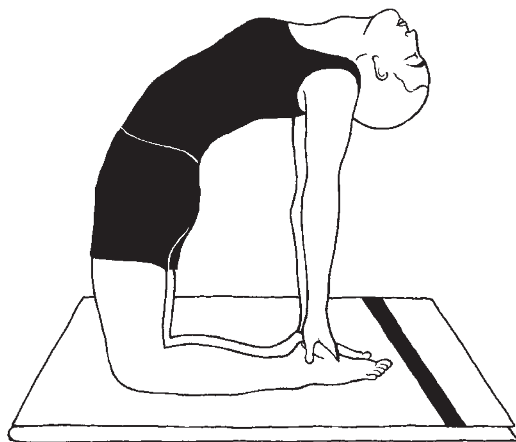
बहुत बार जब हम श्वास रोक कर सिर को पीछे ले जाते हैं, तब मस्तिष्क में खून का दबाव अधिक हो जाता है, जिसके कारण कुछ लोगों को चक्कर आने लगता है। इसलिए यह निर्देश दिया जाता है कि इस आसन को करते समय अगर चक्कर आये तो सिर को सीधा ही रखना चाहिए और धीरे-धीरे कुछ दिनों तक अभ्यास करते-करते उसे पीछे ले जाना चाहिए।

श्वास– इस आसन में सामान्य श्वास लें। गहरी श्वास लेने का प्रयास न करें, क्योंकि छाती पहले से ही पूरी तरह फैली हुई है।

अवधि– यदि गत्यात्मक आसन के रूप में इसका अभ्यास करते हैं, तो 3 आवृत्ति करें। यदि स्थिर आसन के रूप में करते हैं तो अन्तिम स्थिति में 3 मिनट तक रुकें।

सजगता– आमाशय, गले, मेरुदण्ड एवं सामान्य श्वास के प्रति सजग बनें। इसमें धारणा का केन्द्र स्वाधिष्ठान या विशुद्धि चक्र होता है।

क्रम– सामने झुकने वाले किसी आसन, जैसे, पश्चिमोत्तानासन में पीठ में उत्पन्न किसी तनाव को दूर करने के लिए उसके पश्चात् इस आसन का अभ्यास किया जाता है। इसका सबसे अधिक सुविधाजनक विपरीत आसन है शशांकासन, क्योंकि शरीर को अनावश्यक रूप से हिलाए बिना वज्रासन से सीधे इस आसन की स्थिति में आया जा सकता है।



सावधानियाँ– कुछ लोग जब ऊँचे स्थान में चढ़कर नीचे देखते हैं, तब उन्हें चक्कर आने लगते हैं। ऐसे लोगों को तथा उच्च रक्तचाप से पीड़ित लोगों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

पीठ के गम्भीर रोगों, जैसे कटिवात से पीड़ित व्यक्तियों को विशेष निर्देशन में ही इस आसन को करना चाहिए। जिनकी थायराइड ग्रन्थि बढ़ी हुई है, उन्हें भी सावधानी बरतनी चाहिए।

लाभ– इस आसन में एक विशेषता है कि यह दिल के मरीजों के लिए उत्तम आसन है, चाहे किसी प्रकार का हृदय रोग हो, क्योंकि इसमें जब हम पीछे झुकते हैं और हाथों को पीछे ले जाते हैं, तब हृदय से निकलने वाली सभी रक्त वाहिकाओं का विस्तार होता है।

जब कभी धमनियों में चर्बी की मात्रा बढ़ जाती है, वे अवरुद्ध हो जाती हैं, उनमें रक्त का प्रवाह ठीक से नहीं होता या कम हो जाता है, तब ऐसी परिस्थितियों में कुछ लोगों को हृदय में दर्द होने लगता है, कुछ लोगों के दिल की धड़कन अनियमित हो जाती है, कुछ लोगों के दिल की धड़कन बीच-बीच में बन्द होने लगती है। इस प्रकार के रोगों को ठीक करने के लिए यह आसन बहुत उपयोगी है। मुख्य रक्त वाहिनी नलिकाओं को मजबूत बनाने तथा उन्हें शक्ति प्रदान करने के लिए यह आसन बहुत उपयोगी है। अगर व्यक्ति इस आसन को करता रहे तो उसे दिल का रोग कभी नहीं होगा, यह निश्चित है।

यह आसन पाचन एवं प्रजनन प्रणालियों के लिए लाभकारी है। यह आमाशय का विस्तार करता है, कब्ज को दूर करता है। पीछे झुकने से कशेरुकायें लचीली होती हैं और मेरुदण्ड के स्नायुओं का विस्तार होता है, जो पीठदर्द, कटिवात, कूबड़ एवं झुके हुए कन्धों के उपचार में सहायक होता है। गर्दन के अग्र भाग का पूर्ण विस्तार होता है, जिससे इस क्षेत्र के अंग स्वस्थ बनते हैं एवं थायराइड ग्रन्थि के कार्य में नियमितता आती है।

31. भुजंगासन

अंगुष्ठनाभिपर्यन्तमधोभूमौ च विन्यसेत् ।
धरां करतलाभ्यां धृत्वोर्ध्वशीर्षं फणीव हि ॥42॥
देहाग्निर्वर्द्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम् ।
जागर्ति भुजंगदेवी भुजंगासनसाधनात् ॥43॥

अर्थ

पाँवों के अँगूठों से नाभिपर्यन्त शरीर को धरती पर रखें और हथेलियों को भी धरती पर टिकाकर सिर को सर्प के समान ऊँचा उठा लें। यह भुजंगासन कहलाता है। यह आसन शरीरस्थ अग्नि को बढ़ाने वाला और सब रोगों का नाशक है। इसके साधन से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है ॥42-43॥

व्याख्या

विधि– सर्वप्रथम पैरों को सीधा एवं सटाकर रखते हुए पेट के बल लेट जाते हैं। तलवे ऊपर की ओर रहते हैं। हथेलियों को कन्धों की बगल में भूमि पर टिकाते हैं। अंगुलियाँ आपस में सटी हुई एवं सामने की ओर रहती हैं। भुजाओं को इस प्रकार रखते हैं कि केहुनियाँ पीछे की ओर तथा शरीर की बगल में रहें। ललाट को भूमि पर टिकाकर आँखें बन्द करते हैं। नाभिप्रदेश के ऊपर के शरीर को भूमि से ऊपर उठाते हैं। केहुनियों को सीधा करते हुए शरीर को यथासम्भव ऊपर उठाते हैं। पंजों से नाभि तक का शरीर जमीन पर आराम की स्थिति में रहता है। धीरे-धीरे सिर को सर्प के फन की भाँति ऊपर उठाते हैं।

जब शरीर को ऊपर उठाना आरम्भ करते हैं तब पीठ की मांसपेशियों का प्रयोग करते हैं। फिर शरीर को पीछे की ओर मोड़ने तथा पीठ को चापाकर आकृति में लाने के लिए भुजाओं का प्रयोग करते हैं। सिर को थोड़ा पीछे की ओर झुकाते हैं ताकि ठुड्डी सामने की ओर रहे और गर्दन के पीछे का भाग थोड़ा दब जाए। अन्तिम स्थिति में जघनास्थि भूमि के सम्पर्क में रहती है तथा नाभि को अधिकतम 3 सेन्टीमीटर तक ऊपर उठाया जाता है। यदि नाभि को अधिक ऊपर उठा देंगे तो झुकाव का असर घुटनों पर होगा, पीठ पर नहीं। भुजाएँ सीधी रह भी सकती हैं और नहीं भी। यह पीठ के लचीलेपन पर निर्भर

है। अन्तिम स्थिति में कुछ देर रहते हैं। प्रारम्भिक स्थिति में वापस आने के लिए सिर को धीरे-धीरे सामने लाते हैं, भुजाओं को मोड़कर पीठ के ऊपरी भाग को शिथिल बनाते हैं। फिर नाभि, वक्ष, कन्धों तथा अन्त में ललाट को भूमि पर लाते हैं। पीठ के निचले भाग की मांसपेशियों को शिथिल बनाते हैं। यह एक आवृत्ति हुई।

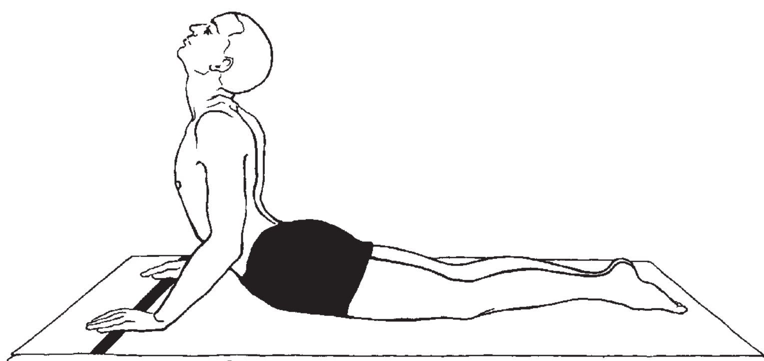
श्वास– धड़ को ऊपर उठाते हुए श्वास लेते हैं। अन्तिम स्थिति में यदि अधिक देर रहते हैं तो सामान्य श्वास लेते हैं और यदि थोड़ी देर रहते हैं तो श्वास रोके रहते हैं। शरीर को नीचे लाते हुए श्वास छोड़ते हैं।

अवधि– अन्तिम स्थिति में रुकने का समय बढ़ाते हुए 5 आवृत्ति तक अभ्यास करते हैं।

क्रम– यदि सामने झुकने वाले आसनों के पूर्व या पश्चात् यह आसन किया जाए तो इसका अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। पीठ एवं मेरुदण्ड के अच्छे स्वास्थ्य के लिए इस आसन का अभ्यास शलभासन एवं धनुरासन के साथ भी किया जा सकता है।

सावधानियाँ– पेप्टिक अल्सर, हर्निया, आँतों के यक्ष्मा या हाइपर थायराइड से ग्रस्त व्यक्तियों को इस आसन का अभ्यास विशेष निर्देशन में ही करना चाहिए।

लाभ– यह आसन स्लिपडिस्क को पुन: अपनी जगह बैठाने, पीठ दर्द दूर करने तथा मेरुदण्ड को लचीला एवं स्वस्थ रखने में सहायक हो सकता है। यदि मेरुदण्ड में कड़ापन हो तो वह मस्तिष्क द्वारा शरीर को भेजे जाने वाले स्नायविक आवेगों के मार्ग में बाधा खड़ी करता है। मेरुदण्ड को चापाकर स्थिति में तानकर, पृष्ठ प्रदेश में रक्त संचार बढ़ाकर तथा स्नायुओं



को स्वस्थ बनाकर शरीर एवं मस्तिष्क के बीच संचार व्यवस्था को सुचारु बनाया जा सकता है।

यह आसन डिम्ब ग्रन्थि एवं गर्भाशय को स्वस्थ बनाता है तथा मासिक धर्म सम्बन्धी एवं अन्य स्त्री रोगों के उपचार में सहायक होता है। शरीर की अग्नि, अर्थात् पाचन शक्ति इस आसन के अभ्यास से तीव्र होती है। यह भूख को बढ़ाता है, कब्ज को दूर करता है तथा आमाशय के सभी अंगों, विशेषकर यकृत एवं वृक्क के लिए भी लाभकारी है। वृक्क के ऊपर स्थित अधिवृक्क ग्रन्थियों की भी मालिश होती है और वे अधिक दक्षता के कार्य करने में सक्षम होती हैं। कॉर्टिसोन का स्राव होता रहता है और थायराइड ग्रन्थि का नियमन होता है।

'सर्वरोग विनाशनम्' सभी प्रकार के रोग इससे दूर होते हैं। अभी तक के अनुसन्धानों से देखा गया है कि यह आसन शरीर के तन्त्रिका-तन्त्र को सुदृढ़ बनाता है। मस्तिष्क से पैर के अँगूठों तक तन्त्रिका-तन्त्र की जो तन्त्रिकायें हैं, उन्हें इस अभ्यास से शक्ति प्राप्त होती है। साथ-ही-साथ शरीर के भीतर समन्वय एवं सन्तुलन स्थापित होता है।

प्राण के स्तर पर भुजंगासन का शक्तिशाली प्रभाव स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत एवं विशुद्धि पर पड़ता है। हमारे भीतर जो भुजंगिनी देवी, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति है, वह भी इस अभ्यास से जाग्रत होती है।

32. योगासन

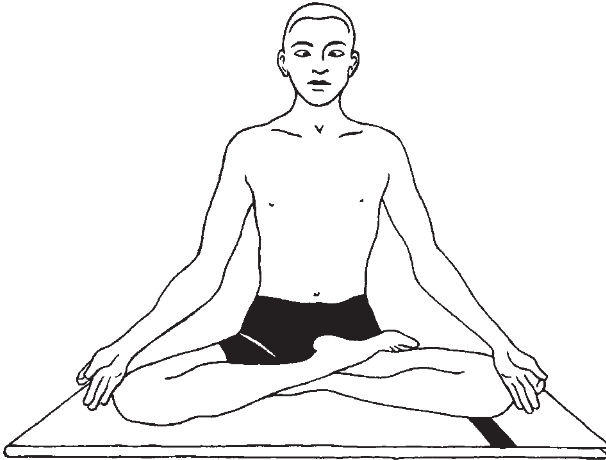
उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्योपरि जानुनोः।
आसनोपरि संस्थाप्य चोत्तानं करयुग्मकम् ॥44॥
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने ॥45॥

अर्थ

दोनों पाँवों को उठाकर घुटनों पर रखें और दोनों हाथों को चित्त करके आसन के ऊपर रख लें। अब पूरक के द्वारा वायु को भीतर खींच कर नासिका के अग्रभाग को देखते हुए कुम्भक करें। योगियों को इसे नित्यप्रति अवश्य करना चाहिए। इसे योगासन कहते हैं ॥44-45॥

व्याख्या

विधि– योगासन, जिसका वर्णन यहाँ पर किया गया है, वह है अर्द्ध पद्मासन, अर्थात् एक पैर जाँघ के ऊपर और दूसरा जाँघ के नीचे रहता है। इस अवस्था में हाथों को घुटनों पर रखना है। नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास करना है। यही योगासन है।



यह एक सहज आसन है, जिसे कोई भी व्यक्ति कहीं पर भी बैठकर ध्यान के लिए, एकाग्रता के लिए, जप के लिए, अपने आपको स्थिर बनाने के लिए और सहज भाव से बैठने के लिए कर सकता है।

अध्याय 3

मुद्रा एवं बन्ध प्रकरण

मुद्रा एवं बन्ध परिचय

आन्तरिक अंगों, ग्रन्थियों एवं स्नायुओं के व्यायाम की प्रक्रियाएँ

घेरण्ड संहिता के तीसरे अध्याय में विशेष रूप से मुद्राओं का वर्णन किया गया है। मुद्राओं की शिक्षा महर्षि घेरण्ड ने चण्डकपालि को मानसिक स्थिरता के लिए प्रदान की थी।

योग में मुद्राओं एवं बन्धों का स्थान आसन और प्राणायाम से भी बढ़कर है, क्योंकि मुद्रा का अभ्यास हमारे प्राणमय कोश और मनोमय कोश को प्रभावित करता है। शरीर में नाड़ी संस्थान के भीतर अनेक संवेदनायें उत्पन्न होती हैं। मन के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन होते हैं, जिन पर हमारा ध्यान जाता है। प्राण के क्षेत्र में, शरीर में ऊर्जा का उत्पादन समय-समय पर बढ़ता या कम होता है। इन सब कारणों से मानसिक या आन्तरिक अवस्था और प्राण की अवस्था में चंचलता एवं विक्षिप्तता का अनुभव होता है।

अगर स्थूल रूप से देखा जाय तो चित्त के विशेष भाव को मुद्रा कहते हैं। योग शास्त्र में जिन मुद्राओं का वर्णन है, वे चित्त के विशेष भाव एवं प्राण की अवस्थाओं की द्योतक हैं। इनकी जानकारी बहुत कम साधकों को है और इनके अभ्यास की विधि भी बहुत कम साधकों को ज्ञात है।

सामान्य रूप से नृत्य में हम मुद्राओं को देखते हैं। नृत्य में तरह-तरह की मुद्राओं का प्रदर्शन होता है, जो व्यक्ति के भाव-विशेष को प्रकट करती हैं। क्रोध के भाव को आँखों के द्वारा, हाथों की स्थिति के द्वारा और शारीरिक भंगिमा के द्वारा बतलाया जाता है। यह तो केवल एक उदाहरण हुआ। यह

भी देखा गया है कि अगर कोई व्यक्ति किसी मुद्रा का अभ्यास लम्बे समय तक करता है, तो वह उस मुद्रा के भाव को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि शरीर और मन में उसी प्रकार की स्थिति, उसी प्रकार का उद्वेग या संवेदना उत्पन्न होने लगती हैं। सामान्य जीवन में भी अगर आप क्रोध की मुद्रा में आते हैं; आँखों को चढ़ा लेते हैं; हाथों को तान लेते हैं और मुक्का बाँध लेते हैं, तो भले ही आप क्रोधी न हों, पर यह भाव शनैः-शनैः आपके भीतर जाग्रत हो जायेगा, क्योंकि हम जिस किसी शारीरिक स्थिति को अपनायेंगे, वह हमारे तन्त्रिका-तन्त्र में एक विशेष प्रकार की संवेदना उत्पन्न कर हमारी मस्तिष्क तरंगों में परिवर्तन लायेगी। मस्तिष्क तरंगों में यह परिवर्तन फिर चेतना की स्थिति को प्रभावित करेगा और कुछ समय तक उस विशेष भाव को हम अपने भीतर, अपने मानस में अनुभव करेंगे।

योग शास्त्र में जिन मुद्राओं और बन्धों का वर्णन किया गया है, वे तन्त्रिका-तन्त्र की संवेदनाओं और उत्तेजनाओं को शान्त एवं संयत करने में सहायक सिद्ध होती हैं। सामान्य रूप से योग में हम जिन मुद्राओं को जानते हैं, वे साधु-महात्माओं या देवी-देवताओं के चित्रों या मूर्तियों में दिखलायी देती हैं। जैसे ज्ञानमुद्रा, चिन्मुद्रा, शंखमुद्रा, अभयमुद्रा इत्यादि।

कुण्डलिनी योग या क्रिया योग में जिन मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है, जैसे अश्विनी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा, तड़ागी मुद्रा इत्यादि, उनका प्रभाव प्राणमय कोश पर पड़ता है और वे प्राण के प्रवाह को परिवर्तित करने का प्रयास करती हैं। उनका प्रभाव मस्तिष्क पर भी पड़ता है और वे चित्त के भीतर भाव विशेष को जाग्रत करने में सहायक होती हैं, ताकि हम अन्तर्मुखी हो सकें। इनका अभ्यास एकाग्रता प्राप्ति में भी सहायक होता है।

बन्ध के अभ्यास वास्तव में स्नायविक अवरोध हैं, जो शरीर और मस्तिष्क के भीतर जितनी तन्त्र-तन्त्रिकायें हैं, उनमें उत्पन्न हो रही संवेदनाओं को अवरुद्ध कर देते हैं और दूसरे प्रकार की संवेदना को जाग्रत करते हैं। आन्तरिक अंगों में जहाँ पर भी संकुचन या प्रसारण की क्रिया होती है; चाहे गर्दन में हो, चाहे कण्ठ में हो, चाहे जननेन्द्रिय के क्षेत्र में हो या गुदा द्वार के क्षेत्र में हो, वह आन्तरिक अंगों से सम्बन्धित प्रक्रियाओं को बदल देती है; संवेगों को बदल देती है। शरीर को एक अन्य प्रकार की उत्तेजनात्मक या शान्त अवस्था में ले जाती है, जिसके कारण आन्तरिक स्थिरता का आभास होता है।

दुनिया में जितने दर्शन, धर्म, सिद्धान्त और विचारधारायें हैं, उन सब का मत है कि यदि व्यक्ति को किसी प्रकार की आध्यात्मिक या आन्तरिक अनुभूति चाहिए तो उसे बाह्य जगत् से पूर्णरूपेण सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़ेगा। सभी धर्मों का मुख्य उद्देश्य है हमें अन्तर्मुखी अवस्था की प्राप्ति कराना, ताकि बाहर के संवेग मानसिक अवस्था को विक्षिप्त न करें। हम अपने मन को पूर्णरूपेण एकाग्र करके प्रार्थना या ध्यान में लगा सकें और अपने भीतर नकारात्मक प्रतिक्रियायें उत्पन्न न होने दें।

वेदान्त में भी कहा गया है कि सब कुछ क्षणभंगुर है; सब माया है; सब भ्रान्ति है। इसे छोड़ो, सत्य को अपनाओ। लेकिन योग और तन्त्र शास्त्र में इससे भिन्न यह कहा जाता है कि जिस अवस्था में तुम हो, ऊपर चढ़ने के लिए उसी अवस्था को सीढ़ी बना लो। यदि एकाग्रता चाहते हो, तो इन्द्रियों के माध्यम से भी तुम एकाग्र अवस्था को प्राप्त कर सकते हो। यदि किसी प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति चाहते हो, तो इन्द्रियों के माध्यम से भी वह अनुभूति तुम्हें प्राप्त हो सकती है। इन्द्रियों का इतना विस्तार किया जाये, उन्हें इतना प्रबल बनाया जाये कि मन अपने आप ही उनमें केन्द्रित हो जाये। इसी प्रकार योग में इन्द्रियों से सम्बन्धित एक मुद्रा है खेचरी मुद्रा। यह सूँघने की शक्ति को तीव्र बनाती है और इतना तीव्र बनाती है कि उसमें परिवर्तन आ जाता है।

तो जिस प्रकार से एक विधि के माध्यम से हम अपने भीतर में उत्पन्न संवेदनाओं को तीव्र बनाते हैं, उनका विस्तार करते हैं और विस्तार करने के बाद अपने आपको उसमें लीन कर देते हैं, उसी प्रकार से मुद्राओं और बन्धों के अभ्यास में इस प्रक्रिया का वर्णन महर्षि घेरण्ड ने इस अध्याय में किया है। हम अपने शरीर का प्रयोग करके अन्नमय कोश, प्राणमय कोश और मनोमय कोश की संवेदनाओं को तीव्र बनाकर अपने को उनके भीतर ले जाते हैं। यह अन्तर है, एक ऐसी पद्धति, जो दुनिया और उसकी नश्वरता को एक भ्रान्ति जगत् मानती है, और दूसरी पद्धति में, जो दुनिया और शरीर को एक माध्यम मानकर अपने भीतर जाने के लिए इनका सहारा लेती है। इस दूसरी पद्धति में मुद्रा और बन्ध की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

घेरण्ड उवाच

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महाबेधश्च खेचरी ॥1॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोणि शक्तिचालनी ।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा ॥2॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी ।
पंचविंशतिमुद्राश्च सिद्धिदा इह योगिनाम् ॥3॥

अर्थ

महर्षि घेरण्ड ने कहा महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महाबेध मुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, योनि मुद्रा, वज्रोणि मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, तड़ागी मुद्रा, माण्डुकी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवीय धारणा, आकाशी धारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी और भुजंगिनी इत्यादि पचीस मुद्रायें हैं। ये योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाली हैं ॥1-3॥

व्याख्या

इन मन्त्रों में सोलह मुद्राओं, चार बन्धों और पाँच धारणाओं का वर्णन किया गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह मान्यता है कि मुद्राओं की सिद्धि अष्ट सिद्धि प्रदान करती है। आठ मुख्य सिद्धियाँ होती हैं। प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी जागरण के लिए भी मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है। अनुसन्धानों से यह पता चला है कि मुद्राओं और बन्धों का प्रयोग बीमारियों को दूर करने में भी सहायक होता है।

मुद्राओं और बन्धों की शिक्षा सर्वप्रथम भगवान् शिव ने माता पार्वती को दी थी। माता पार्वती को सम्बोधित करते हुए भगवान् शिव कहते हैं

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्व सिद्धिः प्रजायते ॥4॥
गोपनीय प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभंमरुतामपि ॥5॥

अर्थ

हे देवी! मैने तुम्हें मुद्राओं का ज्ञान प्रदान किया। एकमात्र इनका ज्ञान ही सिद्धियों को प्रदान करने वाला है। ये विद्याएँ योगियों को आनन्द देने वाली हैं। देवताओं को भी ये विद्याएँ सुलभ नहीं हैं। इन विद्याओं को सदा गुप्त रखना ॥4-5॥

व्याख्या

देवताओं के लिए भी यह विद्या सुलभ नहीं है, इस कथन से मुद्रा की महत्ता का स्पष्ट आभास होता है। इन क्रियाओं का व्यर्थ अभ्यास नहीं करना चाहिए। योग्य और उपयुक्त साधकों एवं शिष्यों को ही इनकी सिद्धि के लिए प्रयास करना चाहिए।

इस अध्याय में मुद्राओं का वर्णन ऊपर वर्णित क्रम के अनुसार किया गया है। लेकिन इस क्रम में समझने में कठिनाई होगी, इसलिए हम आगे का वर्णन अलग-अलग विभागों के अन्तर्गत करेंगे। पहले चार बन्धों का वर्णन करेंगे, फिर पंच धारणाओं का, फिर सोलह मुद्राओं का।

बन्ध

पहला है जालन्धर बन्ध गर्दन के क्षेत्र को संकुचित करना। शरीर की सभी नाड़ियाँ, रक्त वाहिकायें, सब इस छोटे-से मार्ग से होकर सिर में जाती हैं। अर्थात् इस क्षेत्र में नाड़ियों का एक गुच्छा या केन्द्र है। अनेक नाड़ियाँ यहाँ पर एकत्र हैं। इसलिए जब हम जालन्धर बन्ध का अभ्यास करते हैं, तब गर्दन, गले, सिर एवं कन्धों के नाड़ी क्षेत्र प्रभावित होते हैं। जालन्धर बन्ध का अभ्यास बहुत सरल है। अपनी ठुड्डी को हँसली के नीचे जो गड्ढा है, उस पर रख देना है। रीढ़ की हड्डी को सीधा रखते हुए केवल गर्दन को नीचे करना है, संकुचित करना है, ताकि ठुड्डी बीच में छू जाये। श्वास को रोकने की क्षमता के अनुसार इस अवस्था को कुछ देर के लिए रोक कर रखते हैं। इस अभ्यास को कुम्भक के साथ ही करते हैं, चाहे वह बहिरंग कुम्भक हो या अन्तरंग। इस अभ्यास को सही ढंग से करने पर अनुभव होता है कि दबाव के दो भाग हो जाते हैं एक भाग सिर की तरफ जाता है, दूसरा पीठ से नीचे उतरता है।

दूसरा बन्ध है उड्डियान बन्ध। पेट ही एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ पर हड्डी नहीं है। यहाँ केवल मांसपेशियाँ तथा नाड़ी तन्तु हैं। बहुत-सी नाड़ियाँ यहाँ समाप्त होती हैं। उड्डियान बन्ध का अभ्यास पेट के क्षेत्र का अभ्यास है। पेट को अन्दर खींचकर नाभि-क्षेत्र को मेरुपृष्ठ से सटाकर वहीं रोकना होता है, जैसे अग्निसार क्रिया में करते हैं, लेकिन अग्निसार क्रिया में पेट को बार-बार अन्दर-बाहर करते हैं, इसमें एक ही बार खींचते हैं। फिर उसे श्वास रोक सकने की क्षमता तक रोकते हैं और उसके बाद छोड़ देते हैं। यह है उड्डियान बन्ध।

तीसरा बन्ध है मूलबन्ध। मूलबन्ध गुदा द्वार और मूत्रेन्द्रिय का बन्ध है। मूत्रेन्द्रिय की मांसपेशी अलग है और गुदा द्वार की अलग। अभ्यास के क्रम में आप इनमें थोड़ा अन्तर पायेंगे, तभी भेद को समझ पायेंगे। यदि बहुत जोर से पेशाब लगी हो तो हम मूत्रेन्द्रिय को भीतर खींचते हैं। उसका संकुचन होता है, गुदा द्वार का नहीं। केवल मूत्रेन्द्रिय के संकुचन को वज्रोणि मुद्रा कहते हैं, अर्थात् मूत्रेन्द्रिय को खींचना, फिर उसे छोड़ देना यह वज्रोणि मुद्रा है। गुदा-द्वार को खींचने की क्रिया है अश्विनी मुद्रा। इन दोनों को एक साथ खींचने की क्रिया है मूलबन्ध।

मूलबन्ध का अभ्यास है अश्विनी और वज्रोणि मुद्राओं का एक साथ अभ्यास। जब दोनों को खींचते हैं, तब भीतर में एक बिन्दु पर विचित्र-सी संवेदना उत्पन्न होती है। जब दोनों बन्धों का अभ्यास एक साथ होता है, तब दोनों के खिंचाव से मांसपेशियों के जिस बिन्दु पर गुदगुदी जैसा अनुभव होता है, वही मूलाधार चक्र का क्षेत्र है, जिसे मूलाधार पिण्ड कहते हैं।

चौथा बन्ध है महाबन्ध। महाबन्ध का अभ्यास तीनों बन्धों का मिश्रण है। इसमें मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध, तीनों एक साथ लगते हैं।

1. मूलबन्ध

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सुधीः संपीड्य यत्नतः॥6॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फेन दृढबन्धं समाचरेत् ।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥7॥
संसारसागरं तर्तुमभिलषति यः पुमान् ।
सुगुप्तो विरलो भूत्वा मुद्रामेतां समभ्यसेत् ॥8॥
अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः॥9॥

अर्थ

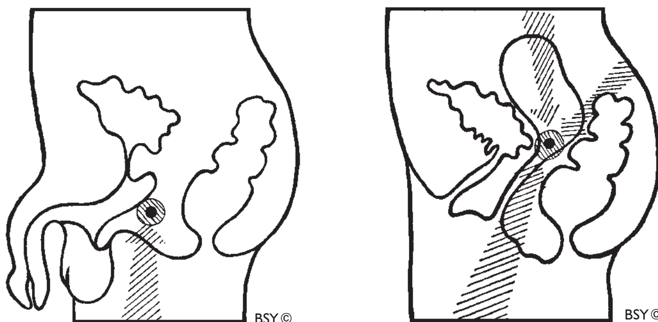
बायीं एड़ी से गुह्य प्रदेश को संकुचित करें और प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभि-ग्रन्थि को लगाकर दबायें और दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबा लें। यह मूलबन्ध है। इससे वृद्धावस्था नष्ट होती है। संसार-सागर से पार होने के आकांक्षियों को जनहीन (वन) में छुपकर इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से मरुत् सिद्धि अवश्य होती है। इसलिए मौन एवं निरालस्य होकर प्रयत्नपूर्वक इसका अभ्यास करें ॥9-10॥

व्याख्या

बायीं एड़ी को गुदा-मार्ग के समीप रखकर दबाते हैं, मूलाधार-पिण्ड/योनि-ग्रीवा को संकुचित करते हैं और यत्नपूर्वक नाभि को मेरुदण्ड से लगाने का प्रयास करते हैं। इस अभ्यास से वृद्धावस्था पर विजय प्राप्त की जाती है। जिस अवस्था या आसन का यहाँ पर वर्णन किया गया है, वह सिद्धासन है, क्योंकि एक एड़ी गुदा द्वार पर दबाव डाल रही है और दूसरी एड़ी प्रजनेन्द्रिय के ऊपर दबाव डाल रही है। यह सिद्धासन की स्थिति है। इसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

विधि– पहली स्थिति– सिद्धासन/सिद्धयोनि आसन में बैठते हैं। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को विश्रान्त बनाते हैं। थोड़ी देर तक अपनी सहज श्वास के प्रति सजग बने रहते हैं। फिर अपनी सजगता को मूलाधार-पिण्ड/योनि-ग्रीवा

प्रदेश पर केन्द्रित करते हैं। श्रोणि की सतह की मांसपेशियों को ऊपर की ओर खींचकर इस क्षेत्र को संकुचित करते और फिर ढीला छोड़ देते हैं। मूलाधार-पिण्ड/योनि-ग्रीवा प्रदेश को जितना सम्भव हो, लयबद्ध ढंग से तथा एक समान रूप से संकुचित एवं ढीला करते जाइए।



दूसरी स्थिति– इस क्षेत्र को धीरे-धीरे संकुचित कर संकुचन की अवस्था को बनाये रखते हैं। सामान्य श्वास लेते रहते हैं, श्वास को रोकना नहीं है। शारीरिक संवेदनाओं के प्रति पूरी तरह सजग बने रहते हैं। इस क्षेत्र को थोड़ा और संकुचित करते हैं, किन्तु शरीर के अन्य अंगों को पूरी तरह विश्रान्त अवस्था में बनाये रखते हैं। केवल मूलाधार क्षेत्र से सम्बद्ध मांसपेशियों का संकुचन करते हैं। आरम्भ में गुदा एवं मूत्र-अवरोधिनी भी साथ में संकुचित होती हैं। किन्तु सजगता एवं नियन्त्रण बढ़ने के साथ-साथ इनका संकुचन कम होता जाएगा और अन्त में ऐसी स्थिति आयेगी कि अभ्यासी को एड़ी के पीछे केवल एक बिन्दु की गति का आभास होगा।

मांसपेशियों को धीरे-धीरे समान रूप से ढीला करते हैं। अधिकतम संकुचन एवं प्रसारण करते हुए 10 आवृत्तियाँ करें।

तीसरी स्थिति– गहरी श्वास लेकर श्वास को भीतर रोकें। मूलाधार-पिण्ड/योनि-ग्रीवा प्रदेश को धीरे-धीरे बिना जोर लगाए जितना संकुचित कर सकते हों, करें। यह मूलबन्ध की अन्तिम स्थिति है। जब तक श्वास को आराम से रोक सकते हों, तब तक मूलबन्ध लगाये रखें। धीरे-धीरे मूलबन्ध खोलें, फिर श्वास छोड़ दें। इस अभ्यास को अन्तर्कुम्भक के साथ भी किया जा सकता है। अभ्यास बहुत सरल है।

सजगता–बन्ध लगाते समय सजगता श्वास पर केन्द्रित रहनी चाहिए और जब बन्ध लग जाए तो मूलाधार-पिण्ड/योनि-ग्रीवा में संकुचन स्थल पर सजगता रहनी चाहिए।

लाभ–मूलबन्ध से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर अनेक लाभ होते हैं। यह श्रोणि-प्रदेश की नाड़ियों को उत्तेजित करता और प्रजनन एवं मल-मूत्र उत्सर्जन तन्त्र को स्वस्थ बनाता है। आन्त्र क्रमाकुंचन भी उद्दीप्त हो जाता है, जिससे कब्ज एवं बवासीर दूर हो जाते हैं। यह गुद विदर, अल्सर, पुर:स्थ शोथ में भी लाभकारी होता है। पुर:स्थ अतिवृद्धि तथा दीर्घकालिक श्रोणिय संक्रमण के कुछ रोगियों पर भी प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। चूँकि इस अभ्यास से ऊर्जा मुक्त होती है, इसलिए यह मनोकायिक रोगों तथा व्यपजनन सम्बन्धी रोगों के उपचार में भी सहायक होता है।

मस्तिष्क तथा अन्त:स्रावी तन्त्र के माध्यम से इस अभ्यास का प्रभाव पूरे शरीर में फैलता है, जो कि दमा, ब्रोंकाइटिस तथा गठिया के रोगियों के लिए बहुत लाभकारी है। यह विषाद को भी दूर करता है।

मूलबन्ध ब्रह्मचर्य पालन तथा बहुत-से यौन रोगों के उपचार का एक उत्तम साधन है। इस अभ्यास के द्वारा साधक यौन ऊर्जा को इच्छानुसार आध्यात्मिक विकास के लिए ऊर्ध्वगामी तथा भौतिक सम्बन्धों को बढ़ाने के लिए अधोगामी बनाने में सक्षम होता है। यह यौन ऊर्जा के दमन एवं यौन कुण्ठा की भावना को दूर करने में सहायक होता है।

चक्रों पर प्रभाव–मूलबन्ध का प्रभाव वास्तव में मूलाधार चक्र पर पड़ता है। इसलिए मूलाधार चक्र के क्षेत्र को पहले समझ लेना चाहिए। हमारे शरीर की संरचना में धड़ का निम्न भाग गुदा-मार्ग का क्षेत्र है और सामने का भाग मूत्र-मार्ग का क्षेत्र है।

यहाँ पर जिस अभ्यास का वर्णन किया जा रहा है, उसमें कहा गया है कि गुदा-मार्ग को पूर्णत: संकुचित करना चाहिए। मूलाधार क्षेत्र की जो मांसपेशियाँ हैं, वे प्रजननेन्द्रिय और गुदा-मार्ग से सम्बन्धित हैं। खींचने पर दोनों एक साथ खिंचते हैं। दोनों क्षेत्रों में एक ही साथ संकुचन की अवस्था उत्पन्न होती है और एक समय आता है जब शरीर के भीतर गुदा-द्वार के क्षेत्र के ऊपर एक विचित्र गुदगुदी-सी आने लगती है। मेरुदण्ड के निचले भाग में विचित्र उत्तेजना उत्पन्न होती है। उस समय इस अवस्था को बनाये रखना बहुत कठिन हो जाता है। कुछ समय के बाद दबाव अपने आप समाप्त हो

जाता है और मांसपेशियों का संकुचन अपने आप ढीला पड़ने लगता है। बन्ध के अभ्यास में उस दबाव की अवस्था को निरन्तर बनाये रखते हैं। केवल संकुचन करना और छोड़ देना तो मुद्रा है, लेकिन बन्ध का अर्थ होता है, उस स्थिति को रोक देना, बाँध देना और जितनी देर सम्भव हो उस स्थिति को बनाये रखना।

नाड़ियों पर प्रभाव– मेरुदण्ड के निचले भाग को शरीर का आधार स्वरूप माना गया है। मेरुदण्ड के निचले भाग से अनेक नाड़ियाँ शुरू होती हैं और वहाँ पर अनेक का अन्त भी होता है। ये नाड़ियाँ मेरुदण्ड के निचले भाग से प्रारम्भ हो मस्तिष्क तक आती हैं। शरीर विज्ञान के मतानुसार हम लोगों का यह आधार, मूलाधार बहुत संवेदनशील है। जब हम निरन्तर संकुचन की अवस्था को बनाये रखते हैं तथा भीतर एक विचित्र प्रकार की अनुभूति होती है तब स्वैच्छिक तन्त्रिका-तन्त्र से सम्बन्धित जितनी नाड़ियाँ हैं, वे उत्तेजित हो उठती हैं। इस उत्तेजना का प्रभाव मेरुदण्ड से होते हुए मस्तिष्क पर पड़ता है। चक्रों से सम्बद्ध एक और सिद्धान्त है कि मस्तिष्क के भीतर भी कुछ केन्द्र होते हैं, जिनका सम्बन्ध चक्रों के साथ होता है। विज्ञान में भी यह बात बतलायी जाती है कि मस्तिष्क का केवल दस प्रतिशत क्षेत्र अभी जाग्रत अवस्था में है और शेष नब्बे प्रतिशत सुषुप्त अवस्था में है। इन सुषुप्त केन्द्रों का सम्बन्ध चक्रों के साथ रहता है।

यदि मूलाधार चक्र को मेरुदण्ड के निचले भाग में स्थित मानें, तो मस्तिष्क के भीतर भी एक ऐसा केन्द्र होता है जो मूलाधार के स्पन्दन से प्रभावित होकर जाग्रत होता है। नाड़ियों से होकर संवेदना मस्तिष्क तक जाती है और मस्तिष्क के उसी क्षेत्र को जाग्रत करती है, जिसका सम्बन्ध मूलाधार से है, क्योंकि अन्य स्थानों पर तो किसी प्रकार का दबाव या प्रभाव अभी नहीं पड़ रहा है। सीधा प्रभाव मूलाधार के क्षेत्र में पड़ता है और इसी कारण शरीर के निचले भाग में अपान वायु के प्रवाह की दिशा भी बदल जाती है। जब अपान वायु के प्रवाह की दिशा बदलती है, तब मनुष्य वृद्धावस्था पर विजय प्राप्त करता है; कभी वृद्ध नहीं होता। योग में यह एक सिद्धि मानी गयी है, जिसका वर्णन इस मन्त्र में किया गया है।

अभ्यास के नियम– एकान्त में अभ्यास करना; मौन व्रत धारण करना और यत्नपूर्वक अभ्यास करना है। प्रश्न उठता है, एकान्त क्यों? जब हम अपने आपको सांसारिक आकर्षणों से दूर ले जाते हैं, तब मानसिक स्थिरता सम्भव

होती है। मन सांसारिक आकर्षणों के पीछे नहीं भागता। अत: बाह्य वातावरण से अप्रभावित रहने के लिए एकान्त का निर्देश दिया गया है।

मौन रखने से प्राणशक्ति का संचय होता है। बोलते रहने पर आन्तरिक चंचलता, विक्षिप्तता और असन्तुलन का अनुभव होता है। वाणी और दृष्टि इन्द्रियों के ऐसे व्यवहार हैं, जिनके कारण हमारी आन्तरिक शक्ति का ह्रास होता है। विज्ञान के अनुसार साठ प्रतिशत संवेदी उद्दीपन आँखों के कारण उत्पन्न होते हैं। वे इधर-उधर देखती हैं और इतनी सारी सूचनायें मस्तिष्क में ले जाती रहती हैं कि उन्हें संचित करने, वर्गीकृत करने और उनका विश्लेषण करने में हमारी आन्तरिक शक्ति का बहुत व्यय होता है। हम तो केवल उन्हीं सूचनाओं के प्रति सजग बनते हैं जिनका सम्बन्ध तात्कालिक परिस्थिति से रहता है। एक मिनट सामने देखिये, क्या केवल सामने दिखलायी देता है? नहीं। आपको यही खयाल है कि मैं सामने देख रहा हूँ, लेकिन जो सूचनायें आस-पास से मिल रही हैं, उन पर भीतर में विचार-विमर्श-विश्लेषण हो रहा है। सोलह घण्टे यही क्रिया चलती रहती है। केवल निद्रा की अवस्था में, जब आँखें बन्द रहती हैं, तब संवेदनायें कम हो जाती हैं। वाणी के साथ भी यही होता है। वाणी का तात्पर्य यहाँ केवल बोलने से नहीं, वरन् सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों से है। मन भी तो बोलता है विचारों के माध्यम से। बोलने के अनेक प्रकार माने गये हैं।

योग बोलने को ही वाणी नहीं मानता। वह अन्दर से उत्पन्न सभी प्रकार की बकवास भरी बातों को भी वाणी का एक अंग मानता है। भावनाओं की अभिव्यक्ति को भी वाणी का एक अंग मानता है। मौन का अभ्यास इसलिए बतलाया जाता है कि हमारी अभिव्यक्ति की जो क्षमता है, जिस पर हमारा नियन्त्रण नहीं है और जो हमारे व्यक्तित्व को संचालित करती है, उसे शान्त रखा जा सके।

तीसरा निर्देश दिया गया है यत्नपूर्वक इसका अभ्यास करना। यत्नपूर्वक अभ्यास का अर्थ है, आकुंचन की जिस अवस्था को हम प्राप्त करते हैं, उसे बनाये रखना। ऐसा नहीं कि आधा मिनट किया और उसके बाद अभ्यास छोड़ दिया। प्रारम्भ में यह अवस्था ठीक है, लेकिन अन्तिम अवस्था में हममें यह क्षमता होनी चाहिए कि हम बन्ध की स्थिति को पन्द्रह-बीस मिनट तक बनाये रखें।

योगियों में इतनी क्षमता होती है कि वे घण्टों तक एक स्थिति को बनाये रखते हैं। बन्ध को एक-दो मिनट तक रोकने से प्रभाव तो होगा ही, इसमें कोई सन्देह नहीं है, लेकिन जो शक्ति हम चाहते हैं मस्तिष्क और कुण्डलिनी को

जाग्रत करने के लिए, वह एक-दो मिनट के अभ्यास से उत्पन्न नहीं होगी। अत: शक्ति को तीव्र करने के लिए, केन्द्रित करने के लिए, जितनी देर तक आप इसका अभ्यास कर सकें, उतनी देर करें।

इन तीन निर्देशों के साथ चौथा निर्देश मेरी तरफ से यह है कि अपने आप अभ्यास नहीं करना, क्योंकि गलत तरीके से शक्ति का जब अनुभव होता है, तब व्यक्तित्व में नकारात्मक परिवर्तन होने लगते हैं। अच्छाई और विकास के मार्ग में आगे बढ़ने के बदले व्यक्ति का पतन होता है। इसलिए बिना गुरु के आदेश के ऐसे अभ्यासों को नहीं करना चाहिए, जिनके द्वारा हमारे भीतर सूक्ष्म शक्तियाँ जाग्रत हो सकती हैं।

मूलबन्ध कुण्डलिनी को जगाने में सहायक सिद्ध होता है। कुण्डलिनी शक्ति को हम अनेक रूपों में समझ सकते हैं। इसका एक रूप है मूलाधार के भीतर छुपे शक्ति-तत्त्व की जागृति; दूसरा रूप है मस्तिष्क के उस केन्द्र की जागृति जो मूलाधार से सम्बद्ध है। उस केन्द्र के जाग्रत होने पर चेतना का जो विस्तार या विकास होता है, उसे भी कुण्डलिनी की अनुभूति कहते हैं, क्योंकि वह अवस्था चेतना को एक नये लोक में ले जाती है, जिससे विचार, व्यवहार और कर्म में परिवर्तन होते हैं।

टिप्पणी – मूलबन्ध का अभ्यास होता है श्रोणि के सतह की कुछ मांसपेशियों का संकुचन करना। इसमें पूरे मूलाधार को संकुचित नहीं किया जाता है। पुरुषों के लिए संकुचन क्षेत्र होता है गुदा एवं जननांग के मध्य का क्षेत्र। महिलाओं में संकुचन बिन्दु होता है गर्भाशय ग्रीवा के पीछे, जहाँ गर्भाशय योनि से मिलता है। प्रारम्भ में पर्याप्त मांसपेशीय नियन्त्रण न होने के कारण मूलबन्ध लगाने में कठिनाई होती हो तो उसके बदले में नियमित रूप से अश्विनी मुद्रा का अभ्यास करें। जब मूलाधार की मांसपेशियों पर आवश्यक नियन्त्रण प्राप्त हो जाए तो अश्विनी मुद्रा का अभ्यास बन्द कर मूलबन्ध का अभ्यास आरम्भ करें।

2. जालन्धर बन्ध

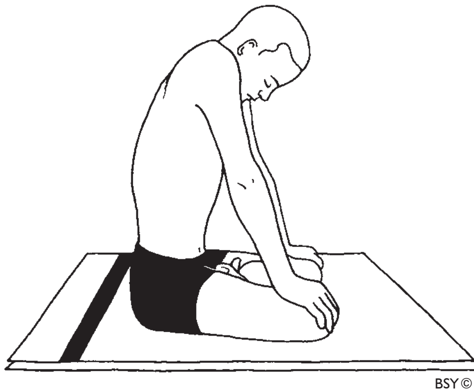
कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।
जालन्धरेकृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ॥10॥
जालन्धरमहामुद्रामृत्योश्च क्षयकारिणी ।
सिद्धो जालन्धरो बन्धो योगिनां सिद्धिदायक:।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशय: ॥11॥

अर्थ

कण्ठ का संकोच करें और हृदय पर ठुड्डी को रखें तो जालन्धर बन्ध होता है। इससे सोलह आधारों का नियन्त्रण हो जाता है। यह जालन्धर बन्ध नाम की महामुद्रा मृत्यु को भी जीत लेती है। जालन्धर बन्ध सिद्ध होने पर योगियों को सिद्धि प्रदान करता है तथा इसका छ: महीने अभ्यास करने से ही योगी अवश्य सिद्ध हो जाता है ॥10-11॥

व्याख्या

विधि– पद्मासन, सिद्धासन/सिद्धयोनि आसन में बैठते हैं। सिर एवं मेरुदण्ड को सीधा रखते हैं। घुटने जमीन से सटे रहने चाहिए। हथेलियों को घुटनों पर रखते हैं। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनाते हैं। सामान्य रूप से जालन्धर बन्ध के अभ्यास में धीमी, गहरी श्वास लेकर श्वास को भीतर रोकते



हैं। श्वास को भीतर रोके रहते हुए कण्ठ का संकोच कर ठुड्डी को छाती के मध्य भाग से लगाने का प्रयत्न किया जाता है।

महर्षि घेरण्ड इस विषय में कहते हैं मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए कण्ठ का संकुचन करना, अन्दर की तरफ खींचना और ठुड्डी को नीचे करके कण्ठ के मूल भाग में, जहाँ हमारी हँसलियाँ मिलती हैं, लगा देना है। घुटनों पर हथेलियों से दबाव डालते हुए भुजाओं को सीधा करते हैं। साथ ही कन्धों को सामने की ओर झुकाते हुए ऊपर उठाते हैं। इससे भुजाएँ इस स्थिति में दृढ़ता से जमी रहती हैं और कण्ठ पर पड़ने वाला दबाव बढ़ जाता है। जब तक सहज रूप से श्वास रोक सकते हैं, तब तक इस अन्तिम स्थिति में रहते हैं। जोर नहीं लगाना है। फिर कन्धों को ढीला कर भुजाओं को मोड़कर शिथिल बनाते हैं, सिर को ऊपर उठाते हैं, तत्पश्चात् श्वास छोड़ते हैं। जब श्वास सामान्य हो जाए तो दूसरी आवृत्ति करते हैं।

श्वास– यह अभ्यास बहिर्कुम्भक के साथ भी किया जा सकता है।

अवधि– जब तक श्वास को आराम से रोक सकते हों, तब तक जालन्धर बन्ध लगाना चाहिए। श्वास को रोक कर गिनती गिनते हुए इस संख्या को धीरे-धीरे बढ़ाते जाते हैं। इस अभ्यास की 5 आवृत्तियाँ की जा सकती हैं।

क्रम– इस बन्ध का अभ्यास प्राणायाम एवं मुद्राओं के साथ किया जाता है, किन्तु यदि केवल इस बन्ध का अभ्यास करना हो, तो आसनों एवं प्राणायामों के अभ्यास के पश्चात् तथा ध्यान के पूर्व करना चाहिए।

शरीर के सोलह आधार होते हैं और जालन्धर बन्ध उनमें से एक आधार को बन्द करता है। ये सोलह आधार हैं दो पैर, गुदा, मूत्रेन्द्रिय वज्र नाड़ी, नाभि प्रदेश, कण्ठ प्रदेश, गला, जीभ का मूल, ऊपर का जबड़ा, तालू, नासिकाग्र, भ्रूमध्य, दो नेत्र और ब्रह्मरन्ध्र। ये सोलह आधार शरीर के मुख्य अंगों के रूप में भी माने गये हैं, जिनके द्वारा शरीर की कार्य प्रणालियाँ संचालित होती हैं। कण्ठ का जो क्षेत्र है, उसका बन्धन जालन्धर बन्ध के द्वारा होता है। कण्ठ एक ऐसा क्षेत्र है जिससे शरीर की सभी नाड़ियाँ सिर में प्रवेश करने के लिए जाती हैं। इस प्रकार पूरे शरीर का सम्बन्ध कण्ठ से रहता है।

शरीर विज्ञान के अनुसार कण्ठ में थायराइड और पैराथायराइड ग्रन्थियाँ हैं। साथ-ही-साथ कण्ठ विशुद्धि चक्र का क्षेत्र है। जब विशुद्धि चक्र पर नियन्त्रण प्राप्त होता है या विशुद्धि चक्र की जागृति होती है, तब कुण्डलिनी योग के अनुसार भी व्यक्ति अमरत्व की अवस्था को प्राप्त करता है। मृत्यु पर

विजय प्राप्त करता है। यहाँ पर मृत्यु का तात्पर्य शारीरिक मृत्यु से नहीं, जिसे हम अन्तकाल में प्राप्त करते हैं, वरन् प्रस्तुत सन्दर्भ में मृत्यु का अर्थ होता है शरीर में होते हुए परिवर्तनों पर नियन्त्रण। कभी-कभी साधना के क्रम में चक्रों की जागृति के पश्चात् ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है कि भौतिक शरीर में भी अमरत्व की अवस्था प्राप्त होती है। भौतिक शरीर का नाश नहीं होता, लेकिन सिद्ध मनुष्यों को ही यह अवस्था प्राप्त होती है।

साधना के विषय में इस मन्त्र में कहा गया है कि छ: माह के निरन्तर अभ्यास के बाद जालन्धर बन्ध सिद्ध हो जाता है और इसकी सफलता में किसी प्रकार का संशय नहीं है। यह प्रश्न उठ सकता है कि केवल गर्दन को दबाने से, ठुड्डी को नीचे करने से किस प्रकार की सिद्धि या किस प्रकार की अवस्था प्राप्त होती है।

यह देखा गया है कि यदि जालन्धर बन्ध का अभ्यास सही ढंग से हो तो केवल कण्ठ क्षेत्र में बन्धन का अनुभव नहीं होता, वरन् मस्तिष्क के भीतर और छाती में भी एक दबाव उत्पन्न होता है। यह दबाव प्राणशक्ति को प्रभावित करता है। योग की मान्यता के अनुसार प्राण ऊर्ध्वगामी शक्ति है, जिसका प्रवाह छाती में ऊपर की ओर होता रहता है। अत: बन्ध के अभ्यास के समय जो दबाव हम अपनी गर्दन और छाती में उत्पन्न करते हैं, वह प्राणशक्ति की ऊर्ध्व गति को अधोगामी बनाता है। अर्थात् प्राणशक्ति की दिशा में परिवर्तन लाता है।

प्राणशक्ति जब नीचे की ओर प्रवाहित होने लगती है और दूसरे बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगती है, तब मणिपुर चक्र में इन दो वायुओं का मिलन होता है और शरीर के इस चक्र-संस्थान में उत्तेजना या जागृति की स्थिति आती है। ठीक इसी प्रकार का दबाव मस्तिष्क की ओर भी बढ़ता है। मस्तिष्क में दबाव के कारण एक उत्तेजनात्मक स्थिति आती है। साथ-ही मस्तिष्क एवं शरीर के अन्य अंगों के बीच रक्त एवं संवेदनाओं का आदान-प्रदान करने वाली नाड़ियाँ भी अवरुद्ध हो जाती हैं। इस बन्धन के पश्चात् सिर में एक जबरदस्त दबाव उत्पन्न होता है।

सामान्य रूप से भी इसका अभ्यास करने पर सिर में दबाव या भारीपन का अनुभव होता है और यह दबाव मध्य मस्तिष्क में आज्ञा चक्र तथा मस्तिष्क के सुषुप्त केन्द्र को उत्तेजित करता है। उनमें क्रिया शक्ति का संचार होता है और वे जाग्रत हो उठते हैं।

कुण्डलिनी योग में जालन्धर बन्ध का अभ्यास विशेष रूप से प्राण की गति को बदलने तथा विशुद्धि, आज्ञा, बिन्दु और सहस्रार चक्रों की जागृति के

लिए किया जाता है। जालन्धर बन्ध का अभ्यास मृत्यु पर विजय दिलाता है। अमरत्व की जो चर्चा की गयी है, वह एक अवस्था में सही प्रमाणित होती है। कुण्डलिनी योग का सिद्धान्त बतलाता है कि बिन्दु चक्र के क्षेत्र में एक हार्मोन उत्पन्न होता है और सामान्य रूप से यह हार्मोन उत्पन्न होने के पश्चात् कण्ठ क्षेत्र से होकर शरीर के भीतर जाता है।

कुण्डलिनी योग के सिद्धान्त के अनुसार यह हार्मोन शरीर को वृद्ध बनाता है। लेकिन योगी इस हार्मोन को मणिपुर तक, अर्थात् पेट के क्षेत्र में नहीं जाने देते, जिस कारण शरीर बूढ़ा नहीं होता और जब शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता, तब मृत्यु भी नहीं आती।

यह सिद्धान्त थोड़ा अस्वाभाविक या कल्पित लग सकता है, लेकिन शरीर विज्ञानियों के मतानुसार बिन्दु के क्षेत्र में मटर के दाने के बराबर एक ग्रन्थि है और यह पाया गया है कि उस ग्रन्थि से वास्तव में कोई हार्मोन उत्पन्न होता है। लेकिन विज्ञान अभी तक यह नहीं जान पाया है कि हमारे शरीर की कार्य प्रणाली के अन्तर्गत उस हार्मोन की क्या क्रिया है। कुछ लोग कहते हैं कि वह पीयुष-ग्रन्थि का ही एक हार्मोन है। कुछ लोग कहते हैं कि वह अलग से शरीर के भीतर उत्पन्न होता है, उसका शरीर की किसी ग्रन्थि से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उस हार्मोन के सम्बन्ध में मतभेद तो अनेक हैं, लेकिन इस बात की जानकारी विज्ञान को है कि बिन्दु के क्षेत्र में एक छोटी-सी ग्रन्थि है, जिससे वह हार्मोन उत्पन्न होता है। यदि योगियों का यह शोध सत्य सिद्ध हो, तो सम्भवतः यह भी मालूम पड़ जायेगा कि उस हार्मोन का सम्बन्ध शरीर के वार्द्धक्य तथा मृत्यु से है। अभी इसमें थोड़ा समय लगेगा।

लाभ– सामान्य रूप से यह माना जाता है कि शरीर का विकास कार्य थायराइड के द्वारा नियन्त्रित होता है। अगर थायराइड ग्रन्थि में किसी प्रकार का विकार या असन्तुलन आ जाये तो शरीर का विकास रुक जाता है, या उसमें कुछ परिवर्तन आ जाते हैं। कुछ लोग थायराइड के असन्तुलन के कारण बौने होते हैं; कुछ लोग मोटे होने लगते हैं, उनका शरीर फूलने लगता है और उस पर उनका नियन्त्रण नहीं रहता। कण्ठ का उद्दीपन थायराइड के कार्यों में सन्तुलन लाने तथा चयापचय को नियमित करने में सहायक होता है। इस बन्ध से श्वास नली बन्द हो जाती है और ग्रीवा में स्थित विभिन्न अंगों पर दबाव पड़ता है। विशेषतः थायराइड ग्रन्थि की मालिश होती तथा उसकी कार्यक्षमता बढ़ती

है। कण्ठ का उद्दीपन थायराइड के कार्यों में सन्तुलन लाने तथा चयापचय को नियमित करने में सहायक होता है।

बच्चों के समुचित शारीरिक विकास के लिए भी जालन्धर बन्ध का निर्देश दिया जाता है। यह बन्ध ग्रीवा शिरानाल पर दबाव डालता है, ये शिरानाल ग्रीवा धमनियों पर स्थित हैं, जो मस्तिष्क को रक्त पहुँचाने वाली मुख्य धमनियाँ हैं। ये शिरानाल रक्त परिसंचरण एवं श्वसन संस्थान का नियमन करने में सहायक होती हैं। सामान्य रूप से शरीर में ऑक्सीजन की कमी और कार्बन-डाय-ऑक्साइड की वृद्धि से हृदय गति बढ़ जाती है और श्वसन क्रिया दुष्कर हो जाती है। यह प्रक्रिया ग्रीवा शिरानाल द्वारा प्रवर्तित होती है। इन शिरानालों पर कृत्रिम रूप से दबाव डालकर इस प्रवृत्ति को रोका जाता है। कुछ समय तक श्वास को रोकने से अकसमात् बढ़ने वाला रक्तचाप बढ़ने नहीं पाता, इससे स्वाभावत: अधिक देर तक कुम्भक लगाया जा सकता है।

सावधानियाँ–सरवाइकल स्पॉण्डिलाइटिस, उच्च अन्त: कपालीय दबाव, भ्रमि, उच्च रक्तचाप तथा हृदय रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों को जालन्धर बन्ध का अभ्यास नहीं करना चाहिए। यद्यपि यह रक्तचाप घटाता है, किन्तु श्वास को अधिक देर तक रोकने से हृदय पर दबाव पड़ता है और बन्ध खोलने के बाद हृदय में घबराहट उत्पन्न होने लगती है।

टिप्पणी–जालन्धर बन्ध लगाये रखते हुए किसी भी हालत में पूरक या रेचक न करें, जब तक ठुड्डी को उठाकर एवं भुजाओं को शिथिल कर सिर को पूरा सीधा न कर लें। यदि घुटन का अनुभव हो तो तुरन्त अभ्यास रोक दें और विश्राम करें। जब यह संवेदना समाप्त हो जाए तो पुन: अभ्यास आरम्भ करें।

3. उड्डियान बन्ध

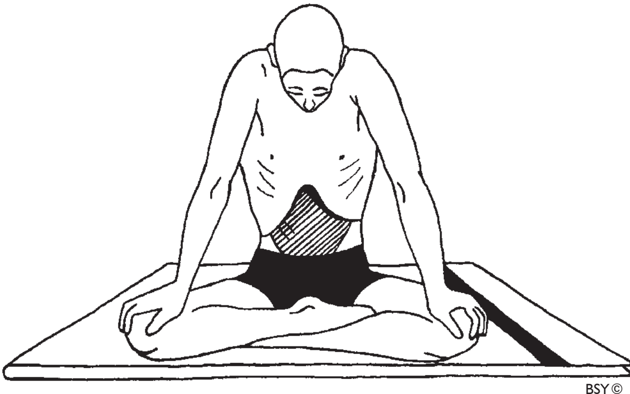
उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ॥12॥
समग्राद् बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते ।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिःस्वाभाविकी भवेत् ॥13॥

अर्थ

नाभि के ऊपर के उदर को पीठ की ओर समभाव में सिकोड़ें, जिसके परिणामस्वरूप महाखग (प्राण) ऊपर उठता है। इसे उड्डियान बन्ध कहते हैं। यह मृत्यु रूपी गज के लिए सिंह के समान है। सभी बन्धों में उड्डियान बन्ध प्रमुख है। इसके अभ्यास से सहज ही मोक्ष मिल जाता है ॥12-13॥

व्याख्या

विधि– पद्मासन, सिद्धासन या सिद्धयोनि आसन में बैठते हैं। मेरुदण्ड सीधा रहे और घुटने जमीन को छूते रहें। हथेलियों को घुटनों के ऊपर रखते हैं। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनाते हैं। नासिकाओं से गहरी श्वास अन्दर लेते हैं। मुँह से श्वास छोड़ते हुए फेफड़ों को यथासम्भव खाली करते हैं। श्वास को बाहर रोक कर कन्धों को ऊपर उठाते हैं, जिससे मेरुदण्ड का विस्तार होता है।



हथेलियों से घुटनों पर दबाव डालते हुए केहुनियों को सीधा करते हैं। साथ ही जालन्धर बन्ध लगाते हैं। उदर प्रदेश की मांसपेशियों को संकुचित करके नाभि को भीतर की ओर ले जाते हैं। जब तक बिना जोर लगाये कुम्भक कर सकते हैं, तब तक इस स्थिति में रहते हैं। फिर उदर की मांसपेशियों को ढीला कर केहुनियों को मोड़ते और कन्धों को नीचे लाते हैं। सिर को ऊपर उठाकर धीरे-से श्वास अन्दर लेते हैं। जब श्वास सामान्य हो जाए तो दूसरी आवृत्ति करते हैं।

सामान्य रूप से जब इसकी शिक्षा दी जाती है, तब बतलाया जाता है कि पहले पेट की मांसपेशियों को लचीला बनाने और उन पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए अग्निसार क्रिया का अभ्यास होना चाहिए, क्योंकि पहली ही बार में कोई व्यक्ति सही प्रकार से उड्डियान बन्ध का अभ्यास नहीं कर सकता। जब तक उदर की मांसपेशियों पर नियन्त्रण नहीं होता, तब तक उड्डियान का अभ्यास सम्भव नहीं है, क्योंकि इस क्रिया में मांसपेशियों को अन्दर खींचकर सभी आन्तरिक अंगों को अपने स्थान से हटा दिया जाता है, चाहे आँतें हों, चाहे यकृत हो, चाहे मूत्राशय हो, या आमाशय हो। छाती और पेट के बीच एक झिल्ली होती है, जिसे मध्यपट कहते हैं। यह झिल्ली या परत फेफड़ों और पेट के बीच विभाजन को बनाये रखती है, उन्हें अलग किये रहती है। अत: इसमें मुख्य अभ्यास है मध्यपट या उस झिल्ली पर नियन्त्रण का, क्योंकि जब हम उस झिल्ली को ऊपर की ओर खींचते हैं, तब पेट स्वत: ऊपर की ओर उठ जाता है।

उड्डियान बन्ध का अभ्यास केवल पेट को अन्दर खींचना नहीं है। इसमें पेट को अन्दर खींचने के साथ ऊपर खींचा जाता है। यदि पेट को अन्दर खींचेंगे तो पायेंगे कि नाभि अधिक अन्दर नहीं जाती। जितनी क्षमता होगी, उतनी ही जायेगी। लेकिन अन्दर करने के बाद जब नाभि को ऊपर खींचेंगे, तब उसे अन्दर जाने के लिये थोड़ा और स्थान मिल जायेगा। यह उड्डियान बन्ध की अवस्था है।

श्वसन– इस बन्ध का अभ्यास केवल बहिर्कुम्भक के साथ किया जाता है।

अवधि– प्रारम्भ में 3 आवृत्ति अभ्यास करें और क्रमश: बढ़ाते हुए, कुछ महीनों में जब शरीर इसका अभ्यस्त हो जाए, तो 10 आवृत्ति तक कर सकते हैं।

क्रम– यदि उड्डियान बन्ध लगाने के पूर्व शरीर को विपरीत करने वाला कोई आसन किया जाए, तो इसके अभ्यास में सुविधा होती है। इस बन्ध को प्राणायाम और मुद्राओं के साथ भी किया जा सकता है।

सावधानियाँ– वृहदान्त्रशोथ, आमाशय या आन्त्र व्रण, मध्यच्छद हर्निया, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, ग्लूकोमा तथा उच्च अन्त: कापालीय दबाव से ग्रस्त लोगों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। गर्भवती महिलाओं के लिए भी इसका अभ्यास वर्जित है, किन्तु प्रसव के पश्चात् पेट की मांसपेशियों को सशक्त बनाने तथा पेट को पूर्वाकार में लाने हेतु इसका अभ्यास अवश्य करें।

लाभ– सोलह आधारों में से एक आधार, नाभि क्षेत्र का बन्धन इस अभ्यास में होता है। इसका सम्बन्ध पाचन-संस्थान से रहता है। इससे आमाशय के अंगों की मालिश होती है। इस क्रिया में आमाशय को स्पंज के समान निचोड़ना होता है, जिससे जमा हुआ और रुका हुआ रक्त फिर से प्रवाहित होने लगता है। फलस्वरूप इसके सभी अंग क्रियाशील होने लगते हैं। यह पाचन प्रक्रिया को ठीक करता है। यदि पाचन तन्त्र सही प्रकार से कार्य कर रहा हो, तो शरीर के भीतर विकार उत्पन्न नहीं होंगे। विकारों के कारण ही शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं। यह भी कहा गया है कि पाचन-संस्थान सम्बन्धी रोगों को समाप्त करने के लिए इससे बढ़कर दूसरा कोई अभ्यास नहीं है।

अधिवृक्क ग्रन्थियाँ व्यवस्थित रूप से कार्यरत होकर शक्तिहीन स्नायुओं को शक्ति प्रदान करती हैं। इससे नाभि केन्द्र की कार्य प्रणाली भी सामान्य हो जाती है। उड्डियान बन्ध की अन्तिम अवस्था में मध्यपट के ऊपर उठने से फेफड़ों पर दबाव पड़ता है, जिससे श्वसन संस्थान के सभी अंगों की मालिश होती है एवं फेफड़ों की कार्य क्षमता बढ़ती है। साथ-ही हृदय की भी मालिश होती और उसकी भी कार्यक्षमता बढ़ती है। आलस्य दूर होता है तथा चिन्ता एवं तनाव से राहत मिलती है। यह पूरे धड़ में रक्त परिसंचरण बढ़ाता और सभी आन्तरिक अंगों को पुष्ट बनाता है। उड्डियान बन्ध सौर जालक को उद्दीप्त करता है। यह जालक पूरे शरीर में ऊर्जा के वितरण पर सूक्ष्म प्रभाव डालता है। यह अभ्यास चूषण-दबाव उत्पन्न करता है, जिससे उप-प्राणों, अपान एवं प्राण के प्रवाह की दिशा बदल जाती है, वे समान के साथ मिल कर एक हो जाते हैं और मणिपुर चक्र में जागृति आती है। उड्डियान बन्ध प्राण के प्रवाह को सुषुम्ना नाड़ी की ओर प्रेरित करता है, जिसके कारण सजगता बढ़ती है तथा ध्यानावस्था प्राप्त होती है।

महर्षि घेरण्ड यह भी कहते हैं कि सभी बन्धों में उड्डियान बन्ध सर्वोत्तम है। इस क्रिया के द्वारा स्वाभाविक रूप से मुक्ति मिलती है। इस विचारधारा को समझने के लिए पुन: कुण्डलिनी योग का सहारा लेना पड़ेगा। संक्षेप में, पहले

वर्णन किया गया है कि जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है और ऊपर की ओर बढ़ती है, तब भी उसके फिर से सुषुप्त अवस्था में जाने की सम्भावना भी रहती है। फिर से मनुष्य का पतन हो सकता है। लेकिन एक बार यदि कुण्डलिनी मणिपुर चक्र को पार कर जाए, तो फिर मनुष्य का पतन नहीं होता।

अत: मणिपुर चक्र को पार करना, मोक्ष के द्वार खोलना है, मोक्ष की ओर बढ़ते कदमों को निर्बाध करना है। इसी कारण कहा गया है कि उड्डियान बन्ध के अभ्यास के द्वारा मणिपुर चक्र जाग्रत होता और मुक्ति मिलती है, क्योंकि हम उस अवस्था को पार कर जाते हैं जिससे पुन: नीचे गिरने की सम्भावना रहती है।

टिप्पणी–उड्डियान बन्ध का अभ्यास सदैव खाली पेट करना चाहिए। प्रारम्भिक अवस्था में उड्डियान बन्ध का अभ्यास न करके अग्निसार क्रिया का ही अभ्यास करना चाहिए और जब उड्डियान बन्ध लगने लगे, तब जितनी देर तक आप श्वास बाहर रोक सकते हैं, उतनी देर तक उसका अभ्यास होना चाहिए। अत: इस अभ्यास के लिए प्राणायाम का सिद्ध होना भी आवश्यक है, क्योंकि सामान्य रूप से हम श्वास को बाहर पन्द्रह-बीस सेकण्ड से अधिक नहीं रोक पाते। अन्दर में बेचैनी होने लगती है। जब श्वास को चार-पाँच मिनट रोकने की क्षमता प्राप्त हो जाए, तब यह अभ्यास सिद्ध होता है।

4. महाबन्ध

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥14॥
शनकैश्चालयेत्पार्ष्णि योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जालन्धरे धरेत्प्राणं महाबन्धो निगद्यते ॥15॥
महाबन्धः परो बन्धो जरामरण नाशनः ।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्ववाञ्छितम् ॥16॥

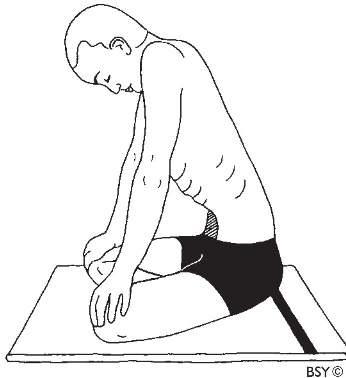
अर्थ

बायें पाँव की एड़ी से पायुमूल को निरुद्ध करके दायें पाँव से प्रयत्नपूर्वक बायीं एड़ी को दबायें और शनैः शनैः गुह्यदेश का चालन करें और फिर शनैः शनैः ही संकुचित करें तथा जालन्धर बन्ध द्वारा प्राणवायु को धारण करें। इसे महाबन्ध कहते हैं। यह महाबन्ध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ तथा जरा-मरण-नाशक है। इस बन्ध के प्रसाद से सभी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं ॥14-16॥

व्याख्या

महाबन्ध का अभ्यास तीनों बन्धों का मिश्रण है। इसमें मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध, तीनों एक साथ लगते हैं।

विधि–इसका अभ्यास करने के लिए सबसे पहले ध्यान के किसी आसन में बैठ जाना चाहिए। मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए, दोनों हाथों को घुटनों पर



रखकर नाक से श्वास अन्दर लेनी है और फिर श्वास को बाहर छोड़ देना है। जब छाती पूर्ण रूप से खाली हो जाये तब श्वास को बाहर ही रोक कर क्रम से जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध और मूलबन्ध का अभ्यास करना है। जब तक आप श्वास को बाहर रोक सकते हैं, तब तक तीनों बन्ध लगे रहेंगे। इस अभ्यास में बाह्य कुम्भक, अर्थात् श्वास को बाहर रोकने का महत्त्व है, जितनी देर आप श्वास को बाहर रोक पायेंगे, उतना ही अच्छा अभ्यास होगा। साथ-ही-साथ अपनी चेतना को बन्ध द्वारा प्रभावित चक्रों में ले जाते हैं और उनका नाम मानसिक रूप से लेते हैं।

सबसे पहले अपनी चेतना को मूलाधार में ले जाकर मानसिक रूप से मूलाधार बोलते हैं, कुछ क्षणों तक मूलाधार के प्रति सजग रहते हैं, फिर चेतना को मणिपुर में ले जाकर मणिपुर बोलते हैं, अन्त में विशुद्धि में ले जाकर विशुद्धि बोलते हैं। इसके बाद चेतना को नीचे ले आते हैं और पुन: यही चक्र चलता है, मूलाधार-मणिपुर-विशुद्धि। जब देखते हैं कि श्वास को अब अधिक रोक पाना सम्भव नहीं है, तब सबसे पहले मूलबन्ध को छोड़ते हैं, फिर उड्डियान बन्ध को और उसके बाद जालन्धर बन्ध को छोड़ते हैं, तत्पश्चात् गहरी श्वास लेकर कुछ समय तक सामान्य श्वास लेते हैं, जब तक श्वसन-प्रक्रिया सामान्य न हो जाये। यह महाबन्ध का एक चक्र है।

प्रारम्भ में यह अभ्यास कठिन लगता है, लेकिन धीरे-धीरे जब बाह्य कुम्भक की अवधि बढ़ेगी, तब इस अभ्यास को करने में सरलता और आनन्द का अनुभव होगा।

अवधि– जब इस अभ्यास में दक्षता प्राप्त हो जाए, केवल तभी एक-एक चक्र अभ्यास बढ़ाते जाएँ, जब तक 9 चक्र तक अभ्यास करने में सक्षम न हो जाएँ।

सावधानियाँ– जब तक अन्य तीन बन्धों का अभ्यास सिद्ध न हो जाए, महाबन्ध का अभ्यास न करें। ऐसे लोगों को महाबन्ध का अभ्यास नहीं करना चाहिए, जिन्हें उच्च या निम्न रक्तचाप, दिल की बीमारी, हर्निया, आमाशय या आन्त्र व्रण हो या जो किसी आन्त्र रोग से स्वास्थ्य लाभ कर रहे हों, या जिन्हें चक्कर आते हों। गर्भवती महिलाओं के लिए भी यह अभ्यास वर्जित है। पुन: इस बात को दुहराया जा रहा है कि बिना निर्देश के इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– यह अभ्यास चक्रों के जागरण के लिए महत्त्वपूर्ण है। विशेषकर मूलाधार, मणिपुर और विशुद्धि के जागरण के लिए। इसके शारीरिक और

मानसिक लाभ मूल बन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध से प्राप्त होने वाले लाभ ही हैं।

यह पीनियल ग्रन्थि से रसों के स्राव को प्रभावित करता तथा सम्पूर्ण अन्त:स्रावी तन्त्र का नियमन करता है। क्षय, ह्रास, एवं वार्द्धक्य की प्रक्रियाएँ रुक जाती हैं तथा शरीर की प्रत्येक कोशिका में नवजीवन का संचार होता है।

यह क्रोध का नाश कर, मन को अन्तर्मुखी बनाकर ध्यान के लिए तैयार करता है। जब यह अभ्यास सिद्ध हो जाता है, तब यह सभी मुख्य चक्रों में प्राण को जाग्रत कर सकता है। यह अग्नि मण्डल में प्राण, अपान एवं समान के विलयन का, जो कि सभी प्राणायामों की अन्तिम परिणति है, मार्ग प्रशस्त करता है।

पञ्च धारणा

एकाग्रता के पाँच अभ्यास

मुद्रा का शारीरिक और चित्त के विशेष भाव के रूप में वर्णन किया गया है जिसका मन, शरीर, भावनाओं और प्राण पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जब नियमित रूप से इनका अभ्यास किया जाता है तब मुद्राओं का भावनाओं पर गहन प्रभाव पड़ता है। ये आध्यात्मिक जागरण के उपकरण भी है। मुद्रा के सामान्य वर्गिकरण में महर्षि घेरण्ड ने बन्धों और धारणाओं को सम्मिलित किया है। जैसा कि पहले चर्चा की गयी है कि बन्ध एक विशेष प्रकार का बन्ध लगाने वाली मुद्रा है। पाँच धारणाओं के अभ्यास में वे एकाग्रता और प्राण के बन्ध तथा सजगता को एक विशेष बिन्दु अथवा गुण पर एकाग्र करने के लिए भौतिक उपकरण के स्थान पर चित्त को भि सम्मिलित करते हैं।

महर्षि घेरण्ड ने इन पाँच धारणाओं का वर्णन मुद्रा के वर्गिकरण में किया है, परन्तु वास्तवमें वे कुण्डलिनी योग के एक मूल सिद्धान्त का वर्णन कर रहे हैं। धरणा एक उच्च कोटि का अभ्यास है और कुण्डलिनी योग के परम्परा अनुसार मात्र साधारण दृष्टिकोण से उसके लिए मंत्रों एवं यंत्रों के प्रयोग का कुछ ज्ञान होना आवश्यक है। व्यक्ति को अपनी चेतना को भी तैयार करना होगा। परम्परानुसार इन तकनिकों का प्रयोग वास्तवमें शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास में कुछ दक्षता प्राप्त करने के पश्चात ही किया जा सकता है, जैसा कि आगे देखेंगे।

1. पार्थिवी धारणा

यत्तत्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं,
वेदास्त्रं कमलासनेनसहितं कृत्वा हृदिस्थापितम् ।
प्राणंत्रय विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितां धारयेत् ।
ऐषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥17॥
पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति तु नित्यशः।
मृत्युंजयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ॥18॥

अर्थ

पृथ्वी तत्त्व का वर्ण हरताल के समान, 'लं' बीज, वर्ग आकार और ब्रह्म देवता हैं। इसको योग बल से प्रकट कर हृदय में धारण करें तथा पाँच घड़ी पर्यन्त प्राण का निरोध (कुम्भक) करें। यह पार्थिवी मुद्रा अथवा अधोधारणा मुद्रा कहलाती है। इसके सिद्ध होने पर साधक पृथ्वी को विजय करने वाला होता है। इस पृथ्वी धारणा को करने वाला साधक मृत्युंजय और सिद्ध होकर पृथ्वी में विचरण करता है ॥17-18॥

व्याख्या

विधि– इसके पहले मन्त्र में कहा गया है कि पृथ्वी तत्त्व का रंग 'हरताल' (गन्धक और संखिया से बना रसायन) के समान पीला है और वह वर्गाकार है। उसके सब छोर समान हैं। उसको हृदय में, अर्थात् अन्तःकरण में धारण करना है और उसी में उसके बीज मन्त्र 'लं' का ख्याल करना है।

लेकिन इसको हम कुण्डलिनी योग के आधार पर समझाने का प्रयास करेंगे। मूलाधार चक्र, जो कि पृथ्वी तत्त्व का प्रतीक है, चार दलों वाला कमल का फूल है। इन चार दलों पर चार मन्त्र लिखे गये हैं वं, शं, सं, षं और बीच में पीले रंग की एक वर्गाकृति है, जिसे पृथ्वी तत्त्व का यन्त्र या प्रतीक माना गया है। इस पीले रंग के वर्ग के भीतर एक अधोमुखी त्रिकोण है। अधोमुखी त्रिकोण के बीच में एक शिवलिंग है, जिसको हम लोग स्वयंभू लिंग कहते हैं। इस लिंग के चारों तरफ कुण्डलिनी सर्प के आकार में साढ़े तीन चक्कर मारे पड़ी है। यह मूलाधार चक्र का वर्णन है।

पृथ्वी तत्त्व या पार्थिवी धारणा का अभ्यास ध्यान और धारणा के माध्यम से मूलाधार चक्र को जाग्रत करने का प्रयास है। यहाँ पर कहा गया है कि मूलाधार चक्र के इष्ट देवता ब्रह्मा हैं, जिनका कार्य सृष्टि करना है। पृथ्वी तत्त्व से सृष्टि का क्रम प्रारम्भ होता है। चाहे वनस्पति हो, या पर्वत हो या पत्थर हो या पशु हो, या पक्षी हो या मनुष्य हो सबकी उत्पत्ति पृथ्वी तत्त्व से होती है। इनका आधार पृथ्वी तत्त्व ही है और ब्रह्मा इष्ट देवता हैं। एक देवी भी हैं, त्वचा की देवी, स्पर्श की अनुभूति की देवी, जिसका नाम है 'डाकिनी'। ब्रह्मा और डाकिनी मूलाधार चक्र के नियन्त्रक हैं। अभ्यास के समय अपने हृदय में पृथ्वी तत्त्व की कल्पना या पृथ्वी तत्त्व में एकाग्रता का निर्देश दिया जाता है। यहाँ पर हृदय का तात्पर्य दिल से नहीं, वरन् अन्तःकरण से है।

पृथ्वी तत्त्व के यन्त्र का बीच मन्त्र 'लं' है। ध्यान के समय इस यन्त्र को लकार अर्थात् बीज मन्त्र के साथ अपनी चेतना में धारण करना है और इस पर पाँच घड़ी, अर्थात् लगभग दो घण्टों तक धारणा का अभ्यास करना है।

धारणा का अभ्यास करते समय इसकी विशेषता और लय पर भी ध्यान देना है। यह निर्देश भी दिया जाता है कि पूरक करके, अर्थात् श्वास को अन्दर लेकर, अन्दर ही रोक कर इस धारणा का अभ्यास किया जाये। इसमें प्राण का निरोध करना है, अर्थात् श्वास को भीतर रोकना है।

इस मन्त्र में यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति इस अभ्यास को सिद्ध कर लेता है वह पृथ्वी तत्त्व पर, उसके गुणों और अवगुणों पर विजय प्राप्त करता है। याद रखिये, यह अभ्यास एक दिन में सिद्ध नहीं होता। योगी सालों तक लगातार एक ही अभ्यास करते रहते हैं, तब कहीं उसमें पूर्णता या सिद्धि की प्राप्ति होती है। यहाँ पर जो विधि बतायी गयी है, वह तो औपचारिक विधि है, अन्तिम अवस्था है। यह तो सम्भव नहीं कि कोई व्यक्ति पहले ही दिन श्वास को खींचकर अन्दर रोक ले। दो घण्टे तक श्वास अन्दर रोकने के लिए अभ्यास के पूर्व प्राणायाम की सिद्धि आवश्यक है।

तैयारी–जब तक प्राणायाम की सिद्धि नहीं होती, किसी प्रकार की धारणा का अभ्यास पूर्ण नहीं होता। इसलिए हम प्रारम्भ में उज्जायी श्वसन सिखलाते हैं श्वास को मूलाधार से कण्ठ के बीच मेरुदण्ड में चढ़ते-उतरते देखते हैं। प्रारम्भ में यही उद्देश्य रहता है कि धीरे-धीरे श्वास पर नियन्त्रण हो जाये। फिर श्वास को एक मिनट तक रोकने का अभ्यास किया जाता है।

तीन-चार महीनों के बाद श्वास को तीन-चार मिनट तक रोका जाता है। इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके शरीर की क्षमता को बढ़ाया जाता है और अन्त में प्राप्ति हो सकती है।

सावधानियाँ–योग में यह मान्यता है कि एक साधना, एक अभ्यास को सिद्ध करने के लिए सम्भवतः एक जीवन पर्याप्त नहीं है। यदि आप अपने साथ जबरदस्ती करेंगे, तो उत्तरदायित्व आपका रहेगा, योग का नहीं और न ही शिक्षक का। धीरे-धीरे इसका अभ्यास करना चाहिए।

लाभ–यह कहा जाता है कि पृथ्वी धारणा को सिद्ध करने वाले साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर, पृथ्वी तत्त्व के सभी गुणों पर विजय प्राप्त कर पृथ्वी पर निश्चिन्त विचरण करते हैं। योगतत्त्वोपनिषद् में भी इस धारणा के विषय में कहा गया है कि जो इसके अभ्यास को सिद्ध कर लेता है वह पृथ्वी तत्त्व के गुणों एवं अवगुणों पर विजय प्राप्त करता है।

2. आम्भसी धारणा

शंखेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं ।
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पंच घटिकाश्चित्तान्वितां धारयेत् ।
एषादु:सहतापपापहरिणीस्यादाम्भसीधारणा ॥19॥
आम्भसीं परमां मुद्रा यो जानाति स योगवित् ।
जले च घोरे गंभीरे मरणं तस्यनोभवेत् ॥20॥
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः।
प्रकाशात्सिद्धिहानि:स्यात्सत्यं वच्मि च तत्त्वत: ॥21॥

अर्थ

शंख, चन्द्र या कुन्द के समान शुभ्र वर्ण का जल होता है। इसका बीज मन्त्र वकार या 'वं' और देवता विष्णु हैं। इस तत्त्व धारणा को हृदय में धारण करके एकाग्रचित्त हो पाँच घड़ी तक कुम्भक द्वारा प्राण को धारण करें। यह आम्भसी धारणा नामक मुद्रा है। चिन्तामुक्त होकर, वायु को अन्दर खींचकर पाँच घड़ी तक कुम्भक लगायें और जल तत्त्व पर ध्यान करें। जल तत्त्व के गुणों, अवगुणों, यन्त्र और प्रतीक पर ध्यान करें। इस धारणा द्वारा मनुष्य के सभी दु:ख, ताप और पाप नष्ट होते हैं, अर्थात् भीतर की गरमी और आन्तरिक उत्तेजना समाप्त हो जाती है। इस अभ्यास को करने से गहरे पानी में डूबने पर भी मनुष्य को हानि नहीं पहुँचती। यह एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है, और इसे गोपनीय रखना आवश्यक है। अगर साधक इस विधि का वर्णन दूसरों को करता है अथवा इस विद्या को प्रकट करता है, तो उसकी सिद्धि नष्ट हो जाती है। यह मैं सत्य कहता हूँ ॥19-21॥

व्याख्या

कुण्डलिनी योग के अनुसार स्वाधिष्ठान चक्र जल तत्त्व का प्रतीक है। इस चक्र का वाहन मगर है, जो जल के देवता वरुण का वाहन माना गया है। इस चक्र का प्रतीक है एक अर्द्धचन्द्र आकृति और अर्द्धचन्द्र के ऊपर सागर तथा सागर के ऊपर रात्रि का आसमान, जिसमें पुनः एक छोटा-सा चन्द्रमा और

तारे हैं और इस चन्द्रमा का प्रकाश समुद्र के जल को प्रकाशित कर रहा है। इसका बीज मन्त्र 'वं' है।

यह देखा गया है कि स्वाधिष्ठान चक्र मनुष्य की अचेतन अवस्था का प्रतीक है। योग में वर्णन किया गया है कि अचेतन मन सागर की तरह व्यापक, विशाल और गहरा है, जिसकी थाह कोई नहीं ले पाया है। सागर के ऊपर रात्रि के आसमान का प्रकाश ज्ञान या विवेक की किरण या बोध का प्रकाश नहीं है। प्रतीक में सागर के ऊपर एक छोटे-से चन्द्रमा का रूप दिखाया गया है। आसमान में तारों के साथ चन्द्रमा मन:शक्ति का प्रतीक माना गया है। यह मन:शक्ति या चित्तशक्ति अचेतन अवस्था को प्रकाशित करती है। यदि चित्तशक्ति न हो, तो मनुष्य अचेतन अवस्था में ही खो जायेगा। इस अर्द्ध चन्द्र के ऊपर 'वं' मन्त्र अंकित है। इन दोनों को हृदय में धारण करके पाँच घड़ी अर्थात् दो घण्टे तक श्वास को अन्दर रोकना है।

योग शास्त्र के अनुसार संस्कार और कर्म अचेतन मन में प्रबल रूप से उत्पन्न होते हैं। यह इनका कर्मक्षेत्र है। यही इनका उत्पत्ति स्थान है। यही इनका भण्डार भी है। जब जिस चीज की आवश्यकता पड़ती है, तब वह चेतन अवस्था में आती है। जब कर्म और संस्कार भीतर में प्रबल रूप से उत्पन्न होते हैं और साधक के जीवन को धराशायी कर देते हैं, उसे विक्षिप्त बना देते हैं, उसके जीवन में संयम का अभाव कर देते हैं, तब इस धारणा का अभ्यास किया जाता है। इस धारणा का अभ्यास हर समय नहीं किया जाता।

इस धारणा का अभ्यास करने के पूर्व आवश्यक है कि हम चित्त की चेतन वृत्तियों को शान्त करें। चेतन अवस्था में जो विचार, भावनायें एवं वृत्तियाँ अपना खेल दिखाती हैं, प्रकट होती हैं, उन्हें पहले समझें, उन्हें पहले शान्त करें, उसके बाद अवचेतन को समझने का प्रयास करें। अवचेतन मानसिक अवस्था में क्या मानसिक क्रियायें-प्रतिक्रियायें होती हैं, उन्हें जान लें और जब चेतन एवं अवचेतन पूर्ण रूप से शुद्ध हो जायें या हमारे नियन्त्रण में आ जायें, केवल संस्कार और कर्म शेष रहे जायें, तभी स्वाधिष्ठान चक्र पर धारणा का अभ्यास किया जाता है।

योग सूत्रों में भी इसका संकेत मिलता है। निर्बीज अवस्था को प्राप्त करने के लिए इस धारणा का अभ्यास किया जाता है। अर्थात् जब आप सही प्रकार से अपनी वृत्तियों पर, अपने मन, बुद्धि और चित्त पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं, संयम को प्राप्त कर लेते हैं, तब अन्त में केवल संस्कार बचते हैं। संस्कारों

को भी जब हम क्षय करने लगते हैं, निर्मूल बनाने लगते हैं, तब जल तत्त्व की धारणा, आम्भसी धारणा अपने आप ही होती है।

महर्षि घेरण्ड ने पंचधारणा का वर्णन मुद्रा के अन्तर्गत किया है, लेकिन वास्तव में वे यहाँ पर कुण्डलिनी योग के सिद्धान्त को समझा रहे हैं।

इस धारणा के देवता विष्णु हैं। विष्णु का कार्य होता है पालन करना। व्यक्तित्व का पालन-पोषण किसके द्वारा होता है? संस्कार और कर्म के ही द्वारा होता है। अत: संस्कार और कर्म, जिनके द्वारा हमारे व्यक्तित्व का, हमारे जीवन का पालन-पोषण होता या निर्धारण होता है, विष्णु तत्त्व है। इसलिए विष्णु को इसका अधिष्ठाता माना गया है।

3. आग्नेयी-मुद्रा (अग्नि धारणा)

यन्नभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं,
तत्त्वं वह्निमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम् ।
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारयत्
एषा कालगभीरभीतिहरिणी वैश्वानरी धारणा ॥22॥
प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः ।
एतन्मुद्रा प्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥23॥

अर्थ

अग्नि का क्षेत्र नाभि स्थान है। इसका रंग लाल है। इसका यन्त्र त्रिकोण है। मन्त्र 'रं' और देवता रुद्र हैं। यह अग्नि तत्त्व तेजपुंज युक्त, दीप्तियुक्त और सिद्धिदायक है। इसे योग-बल से आविर्भूत कर एकाग्रचित्त से पाँच घड़ी कुम्भक द्वारा प्राण-धारण करें। यह आग्नेयी धारणा कहलाती है। इसके अभ्यास से काल का भय नहीं रहता और अग्नि से किसी प्रकार की हानि नहीं होती। इसे वैश्वानरी धारणा कहते हैं। यदि साधक अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि में भी जा पड़े, तो इस मुद्रा के प्रभाव से मर नहीं सकता ॥22-23॥

व्याख्या

धारणा के जितने अभ्यासों का वर्णन यहाँ किया गया है, उनमें एक समानता है। इन सभी अभ्यासों में पूरक के पश्चात् पाँच घड़ी तक कुम्भक करने, अर्थात् श्वास बाहर रोकने का निर्देश दिया गया है। किन्तु इसके लिए प्राणायाम की सिद्धि आवश्यक है।

कुण्डलिनी योग के अनुसार मणिपुर चक्र अग्नि तत्त्व का प्रतीक है। मणिपुर चक्र का यन्त्र अधोमुखी लाल त्रिकोण है, जिसके बीच में सूर्य का चित्र है। इसका वाहन मेष है। मणिपुर चक्र वास्तव में प्राण का या शक्ति का केन्द्र माना गया है। स्थूल रूप में भी जब हम भोजन ग्रहण करते हैं, तो पाचन कार्य का सम्पादन मणिपुर क्षेत्र में होता है। सूक्ष्म अवस्था में भी प्राणोत्थान या प्राण के शुद्धिकरण की अवस्था मणिपुर चक्र की जागृति के साथ आती है। यह चक्र हमारे व्यक्तित्व की क्रियाशीलता के लिए उत्तरदायी है। जीवनी

शक्ति, गति, क्रियाशीलता और इनके विपरीत गुण, जैसे, आलस्य, प्रमाद, शिथिलता इत्यादि मणिपुर चक्र के गुण-अवगुण हैं।

अग्नि धारणा का अभ्यास हृदय या अन्त:करण में करना है। जब यह अभ्यास सिद्ध होता है तब काल का भय नहीं रहता, अग्नि तत्त्व की सिद्धि प्राप्त होती है। इसे वैश्वानर-धारणा भी कहते हैं। यदि साधक अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि में भी घुस पड़े तो भी अग्नि उसकी हानि नहीं करती और साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है।

कुण्डलिनी योग में मान्यता है कि शरीर के भीतर प्राण के तीन मुख्य केन्द्र होते हैं। पहला केन्द्र है मूलाधार, जहाँ पर प्राण की उत्पत्ति होती है। दूसरा केन्द्र है मणिपुर, जहाँ पर प्राण को संचित किया जाता है और तीसरा केन्द्र है आज्ञा चक्र, जहाँ पर प्राण का वितरण होता है। योग में एक विद्या है, जिसका नाम है प्राण विद्या, यही सिद्धान्त प्राणविद्या की सिद्धि में अपनाया जाता है। प्राण विद्या प्राणिक उपचार पद्धति है। यदि शरीर का कोई अंग व्याधि से पीड़ित हो तो केवल प्राण के संचार से ही उस अंग को स्वास्थ्य प्रदान किया जाता है।

प्राण विद्या के प्रयोग में प्राण के माध्यम से प्राण को भेदकर प्राण संचार द्वारा उपचार किया जाता है। आजकल इसके ज्ञाता तो बहुत नहीं रहे, लेकिन सामान्य रोग में भी अगर स्वयं पर प्रयोग किया जाये तो व्यक्ति इसका लाभ स्वयं अनुभव कर सकता है। इस क्रिया में प्राण का आभास शरीर के भीतर विद्युत धारा के रूप में होता है। ऐसा आभास होता है जैसे यह विद्युत धारा के रूप में पूरे शरीर में दौड़ रहा है। इसी प्राण को साधक मूलाधार से आज्ञा चक्र में लाते हैं और जब प्राण आज्ञा चक्र में केन्द्रित हो जाते हैं, तब सिर में भारीपन का अनुभव होता है, झुनझुनी शुरू हो जाती है और जब श्वास के माध्यम से शरीर के अन्य अंगों में इसका वितरण करते हैं तब ऐसा लगता है कि वास्तव में एक झुनझुनी मस्तिष्क से हाथ या पैर की ओर जा रही है। अन्त में कहा जाता है कि जिस प्राण का अनुभव हो रहा है, उसे मणिपुर में लाकर छोड़ दो। इस प्रकार मणिपुर चक्र को प्राण का संचय केन्द्र माना गया है।

इस ऊर्जा या शक्ति का प्रतीक सूर्य देवता है। इष्ट रुद्र हैं शिव के रूप में हैं, लेकिन रुद्र का मतलब होता है रौद्र रूप धारण करने वाला। प्राणशक्ति जब तक हमारे नियन्त्रण में न हो तब तक उसका रूप रौद्र रहता है। बहुत-से लोग

जब अपने भीतर प्राण को जाग्रत करते हैं, तब यह शक्ति एक प्रचण्ड अग्नि का रूप ले लेती है और शरीर को जला देती है। ऐसी अनेक घटनायें हुई हैं कि व्यक्ति मेज पर बैठकर कुछ लिख रहा है, आप भी उस कमरे में हैं, आप थोड़ी देर के लिए कमरा छोड़ कर चले गये और दस मिनट बाद वापस आते हैं तो वह व्यक्ति दिखलायी नहीं देता। कमरे में जलने की गन्ध आती है। कुर्सी पर राख पड़ी दिखती है। कागज नहीं जला, कुर्सी नहीं जली, शरीर ही भस्म हुआ है, दूसरा कोई पदार्थ उससे प्रभावित नहीं हुआ।

ऐसे भी दस्तावेज मिले हैं, जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि प्राण हमारे शरीर के भीतर एक प्रचण्ड ऊर्जा के रूप में है और जब चेतना के द्वारा प्राण पर नियन्त्रण प्राप्त होता है, तब यह प्राण हमारे नियन्त्रण में होकर हमें सभी प्रकार की सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्रदान करता है। यदि यह अनियन्त्रित हो जाये तो व्यक्ति स्वयं के लिए ही भस्मासुर बन जाता है।

4. वायवीय धारणा (वायु धारणा)

यद्भिन्नांजनपुंजसंनिभमिदं धूम्रावभासं परं,
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकाश्चिन्तान्वितं धारयेत् ।
एषा खे गमनं करोति यामिनां स्याद्वायवी धारणा ॥24॥
इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुनाभ्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी ॥25॥
शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्यकस्यचित् ।
दत्ते च सिद्धिहानि: स्यात्सत्यं वच्मि च चण्ड ते ॥26॥

अर्थ

वायु का रंग अंजन या धुँए के रंग के समान हलका काला होता है। इसका बीज मन्त्र 'यं' यकार है। यह तत्त्व सत्त्व गुण वाला है। योग-बल से इसका आर्विभाव होने पर एकाग्रचित्त से कुम्भक द्वारा पाँच घड़ी तक प्राण वायु को धारण करें। इस वायवीय धारणा नाम की मुद्रा के अभ्यास से साधक को आकाश-गमन की शक्ति प्राप्त होती है और वायु से मृत्यु नहीं हो सकती। यह प्रमुख मुद्रा जरा-मृत्यु को नष्ट करती और आकाश में उड़ने का सामर्थ्य प्राप्त कराती है। यह धारणा अभक्त शठ को कभी न बतायें, ऐसा करने से सिद्धि नष्ट होती है, मेरा यह कथन सत्य है ॥24-26॥

व्याख्या

कुण्डलिनी योग के अनुसार अनाहत चक्र वायु तत्त्व का प्रतीक है। इस चक्र का यन्त्र दो त्रिकोणों से बना हुआ है। एक ऊर्ध्वमुखी और दूसरा अधोमुखी, दो अन्तर्ग्रथित त्रिकोण हैं। इनके बीच मोमबत्ती की ज्योति के सदृश एक ज्योति जल रही है और उसका प्रकाश ऊपर-नीचे, दायें-बायें फैल रहा है। प्रकाश की चार किरणें निकल रही हैं। इस यन्त्र का बीज मन्त्र 'यं' है।

अनाहत चक्र का सम्बन्ध भावना या अनुभूति के साथ है। हमारे भीतर दोनों प्रकार की भावनायें उत्पन्न होती हैं प्रेम और करुणा की तथा द्वेष और क्रोध की भी। अनाहत चक्र का सम्बन्ध हमारे जीवन में अवचेतन मानसिक

अवस्था से रहता है। अवचेतन मन में जो प्रतिक्रियायें उत्पन्न होती हैं, उनका प्रभाव अनाहत पर पड़ता है। अनाहत चक्र में सबसे मुख्य है भावना पर नियन्त्रण प्राप्त करना, चाहे भावना सकारात्मक हो या नकारात्मक। जब भावना, अनुभूति और व्यवहार पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है, तब अनाहत चक्र जाग्रत होता है। अगर भीतर में भावना अंश मात्र भी दूषित हो, तो अनाहत चक्र जाग्रत नहीं हो सकता।

अवचेतन विकार अनाहत चक्र की अभिव्यक्ति के विपरीत हैं। इसलिए इस चक्र की जागृति में अन्त:करण का शुद्ध होना आवश्यक है। इसमें भी वही तरीका अपनाया जाता है पूरक करके श्वास को उतनी देर तक भीतर रोकना, जितनी देर रोक सकते हैं। अन्तर्कुम्भक की अवस्था में अनाहत धारणा का अभ्यास करना है।

ईश्वर इसके इष्ट देवता हैं। तीनों देवताओं का वर्णन तो हो गया ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। ये तीनों देवता क्रमश: सृष्टि के उद्भवकर्ता, पालनकर्ता और संहारक हैं। परिवर्तन करना, बदलना, बनाना, पालन करना, तोड़ कर फिर बनाना, पालन करना, परिवर्तन करना ये इनके कार्य हैं लेकिन यहाँ पर देवता हैं ईश्वर। यहाँ पर किसी रूप की चर्चा न करके अव्यक्त सत्ता की चर्चा करते हुए उसे ईश्वर की संज्ञा दी गयी है। जिसका नाश नहीं होता, जो नश्वर नहीं है, उस सनातन सत्ता या सनातन तत्त्व का ख्याल करते हुए वायवीय धारणा का अभ्यास करने का निर्देश दिया गया है।

लाभ– मन्त्र में कहा गया है कि इस अभ्यास से साधक को आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है और वायु के द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों में मृत्यु नहीं होती। वायु तत्त्व पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त होता है। यह प्रमुख मुद्रा जरा और मृत्यु को नष्ट करती है।

हर एक धारणा के अभ्यास में कहा गया है कि जरा और मृत्यु इस अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। इसके पीछे रहस्य यही है कि एक सिद्धि को प्राप्त करने से अन्य सिद्धियाँ अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। इसलिए इस बात को हर अभ्यास में दुहराया गया है, ताकि हर अभ्यास अपने आप में पूर्ण रहे।

5. आकाशी धारणा

यत्सिन्द्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमाख्यमुदृासते,
तत्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेत्,
एषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ॥27॥
आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति स योगवित् ।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥28॥

अर्थ

आकाश तत्त्व का वर्ण समुद्र के नीले, शुद्ध जल के समान है। इसका बीज मन्त्र हकार और देवता सदाशिव हैं। शान्त मन से प्राण-वायु को रोक कर पाँच घड़ी तक कुम्भक करने से यह नभोधारणा (आकाश धारणा) मुद्रा सिद्ध होती है और यह मोक्ष के द्वार खोल देती है। जो योग का ज्ञाता आकाशी धारणा को जानता है, वह मरण को प्राप्त नहीं होता और उसे प्रलय का भी दु:ख नहीं होता ॥27-28॥

व्याख्या

कुण्डलिनी योग के अनुसार विशुद्धि चक्र आकाश तत्त्व का प्रतीक है और साथ-ही-साथ चेतना की शुद्ध अवस्था का भी प्रतीक है, क्योंकि नीचे के चार चक्रों तक हमारा सामना हुआ चेतना की अशुद्ध अवस्थाओं विकार, भावनायें, अनियन्त्रित ऊर्जा, भय, असुरक्षा इत्यादि के साथ। ये सब जीवन से सम्बन्धित अशुद्ध अवस्थायें हैं। लेकिन विशुद्धि चक्र शुद्ध चैतन्य अवस्था का प्रतीक है, निर्मलता का प्रतीक है। विशुद्धि चक्र में पहुँचकर हम अन्त:करण की सभी सीमाओं को पार कर (चाहे मन हो, चाहे बुद्धि हो, चाहे चित्त हो या अहंकार हो) व्यक्तित्व की शुद्ध चैतन्य चेतन अवस्था को प्राप्त करते हैं।

विशुद्धि चक्र का प्रतीक एक वृत्त है और उसके भीतर जल की एक बून्द है। वृत्त का रंग समुद्र के रंग के समान गहरा नीला है और इसके मध्य में सफेद रंग की एक बून्द है। इसका बीज मन्त्र 'हं' है। इसके देवता सदाशिव हैं। शिव

का अर्थ होता है कल्याणकारी या मंगलकारी। वह शक्ति, जिसके द्वारा हमेशा-हमेशा कल्याण और मंगल प्राप्त हो, सदाशिव है।

यह भी कहा जाता है कि आकाशी धारणा से साधक मोक्ष के द्वार खोलता है। मोक्ष के द्वार खोलने का अर्थ होता है शुद्ध अवस्था को प्राप्त करना।

मुद्रा

1. महामुद्रा

पायुमूलं वामगुल्फे संपीडू दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रासार्याथ करोपात्तपदांगुलिः ॥29॥
कण्ठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ।
पूरकैर्वायुं सम्पूर्य महामुद्रा निगद्यते ॥30॥
वलितं पलितं चैव जरा मृत्युं निवारयेत् ।
क्षयकासं उदावर्तप्लीहाजीर्णज्वरं तथा ।
नाशयेतत्सर्वरोगांश्च महामुद्राप्रसाधनात् ॥31॥

अर्थ

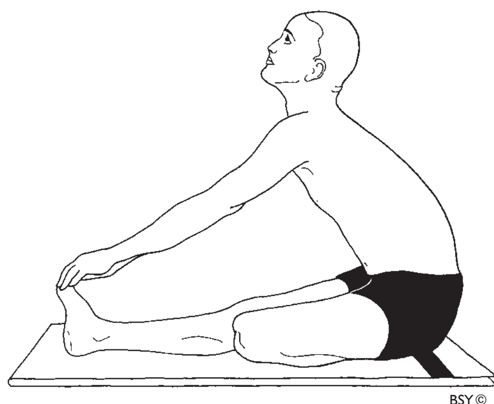
बायीं एड़ी से गुदा प्रदेश को दबायें और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को हाथ से पकड़े और कण्ठ को सिकोड़ कर भौहों के मध्य में दृष्टि लगायें रहें। यह महामुद्रा कहलाती है। इसके अभ्यास से यक्ष्मा, कफ, कोष्ठबद्धता, प्लीहा वृद्धि, जीर्ण ज्वर तथा अन्य रोग ठीक होते हैं और शरीर स्वास्थ्य प्राप्त करता है ॥29-31॥

व्याख्या

महामुद्रा, संस्कृत के दो शब्दों महा और मुद्रा के संयोग से बना है। महा का अर्थ होता है उच्चतम और मुद्रा का अर्थ होता है मानसिक वृत्ति। अर्थात् महामुद्रा वह स्थिति है, जिससे मानव चेतना उच्चतम स्तर में गमन करती है।

विधि– दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठ जाना है। इसके पश्चात् अपनी बायीं एड़ी को मूल भाग में रख कर दाहिने पैर को सीधा रखना है और उसी स्थिति में श्वास छोड़ते हुए आगे झुक कर दाहिने पैर के पंजे को दोनों हाथों से पकड़ लेना है। फिर सिर को थोड़ा पीछे झुकाते हुए धीरे-धीरे श्वास लेनी है। यह आसन की स्थिति होती है। अब इसमें दो बन्धों और एक मुद्रा का अभ्यास किया जाता है। बन्ध हैं मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध तथा मुद्रा है शाम्भवी। इस अवस्था में श्वास को सहज भाव से सरलता के साथ जितनी देर तक अन्दर रोक सकते हैं, उतनी देर रोक कर मूलबन्ध का अभ्यास करना है। उसके साथ ही शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करना है। शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास में सिर को थोड़ा ऊपर करके दोनों आँखों को भ्रूमध्य में केन्द्रित कर देना है और इस अवस्था में जब तक अन्तर्कुम्भक किया जा सके तब तक रुकना है।

इसमें एक और प्रक्रिया भी होती है, जिसका वर्णन यहाँ पर नहीं किया गया है। यहाँ पर तो विधि को सूत्र रूप में समझाया गया है। लेकिन इसके आगे तीन चक्रों पर ध्यान किया जाता है। पहला चक्र है मूलाधार, दूसरा है विशुद्धि और तीसरा है आज्ञा। अपनी चेतना को इन तीन चक्रों में ले जाना पड़ता है मूलाधार-विशुद्धि-आज्ञा। इस प्रकार अन्तर्कुम्भक में अपनी चेतना को तीन चक्रों में परिभ्रमण कराना पड़ता है। जब आप श्वास को और अन्दर न रोक सकें, तब आसन का त्याग कर, अर्थात् पंजे पर से हाथों की पकड़ ढीली कर, उन्हें घुटनों पर रखकर, मूलबन्ध का त्याग कर श्वास को बाहर निकालना है, शाम्भवी मुद्रा का त्याग करना है और फिर दूसरी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। दूसरी प्रक्रिया बहिर्कुम्भक में होती है। पुन: उसी स्थिति में आकर अब



साथ में जालन्धर बन्ध का अभ्यास भी करना है। जालन्धर बन्ध का अभ्यास करते समय आँखें बन्द रहती हैं। पुन: अपनी चेतना को इन तीन चक्रों में तब तक घुमाया जाता है जब तक श्वास को बाहर रोकने में सक्षम हों, जब श्वास बाहर न रोक सकते हों, तो पुन: आसन छोड़कर जालन्धर बन्ध और मूल बन्ध को छोड़ना है।

श्वास–एक पूर्ण पूरक एवं रेचक मिलाकर एक चक्र होता है। श्वास को जितनी देर रोक सकते हों, उतना ही अच्छा है, किन्तु अधिक जोर न लगायें। श्वास की लम्बाई को कुछ महीनों और सालों के नियमित अभ्यास से धीरे-धीरे बढ़ाया जाना चाहिए।

अवधि–प्रारम्भिक अभ्यासी प्रत्येक पैर से 3 चक्र तथा दोनों पैरों को सामने फैला कर 3 चक्र अभ्यास कर सकते हैं। अभ्यास को धीरे-धीरे 12 चक्र तक बढ़ाया जा सकता है।

क्रम–इस क्रिया का अभ्यास महाबेध मुद्रा के बाद किया जाना चाहिए।

समय–महामुद्रा का अभ्यास प्रात:काल खाली पेट, विशेषकर ध्यान के अभ्यासों के पूर्व करना चाहिए।

सावधानियाँ–उच्च रक्तचाप या हृदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। शरीर शुद्धिकरण के पूर्व महामुद्रा का अभ्यास नहीं करना चाहिए। अशुद्धियों का संकेत शरीर में संचित विषाक्त तत्त्वों, जैसे त्वचा में फोड़े-फुन्सी द्वारा मिल जाता है। चूँकि महामुद्रा के अभ्यास से बहुत अधिक ताप उत्पन्न होता है, इसलिए गरमी के दिनों में इस अभ्यास को नहीं करना चाहिए।

लाभ–अन्तर्कुम्भक और बहिर्कुम्भक में किया जाने वाला यह अभ्यास, जिसे महामुद्रा के नाम से जाना जाता है, व्यावहारिक रूप से अगर देखें तो कहा जायेगा कि चित्त को शान्त करने, चित्त की चंचलता को समाप्त करने, मन को एकाग्र करने के लिए ध्यान के पूर्व इसका अभ्यास होना चाहिए, क्योंकि इस अभ्यास में पहले मन अन्तर्मुखी होता है। यदि आप शाम्भवी मुद्रा करें, तो कुछ समय में ही पायेंगे कि चित्त की चंचलता समाप्त हो गयी है। आँखों को बन्द करने के बाद मन की अन्तर्मुखता का आभास होता है। जो विचार उत्पन्न होते हैं, या जो वेग विचारों में या भावनाओं में रहता है, वह कम हो जाता है और मन में शून्य अवस्था प्राप्त होती है। विचार रहित, भावना रहित, संकेन्द्रित अवस्था की प्राप्ति होती है। मानसिक विषाद शीघ्रता से दूर हो जाता है, क्योंकि ऊर्जा मार्ग के अवरोध समाप्त हो जाते हैं।

साथ-ही जब मूलबन्ध और उसके पश्चात् जालन्धर बन्ध का अभ्यास किया जाता है, तब दोनों वायुओं को प्राण वायु, जो जालन्धर बन्ध से प्रभावित होती है और अपान वायु, जो मूल बन्ध से प्रभावित होती है। शरीर के मध्य भाग में, मणिपुर चक्र में लाया जाता है और यहाँ पर दोनों का मिलन होता है प्राणशक्ति में तीव्रता का अनुभव होता है। जब प्राणशक्ति सही ढंग से शरीर के भीतर जाग्रत होती है, तब दो स्वरों इडा और पिंगला में सन्तुलन की स्थिति आती है और सुषुम्ना की जागृति होती है।

योग शास्त्रों में कहा गया है कि ध्यान को सिद्ध करने के लिए, ध्यान को सफल बनाने के लिए सुषुम्ना की जागृति आवश्यक है, क्योंकि शारीरिक रूप से देखा जाये तो इसमें पाचन एवं चयापचय उद्दीप्त होते हैं तथा पेट के रोग दूर हो जाते हैं। महामुद्रा के अभ्यास से कफ, बवासीर, यक्ष्मा, प्लीहा के रोग, गले की बीमारी और बुखार इत्यादि में, जिनका सम्बन्ध पाचन क्रिया से रहता है, लाभ प्राप्त होता है। अनुकम्पी और परानुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र में सन्तुलन की प्राप्ति होती है। संवेदी और प्रेरक तन्त्रिका-तन्त्रों में इन्द्रियों, शरीर और मस्तिष्क के बीच जो आदान-प्रदान होता है, उसमें शान्ति स्थापित होती है। अत: शरीर द्वारा प्राप्त जो इन्द्रिय अनुभव मस्तिष्क को विक्षिप्त और मन को उत्तेजित कर देते हैं, उनके कम होने से मस्तिष्क की क्रियायें और मस्तिष्क में उत्पन्न तरंगें धीरे-धीरे शान्त होती हैं और मनुष्य को सहज ध्यान की अवस्था में ले जाती हैं। यह मुद्रा मूलाधार और आज्ञा चक्र को जोड़ने वाले ऊर्जा परिपथ को उद्दीप्त करती है। सम्पूर्ण तन्त्र प्राण से आवेशित हो जाता है, जिससे सजगता बढ़ती है।

टिप्पणी–महामुद्रा का अभ्यास करने के पूर्व अभ्यासी को कुछ समय तक खेचरी, शाम्भवी, मूलबन्ध तथा कुम्भक का अभ्यास कर उनमें दक्षता प्राप्त कर लेनी चाहिए। कुशल मार्गदर्शन के अभाव में इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

2. नभो मुद्रा

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्व: स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा ।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥32॥

अर्थ

सभी कार्यों में तथा कहीं भी स्थिर हुआ योगी ऊर्ध्वजिह्व होकर कुम्भक के द्वारा वायु को रोक ले। यह नभोमुद्रा योगी के सभी रोगों को नष्ट करने वाली है ॥32॥

व्याख्या

देखा जाये तो नभोमुद्रा एक प्रकार से खेचरी मुद्रा का सरल अभ्यास है। राजयोग में जिन मुद्राओं का वर्णन किया गया है, उन्हीं मुद्राओं का वर्णन हठयोग में भी किया गया है। लेकिन राजयोग के जो अभ्यास हैं, वे शरीर की सामान्य स्थिति को देखकर बतलाये जाते हैं और हठयोग के अभ्यास शरीर पर जोर देकर, शारीरिक अवस्था में परिवर्तन करके किये जाते हैं। उदाहरण के लिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास लीजिये। जीभ को उलटा कर ऊपर के तालू से सटा देना खेचरी मुद्रा कहलाती है और यही पद्धति प्रचलित है। लेकिन यदि आप राजयोग की दृष्टि से इसे देखें तो यह नभोमुद्रा का एक अंग है।

हठयोग के अनुसार खेचरी मुद्रा में जीभ को लम्बा करके ब्रह्म-रन्ध्र की ओर ले जाते हैं। जीभ को लम्बा करने की अनेक विधियाँ बतलायी गयी हैं, जैसे, दोहन क्रिया जीभ को अंगुलियों से खींचना। यह हठ योग का सरल तरीका है और अगर इससे जीभ ब्रह्म-रन्ध्र के भीतर नहीं घुसती तो जीभ के अन्दर के आधार को काट देना है, ताकि जीभ बाहर निकले और फिर उसे ब्रह्म-रन्ध्र में घुसाना होता है। अर्थात् हठयोग में जो पद्धति अपनायी गयी है वह कठोर पद्धति है; शरीर के साथ जोर-जबरदस्ती करने की पद्धति है, और राजयोग में शरीर को देखते हुए, शरीर का ख्याल करते हुए, सरल तरीके बतलाये गये हैं।

नभोमुद्रा के विश्लेषण में बतलाया गया है कि इस मुद्रा में जीभ को उलटकर उसके पिछले भाग को ऊपर तालू से सटा देना है या जीभ को उलटा कर देना है। जब जीभ को उलटा करते हैं तब वायु को रोकना है। चाहे अन्दर रोकें, चाहे बाहर, इसमें छूट दी गयी है। इसका अभ्यास अन्तर्कुम्भक के साथ भी किया जा सकता है और बहिर्कुम्भक के साथ भी।

3. खेचरी मुद्रा

जिह्वाधो नाडीं संछित्य रसनां चालयेत्सदा ।
दोहयेंन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥33॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद्च्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तदा सिध्यति खेचरी ॥34॥
रसनां तालुमूले तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥35॥
न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥36॥
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दशेन्न भुजंगमः॥37॥
लावण्यं च भवेद्गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम् ।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥38॥
नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने ।
आदौ च लवणं क्षारं च ततस्तिक्तकषायकम् ॥39॥
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च ।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ॥40॥

अर्थ

जिह्वा और जिह्वा मूल को मिलाने वाली जो नाड़ी जिह्वा के नीचे है उसका छेदन कर जिह्वा के अग्रभाग का निरन्तर चालन करें तथा मक्खन लगाकर दोहन करते हुए लोहे की चिमटी से खींचें। नित्य प्रति इसका अभ्यास करने से जिह्वा बढ़ जाती है। उसे इतना लम्बा कर लेना चाहिए कि वह भौंहों के मध्य तक पहुँच सके। इस प्रकार क्रमशः तालू मूल में धीरे-धीरे प्रविष्ट करें। जिह्वा को उलटा करके ऊपर की ओर, कपालरन्ध्र में ले जाना चाहिए। उस समय दोनों भौंहों के मध्य भाग में दृष्टि रखें। यह खेचरी मुद्रा होती है ॥33-35॥

खेचरी का अभ्यास करने वाले साधक को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य आदि नहीं सताते। रोग, जरा और मृत्यु का भय नहीं रहता। अग्नि में शरीर नहीं

जलता और न पवन से सूखता है। न जल उसे भिगो सकता है और न सर्प के काटने पर विष का असर होता है। शरीर लावण्यमय हो जाता है। निश्चल समाधि सिद्ध होती है। कपाल और मुख का रसना द्वारा संयोग होने से अनेक रसों की उत्पत्ति होती है, इसलिए इसके अभ्यासी साधकों की जिह्वा से दिनोंदिन अद्‌भुत रस उत्पन्न होता जाता है। नये-नये आनन्द की अनुभूति होने लगती है। प्रारम्भ में लवण, क्षार, तिक्त और कषाय रस का, तत्पश्चात् मक्खन, धृत, दूध, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा और फिर अमृतादि रसों का स्वाद उत्पन्न होता है ॥36-40॥

व्याख्या

विधि– यहाँ पर स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस क्रिया को सिद्ध करने के लिए पहली आवश्यकता है जीभ का लम्बा होना। जीभ को लम्बा करने के लिए तालू और जीभ के बीच जो झिल्ली है, उसे काटना पड़ता है। पुराने जमाने में योगी कहा करते थे कि एक धार वाले पत्ते से, जैसे तेज पत्ता, जिसे चाय में डालते हैं, जो संक्रमण उत्पन्न न करे, जो स्वयं शुद्ध हो, उससे इस झिल्ली को काटना चाहिए। अर्थात् उस समय जीभ को काटने के लिए किसी पत्ते या पेड़ की जड़ का प्रयोग होता था।

योग तत्त्वोपनिषद् में कहा गया है कि बाल की नाप के बराबर काटना चाहिए। अर्थात् केवल स्पर्श और एक हलकी-सी चोट। आधुनिक युग में तो बहुत-से लोग अपनी शल्य चिकित्सा करा लेते हैं। चावल के धान से भी लोग इसे छील देते हैं। इस पद्धति में खून निकलता है, लेकिन योग तत्त्वोपनिषद् और योग के अन्य ग्रन्थों के अनुसार खेचरी सिद्धि के समय खून नहीं निकलना चाहिए। इस कथन का क्या प्रयोजन था, यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि इस क्षेत्र में सेप्टिक हो जाये तो पूर्व काल में मलहम-पट्टी के लिए जड़ों और पत्तों के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं था और जड़ी-बूटियाँ हर स्थान में उपलब्ध हो नहीं सकतीं, या तो पर्वतों में उपलब्ध होंगी या जंगलों में। नगर या गाँव में रहने वाले व्यक्ति के लिए, जिसके पास कोई जड़ी-बूटियों का जानकार व्यक्ति न हो, कठिनाई हो जायेगी। इसलिए कहा गया है कि खून नहीं निकलना चाहिए और इसी कारण बाल के बराबर ही काटना चाहिए। प्रतिदिन बाल के बराबर थोड़ा-थोड़ा काटते रहें। अर्थात् एक लकीर मात्र खींच देनी है और दोहन क्रिया के द्वारा जीभ को लम्बा करना है।

दोहन क्रिया के भी दो तरीके बतलाये गये हैं। एक तो है अंगुली से उसकी बाहर की तरफ मालिश और दूसरा है चिमटी का प्रयोग। जीभ को अंगुलियों से दूध दुहने की क्रिया की तरह मलते हैं। साथ-ही चिमटे से उसे रोज खींचते हैं। दोहन क्रिया में उल्टी हो सकती है, इसलिए चिमटे का प्रयोग किया जाता है।

योग ग्रन्थों मे यह निर्देश भी स्पष्ट रूप से दिया गया है कि जब तक जीभ लम्बी और पतली न हो जाये तब तक खेचरी मुद्रा का प्रयोग न किया जाये, क्योंकि योग ग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि जब हम जिह्वा को ऊपर की ओर घुसाते हैं, तब तालू के ऊपर और कपाल कुहर में जो स्वाद ग्रन्थियाँ होती हैं, उनसे स्वाद का अनुभव होने लगता है; रस उत्पन्न होने लगते हैं। कभी-कभी प्रारम्भ में बहुत-ही कड़वा स्वाद मुँह में भर जाता है। फिर खारा स्वाद भर जाता है, फिर नमकीन, फिर मीठा स्वाद भरता है। अर्थात् सभी प्रकार के स्वादों का अनुभव इस अभ्यास को करते समय होता है। जब स्वाद की ग्रन्थियों को जीभ पार कर लेती है, तब दूसरे प्रकार के स्वाद उत्पन्न होते हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे, दूध का स्वाद, वह न तो मीठा है, न खारा है, न कड़वा है और न ही खट्टा है। इसी प्रकार मक्खन के स्वाद का वर्णन भी नहीं किया जा सकता। तो इस प्रकार के स्वादों का, जिन्हें हम नैर्सीगक स्वाद कह सकते हैं, अनुभव होने लगता है और ये ग्रन्थियाँ बहुत सक्रिय हो जाती हैं।

सामान्य रूप से भी समय-समय पर मुँह में विचित्र-विचित्र स्वादों का अनुभव होता रहता है। यदि जीभ पतली हो तो बिना किसी स्वाद ग्रन्थि को छुए वह ऊपर प्रवेश करती है और तब भी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। साथ-ही मुँह में लार का उत्पन्न होना भी कम हो जाता है, क्योंकि खेचरी का अभ्यास करते समय हम बार-बार लार को निगलते नहीं हैं। इसके लिए प्राणायाम को भी सिद्ध करना आवश्यक है, क्योंकि जब जीभ ऊपर चढ़ती है, तब नासिका छिद्र बन्द हो जाते हैं और श्वास नहीं ली जा सकती। इसलिए खेचरी के पूर्व प्राणायाम सिद्ध होना भी आवश्यक है।

कुछ योग शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि प्राणायाम की सिद्धि का अर्थ यह नहीं कि हम श्वास को अन्दर या बाहर रोक लें। घण्टों तक श्वास रोकने की क्षमता तो प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकती। शायद योगियों को भी यह क्षमता प्राप्त नहीं होती, लेकिन इसी से मिलती-जुलती एक अवस्था प्राप्त

होती है कि यदि सामान्य रूप से आप एक मिनट में दस-पन्द्रह बार श्वास लेते हैं, तो सिद्धि की अवस्था में एक मिनट में उसका आधा श्वसन कीजिये, अर्थात् पाँच-सात बार श्वास लीजिए। इससे श्वास की गति और संख्या घट जायेगी। श्वास रोकने का यही अर्थ होता है।

योगियों का उद्देश्य होता है धीरे-धीरे श्वसन संख्या को कम करना, ताकि इतनी क्षमता आ जाये कि एक मिनट में एक श्वास ही भीतर जाये और बाहर आये और उसके कारण शारीरिक क्रियाकलापों में किसी प्रकार की अड़चन उत्पन्न न हो, श्वासहीनता का अनुभव न हो, ऑक्सीजन का अभाव न हो। अत: खेचरी के लिए श्वास पर नियन्त्रण आवश्यक है।

इसके पश्चात् यह भी कहा जाता है कि इसका अभ्यास बिना गुरु के निर्देश के नहीं करना चाहिए। यह तो योग का प्रमुख नियम है। इसके अतिरिक्त कहा जाता है कि उस व्यक्ति को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए जिसके मुख में कड़ुवा स्वाद उत्पन्न हो। अगर कड़ुवा स्वाद उत्पन्न हो और आप खेचरी का अभ्यास करते जायें, उसका ख्याल न करें, तो वह कड़ुआपन शरीर के लिए जहर बन सकता है, जो कि ठीक नहीं है। यदि कड़ुआपन मालूम पड़े तो उसका यह भी अर्थ होता है कि हमारे शरीर के विष और विकार अभी पूर्ण रूप से निकले नहीं हैं। इसके लिए फिर हठयोग के षट्कर्मों का अभ्यास होना आवश्यक है।

शरीर को पूर्ण रूप से विकार रहित बनाना आवश्यक है। विकार रहित होने की एक ही पहचान है कि मुँह में कड़ुआपन न रहे। बहुत बार सबेरे जब हम सोकर उठते हैं तो मुँह में कड़ुआ स्वाद रहता है और कुछ भी उपाय करने पर वह कड़ुवापन जाता नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि पेट खराब है। यह देखा गया है कि जब पेट साफ रहता है तब कड़ुवापन अपने आप समाप्त हो जाता है।

सावधानियाँ–जिह्वा व्रण हो या मुँह का अन्य कोई सामान्य रोग हो, वह अस्थायी रूप से इस अभ्यास को बाधित करेगा।

लाभ–खेचरी मुद्रा मुख के पृष्ठ भाग तथा नासिका विवर में स्थित अनेक दबाव बिन्दुओं को उद्दीप्त करती है। ये बिन्दु सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करते हैं। अनेक ग्रन्थियों की मालिश होती है और अनेक रसों एवं लार का स्राव होने लगता है। इस मुद्रा के अभ्यास से प्रारम्भ में जब अन्दर की ग्रन्थियाँ क्रियाशील हो जाती हैं, तब उससे क्षुधा, अर्थात् भूख-प्यास नहीं लगती। इसके उदाहरण ऐसे योगी हैं जो भूमि समाधि लेते हैं। उस समय वे खेचरी मुद्रा का अभ्यास

करते हैं, जिससे उन्हें भूख-प्यास नहीं लगती। सामान्य रूप से भी यदि आप खेचरी का अभ्यास करें, जिसे नभोमुद्रा कहा जाता है (खेचरी का सरल तरीका) तो निरन्तर अभ्यास से आपको स्वयं अनुभव होगा कि भूख-प्यास कम लगती है। खाने-पीने की इच्छा नहीं होती और धीरे-धीरे शरीर उसी के अनुरूप अपने आपको ढालने लगता है। यह प्रयोगिक तथ्य है। इसे आप स्वयं अपने जीवन में अनुभव कर सकते हैं।

यह भी कहा जाता है कि खेचरी का पूर्ण अभ्यास कारण शरीर को स्थूल शरीर से अलग कर सकता है, चेतना को कारण शरीर में प्रवेश करा सकता है। प्राचीन योग शास्त्रों में इस मुद्रा को बहुत महत्त्व दिया गया है। महर्षि घेरण्ड के कथनानुसार, जिसे खेचरी सिद्ध हो जाये उसके शरीर को न तो अग्नि, जल और वायु प्रभावित कर सकते हैं और न ही किसी प्रकार का विष प्रभावित कर सकता है, क्योंकि इस अभ्यास से बिन्दु चक्र में अमृत की उत्पत्ति होती है। इस अमृत को जब हम सही तरीके से अपने शरीर के भीतर ग्रहण करते हैं, तब शरीर को बुढ़ापा, मृत्यु या अन्य किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँच सकती और एक प्रकार से शरीर अपनी आयु तक वज्र जैसा कठोर हो जाता है, अमर हो जाता है।

अमर का अर्थ हम लोग लगाते हैं अविनाशी। लेकिन योग ग्रन्थों में अमरत्व का अर्थ दूसरा होता है। अमरत्व का अर्थ होता है हमारी जितनी भी उम्र रहे, चाहे पचास साल रहे, चाहे अस्सी साल रहे, चाहे सौ साल रहे, शरीर बूढ़ा न हो, शरीर की क्षमता कम न हो और मानसिक शक्ति में किसी प्रकार का ह्रास न हो।

4. महाबेध मुद्रा

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं बिना ।
मूलबन्धमहाबन्धौ महबेधं विना तथा ॥41॥
महाबन्धंसमासाद्य कुम्भकं चरेदुड्डीन ।
महाबेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥42॥
महाबन्धमूलबन्धौ महाबेधसमन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥43॥
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः ॥44॥

अर्थ

महाबेध के बिना मूलबन्ध और महाबन्ध भी उसी प्रकार निष्फल हैं, जिस प्रकार पुरुष के बिना स्त्री का रूप, यौवन और लावण्य व्यर्थ हैं। प्रथम महाबन्ध का अभ्यास कर, उड्डियान बन्ध करते हुए कुम्भक द्वारा वायु को रोकें। यही महाबेध कहा गया है। नित्यप्रति महाबेध के साथ महाबन्ध, मूलबन्ध करने वाले योगी सब योगियों से श्रेष्ठ माने जाते हैं। उन्हें वृद्धावस्था नहीं घेरती और न मृत्यु का भय ही होता है। योगीराजों को इसे गोपनीय रखना चाहिए ॥ 41-44॥

व्याख्या

बेध का अर्थ होता है भेदना। जिस प्रकार एक माला के दानों को सुई से भेदते हुए धागे में पिरोया जाता है, ठीक उसी प्रकार इस क्रिया के द्वारा सप्त चक्रों का बेधन किया जाता है। महर्षि घेरण्ड और स्वात्माराम द्वारा हठयोग के अन्तर्गत इसका वर्णन किया गया है, लेकिन इसका अभ्यास क्रिया योग में किया जाता है। वर्णन हठयोग में है और अभ्यास की पद्धति क्रियायोग में समझायी गयी है।

महामुद्रा क्रियायोग का एक अभ्यास है। इसमें चक्रों का बेधन किया जाता है। यह बेधन चेतना के द्वारा होता है। हर चक्र में प्राण की एक स्थिति या अवस्था होती है, लेकिन प्राण की अवस्था के अतिरिक्त हर चक्र में चेतना की भी एक अवस्था होती है, जिसे हम अभी जानते नहीं है। इस अवस्था को परिवर्तित अवस्था कहा जाता है। सामान्य चेतना की अवस्था में जिस भिन्नता का अनुभव

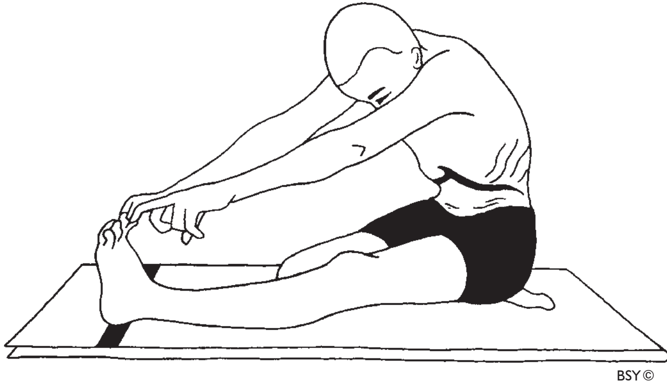
हो, वही है 'परिवर्तित अवस्था'। परिवर्तित अवस्था का अर्थ यह नहीं होता कि इसका अनुभव केवल ध्यान की अवस्था में होगा। सामान्य अवस्था में चाहे जो परिवर्तन हो, वह परिवर्तन की अवस्था है।

हर चक्र में चेतना का एक स्वरूप होता है, जिसे सामान्य भाषा में हम चेतना का विस्तृत या बृहत् रूप कहते हैं। मूलाधार में जब रहते हैं, तब चेतना का ऐसा रूप होता है; स्वाधिष्ठान में जाने पर ऐसा रूप होता है; मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा में ऐसा-ऐसा रूप होता है। इस प्रकार चेतना के क्रमिक विकास की जो अवस्था है, या जो नये-नये रूप हमें प्राप्त होते हैं, दिखलायी देते हैं, उस अवस्था को अपनी वर्तमान अवस्था, वर्तमान सजगता और वर्तमान चेतना के साथ पार करना। इसका अर्थ हुआ, चक्रों को पार करते समय अपनी वर्तमान सजगता और सामान्य बोध की अवस्था को बनाये रखना।

यह कुण्डलिनी योग का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि सभी चक्रों को पार करते समय वही सजगता, वही चेतना और बोध की वही स्थिति रहनी चाहिए, जो उसके पूर्व थी। बोध की यह स्थिति क्या है? एकाग्र अर्थात् विक्षिप्तता की समाप्ति। इसे कह सकते हैं अविक्षिप्त मन, जहाँ पर किसी प्रकार का विक्षेप न हो, किसी प्रकार का बिखराव न हो। पूर्ण रूप से केन्द्रित और एकाग्र अवस्था, जिसमें मन किसी गुण के द्वारा प्रभावित न हो। यह चेतना का मूल रूप है। इसी अवस्था में सभी चक्रों का भेदन करना है।

विधि– इसके अभ्यास की विधि महामुद्रा के समान है। अर्द्ध वज्रासन में बैठकर एक पैर को सामने फैलाकर रखते हैं, दूसरे पैर को मूलाधार से सटाकर गुदाद्वार के समीप रखते हैं और आगे झुक कर अपने पैर के पंजों को दोनों हाथों से पकड़ लेते हैं। यह मूल स्थिति है। महाबन्ध में भी और महाबेध मुद्रा में भी। अब इसमें बाह्य कुम्भक लगाना पड़ता है। सबसे पहले गहरी श्वास लेकर श्वास को छोड़ देना और उसे बाहर ही रोक लेना होता है। बाह्य कुम्भक लगाकर महाबन्ध और मूलबन्ध का अभ्यास भी होना चाहिए। महाबन्ध के अभ्यास का अर्थ है जालन्धर बन्ध, मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध तीनों लगें। अपनी दृष्टि को नासिकाग्र में केन्द्रित कर देना है। इसके पश्चात् तीन चक्रों में अपनी चेतना को घुमाना है मूलाधार, मणिपुर और विशुद्धि।

ये तीन चक्र हैं, जहाँ पर बन्ध लगे हुए हैं। मूलबन्ध में मूलाधार का ख्याल, उड्डियान बन्ध में मणिपुर का ख्याल और जालन्धर बन्ध में विशुद्धि का ख्याल



करना है। अपनी चेतना को तीन सैकण्ड तक हर क्षेत्र में रखना है। अर्थात् तीन बार मानसिक रूप से मूलाधार-मूलाधार-मूलाधार कह कर जितनी देर बाह्य कुम्भक कर सकते हैं, उतनी देर करना है और चेतना को घुमाते रहना है। जब बाह्य कुम्भक का और देर तक अभ्यास सम्भव न हो, तब सबसे पहले जालन्धर बन्ध को छोड़ना है। फिर मूल बन्ध को और अन्त में उड्डियान बन्ध को। तीनों बन्धों को छोड़ने के बाद सीधा होकर श्वास अन्दर ले सकते हैं। यह महाबेध का एक चक्र हुआ। तत्पश्चात् तुरंत श्वास छोड़कर अगला चक्र आरम्भ करें। तीन चक्र बायें पैर को मोड़कर, तीन चक्र दायें पैर को मोड़कर तथा तीन चक्र दोनों पैरों को सामने फैला कर करें।

अवधि– महामुद्रा के समान ही फेफड़ों पर जोर न डालें। धीरे-धीरे कुछ महीनों या वर्षों के नियमित अभ्यास से फेफड़ों की क्षमता बढ़ायें।

समय– महाबेध मुद्रा का अभ्यास प्रात:काल खाली पेट करना चाहिए, विशेषकर ध्यान के अभ्यास के पूर्व।

सावधानियाँ– मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध के समान ही। कुशल निर्देशन के बिना इस अभ्यास को नहीं करना चाहिए।

लाभ– इस मुद्रा का एक मुख्य लाभ है सामान्य रूप से चेतना की सजगता को बनाये रख कर उसकी उच्च अवस्था को प्राप्त करना। यही महाबेध मुद्रा का लक्ष्य और प्रयोजन है।

इस मुद्रा के लाभ महामुद्रा के लाभों के समान ही हैं। प्राण के स्तर पर इस मुद्रा का बहुत शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है। यह विशेष रूप से मूलाधार, मणिपुर एवं विशुद्धि चक्रों को प्रभावित करती है तथा उनमें निहित ऊर्जा को

परिचालित कर मानसिक एकाग्रता एवं ध्यान की अवस्था को प्रेरित करती है। यह मुद्रा महामुद्रा की पूरक है और उसके पश्चात् इसका अभ्यास किया जाता है। दोनों क्रियाओं के सम्मिलित अभ्यास से शारीरिक, मानसिक और प्राणिक स्तर पर बहुत शक्तिशाली प्रवाह प्रस्फुटित होता है। शरीर, मन और इन्द्रियों के अन्दर एक नवीन शक्ति का संचार होता है, चेतना अत्यन्त सूक्ष्म और गहरी होती है।

महाबेध योगियों को सिद्ध पुरुष एवं ज्ञानी बनाता है। जो व्यक्ति नियमित रूप से प्रतिदिन महाबन्ध, मूलबन्ध तथा महाबेध इन तीनों क्रियाओं का अभ्यास करता है, वह 'योगवित्' या योग विशेषज्ञ कहलाता है।

5. विपरीतकरणी मुद्रा

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमा:।
अमृतं ग्रस्ते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नर: ॥45॥
ऊर्ध्वं च योजयेत्सूर्यं चन्द्रं चाप्यध आनयेत्।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥46॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहित:।
ऊर्ध्वपाद: स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥47॥
मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरा मृत्युं च नाशयेत्।
स सिद्ध: सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥48॥

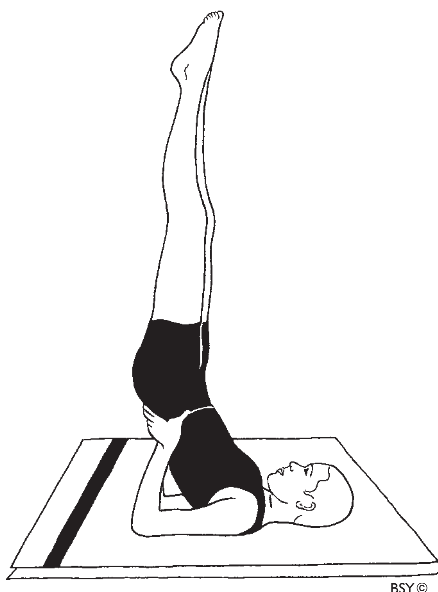
अर्थ

नाभि मूल में सूर्य नाड़ी और तालू मूल में चन्द्र का वास है। सूर्य द्वारा चन्द्र से स्त्रवित अमृत का पान करने से प्राणी की मृत्यु होती है, परन्तु चन्द्र नाड़ी के अमृत पान करने पर मृत्यु का भय नहीं रहता। अतएव सूर्य को ऊपर और चन्द्र को नीचे कर लें। यही विपरीतकरणी मुद्रा है, जो सब प्रकार गोपनीय है। सिर को भूमि में लगाकर दोनों हाथ टेकें और दोनों पावों को ऊपर उठाकर कुम्भक के द्वारा वायु को रोकें, यही विपरीतकरणी मुद्रा है। इसका नित्य अभ्यास करने से वृद्धावस्था और मृत्यु नष्ट होती है। इसका अभ्यास करने वाला सब लोकों में सिद्धि सम्पन्न एवं प्रलयकाल में भी दु:खित नहीं होता ॥45-48॥

व्याख्या

यहाँ पर दो शब्द हैं विपरीत और करणी। किसको विपरीत किया जाये, किसको उलटा किया जाये और क्यों? सामान्य रूप से आरम्भ से ही मनुष्य का जीवन उसके पैरों पर खड़े-खड़े गुजरता है। विपरीतकरणी का अर्थ होता है शरीर को उसकी सामान्य अवस्था के विपरीत अवस्था में ला देना। वह मुद्रा जिसमें शरीर की सामान्य अवस्था को बदल कर उलटा किया जाता है, विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है।

विधि– पीठ के बल सीधे लेट जायें। पैर सीधे और एक साथ रहेंगे। दोनों टखने भी एक साथ मिले रहेंगे। हथेलियाँ नीचे की ओर रखते हुए हाथों को



बगल में रखें। सम्पूर्ण शरीर को शिथिल बनायें। धीरे-धीरे गहरी श्वास लें और पैरों को एक साथ रखते हुए ऊपर की ओर उठायें। धीरे-धीरे पैरों को सिर की तरफ ऊपर उठाते जायें। इसके बाद हाथों से जमीन पर दबाव डालते हुए नितम्बों को जमीन से ऊपर उठाते जायें। पैरों को सिर की तरफ लायें। फिर हाथों को मोड़कर हथेलियों से कमर के पास नितम्बों के ऊपरी भाग को सहारा दें। केहुनियों को यथासम्भव पास-पास रखें। धड़ को हाथों से सम्हाले हुए पैरों को इस प्रकार उठायें कि वे भूमि के लम्बवत् हो जाएँ। पैरों को सीधा रखते हुए उन्हें सिर की ओर थोड़ा-सा झुकायें ताकि पैर दृष्टि की सीध में आ जायें। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनायें। अपनी चेतना को नाभि के ठीक पीछे मेरुदण्ड में मणिपुर चक्र पर एकाग्र करें। ध्यान रखें कि ठुड्डी का दबाव छाती पर न पड़े। यह आरम्भिक स्थिति है।

श्वास–इसकी विधि में श्वास का भी सहारा लिया जाता है। सम्भवत: इसमें श्वास की प्रक्रिया थोड़ी विचित्र लगे, लेकिन यही प्रक्रिया अपनायी जाती है। यह प्रक्रिया है श्वास लेते समय अपनी चेतना को मणिपुर से विशुद्धि तक लाना, इतना तो सामान्य है। श्वास छोड़ते समय सामान्य रूप से हम चेतना को पुन: नीचे ले जाते हैं, लेकिन यहाँ पर चेतना को नीचे नहीं ले जाना है,

वरन् विशुद्धि से बिन्दु तक और ऊपर ले जाना है। अर्थात् श्वास लेते समय यह चेतना को मणिपुर से विशुद्धि और श्वास छोड़ते समय विशुद्धि से बिन्दु तक लाने की क्रिया है।

हठयोगी इस अभ्यास के साथ खेचरी मुद्रा और उज्जायी प्राणायाम का अभ्यास भी करते हैं। उज्जायी द्वारा श्वास को विशुद्धि से बिन्दु तक एक जोर के झटके के साथ ले जाते हैं, अर्थात् एक 'इन्जेक्शन' से जिस प्रकार की धार निकलती है, ठीक उसी प्रकार की कल्पना होती है कि विशुद्धि से बिन्दु तक चेतना जा रही है। शरीर को नीचे जमीन पर लाते समय श्वास को भीतर रोके रहते हैं।

प्रारम्भ में इस क्रिया में हाथों को इस स्थिति में अधिक देर तक रखने में कठिनाई हो सकती है, हाथों में दर्द हो सकता है, परन्तु नियमित अभ्यास से यह समस्या नहीं रहेगी। उलटी स्थिति में शरीर को सम्हालने का तरीका यह है कि सम्पूर्ण शरीर नितम्बों के ऊपरी भाग का सहारा लेते हुए दोनों हथेलियों के ऊपर विश्राम करे। इस विधि में आपके हाथ प्याले की आकृति में रहेंगे, जिसके ऊपर नितम्ब टिके रहेंगे।

आरम्भिक स्थिति में लौटने के लिए पैरों को सिर की ओर झुकायें, फिर हथेलियों एवं भुजाओं को शरीर की बगल में रखें। हथेलियाँ नीचे की ओर रहें। मेरुदण्ड को धीरे-धीरे जमीन पर लायें, सिर को ऊपर न उठायें। जब नितम्ब जमीन पर जा जाएँ तो पैरों को सीधा रखते हुए नीचे लायें। शवासन में पूरे शरीर को शिथिल बनायें।

अवधि– 5 या 7 आवृत्ति करें। यदि सिर में दबाव उत्पन्न होने लगे तो अभ्यास समाप्त कर दें। धीरे-धीरे कुछ महीनों में आवृत्तियों की संख्या 21 तक बढ़ायें। जैसे-जैसे अभ्यास अधिक सुविधाजनक होता जाएगा, पूरक और रेचक की लम्बाई अपने आप बढ़ेगी।

क्रम– अपने नित्य योगाभ्यास के अन्त में तथा ध्यान के पूर्व इसका अभ्यास करें। बलपूर्वक किये जाने वाले अभ्यासों के पश्चात् या भोजन के कम-से-कम तीन घण्टे बाद तक इसका अभ्यास न करें। इस अभ्यास के पूर्ण होने पर पीछे झुकने वाले किसी आसन, जैसे, मत्स्यासन, भुजंगासन या उष्ट्रासन का अभ्यास करना चाहिए।

समय– विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास प्रतिदिन एक ही समय पर, अधिमानत: प्रात:काल करना चाहिए।

अब यहाँ पर प्रश्न उठता है कि इसे मुद्रा की संज्ञा क्यों दी गयी, क्योंकि सामान्य रूप से देखा जाये तो शरीर को उलटा करने के लिए योगासनों में सर्वांगासन का अभ्यास किया जाता है। जब सर्वांगासन का वर्णन योगासनों के अन्तर्गत किया गया है, तब फिर सर्वांगासन के समान रूप में विपरीतकरणी को एक मुद्रा के रूप में पुन: क्यों प्रस्तुत किया गया? इसका भी एक कारण है। यह कारण तब समझ में आयेगा जब सर्वांगासन और विपरीतकरणी के अभ्यास में अन्तर को देखेंगे।

विपरीतकरणी के अभ्यास में स्थिति लगभग सर्वांगासन के समान ही रहती है, केवल मेरुदण्ड की स्थिति में थोड़ा-सा परिवर्तन होता है और ठुड्डी का स्पर्श छाती से नहीं कराया जाता। धड़ को जमीन से उठा कर पैंतालीस अंश के कोण पर रख जाता है, जबकि सर्वांगासन में नब्बे अंश का कोण बनाते हुए धड़ सीधा लम्बवत् रहता है। सर्वांगासन के अभ्यास में अपने आप ही जालन्धर बन्ध का अभ्यास होता है, लेकिन विपरीतकरणी करते समय जालन्धर बन्ध का अभ्यास नहीं होता। सर्वांगासन में छाती पर जो दबाव पड़ता है, वह विपरीतकरणी में नहीं पड़ता। दोषपूर्ण दैहिक स्थिति इसमें नहीं होती। एक तरह से कहा जा सकता है कि विपरीतकरणी सर्वांगासन का सरल रूप है। विपरीतकरणी को मुद्रा कहा गया है।

विपरीतकरणी की एक दूसरी विधि भी है। इसमें पैरों को सीधा रखते हैं, कमर झुकी रहती है, लेकिन पैरों को दृष्टि की सीध में न लाकर सीधा ही रखते हैं। यह अधिक सहज विधि है। सामान्य रूप से लोग विपरीतकरणी के नाम पर यह अभ्यास करते हैं, लेकिन इसकी सही अवस्था ऊपर वर्णित अभ्यास है।

सर्वांगासन के अभ्यास में गर्दन के सभी क्षेत्र बन्द हो जाते हैं, संकुचित हो जाते हैं। श्वास सामान्य रूप से चलती रहती है, लेकिन श्वसन प्रणाली में थोड़ी-सी कठिनाई उत्पन्न होती है, क्योंकि कण्ठ-क्षेत्र संकुचित हो जाता है। विपरीतकरणी में कण्ठ क्षेत्र संकुचित नहीं होता, इसी कारण से इस अभ्यास को मुद्रा के रूप में देखा गया है कि इसमें कण्ठ नली खुली रहती है, उसमें किसी प्रकार का अवरोध नहीं होता और सर्वांगासन के अभ्यास में कन्धों पर जो भार पड़ता है वह इस अभ्यास में हाथों पर बँट जाता है, अर्थात् शरीर का भार अब केहुनी से सिर तक के क्षेत्र में बँट जाता है। इसलिए सर्वांगासन के अभ्यास में शरीर में जो भारीपन का आभास होता है, विशेषकर गर्दन के क्षेत्र में, वह इसमें नहीं होता।

विपरीतकरणी की अवस्था में विशेषकर दो चक्रों का ख्याल किया जाता है मणिपुर और विशुद्धि। उसके बाद तीसरे चक्र का ख्याल किया जाता है वह है बिन्दु चक्र। चक्रों की धारणा के साथ विपरीतकरणी का जो अभ्यास होता है, वह क्रिया योग का पहला अभ्यास है। पहले हठयोग के दृष्टिकोण से विपरीतकरणी को समझेंगे। हठयोग में कहा जाता है कि चन्द्र ऊपर है और सूर्य नीचे। सूर्य का केन्द्र है नाभि या मणिपुर चक्र और चन्द्र का केन्द्र है मस्तिष्क या आज्ञा और बिन्दु चक्र। इन दोनों में चन्द्रमा की कल्पना की जाती है। आज्ञा में सूर्य और चन्द्र दोनों को देखा जाता है, बिन्दु में मात्र चन्द्र को देखा जाता है। इसलिए हठयोग में चक्रों के सन्दर्भ में चन्द्र का जो प्रमुख केन्द्र है, वह है 'बिन्दु'। हठयोग में और विपरीतकरणी के सूत्रों में भी कहा गया है कि नाभि के मध्य में सूर्य का वास होता है। *'तालुमूले च चन्द्रमा:'* तालू के पीछे, अर्थात् जहाँ पर हमारा बिन्दु चक्र है, वहाँ चन्द्रमा है। *'अमृत ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नर:'* सूर्य अमृत को पचा देता है, जिसके कारण मनुष्य मृत्यु के बस में रहता है। विपरीतकरणी मुद्रा में सूर्य को ऊपर कर देना है और चन्द्र को नीचे। अर्थात् नाभि का क्षेत्र ऊपर चला जाता है और खोपड़ी जमीन पर आ जाती है। पैर ऊपर, सिर नीचे, यह विपरीतकरणी है।

हठयोग में विपरीतकरणी मुद्रा को सूर्य और चन्द्र के सन्दर्भ में समझाया गया है। यहाँ तो केवल अवस्था का वर्णन किया गया है कि यह स्थिति है, लेकिन कौन-सी पद्धति, कौन-सी विधि को अपनाना है, यह कहीं नहीं बताया गया है, यह कहकर कि *'सर्व तन्त्रेषु गोपिता'* यह साधना, यह शास्त्र अत्यन्त गोपनीय है। इसमें शरीर की प्रक्रियाओं एवं शरीर के भीतर उत्पन्न रसायनों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाता है। यदि हर व्यक्ति यह अभ्यास करके इसके लाभ को प्राप्त करता है, तो शायद वह स्वयं समझ नहीं पायेगा कि क्या हो रहा है, जब तक उसे उसकी जानकारी न हो। इसलिए इसे एक गोपनीय क्रिया कहा गया है।

सावधानियाँ–यह शरीर को विपरीत करने वाला अभ्यास है और जब तक शरीर स्वस्थ न हो, इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, थायराइड अभिवृद्धि या शरीर में विषाक्त तत्त्वों की वृद्धि होने पर इस अभ्यास को नहीं करना चाहिए।

लाभ–महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि जो इस मुद्रा की साधना नित्यप्रति करता है, वह बुढ़ापे और मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, उसे सभी लोकों की सिद्धि प्राप्त होती है और प्रलयकाल में भी उसका नाश नहीं होता।

यह अल्पक्रियाशील थायराइड को सन्तुलित बनाता है तथा सर्दी-जुकाम, गले की सूजन तथा श्वसन सम्बन्धी रोगों का निरोधक है। यह भूख तथा पाचन-क्रिया को बढ़ाता है तथा कब्ज के उपचार में सहायक है। इसका नियमित अभ्यास वाहिकामय तान एवं प्रत्यास्थता को पुन:स्थापित कर एथिरोकाठिन्य का निवारण करता है। यह भ्रंश, बवासीर, अपस्फीत शिराओं एवं हर्निया का उपचार करता है। इन सभी रोगों का प्रकोप गुरुत्वाकर्षण के नीचे की ओर रहने के कारण होता है। मस्तिष्क में, विशेषकर सेरेब्रल कॉर्टेक्स, पीट्यूटरी एवं पीनियल ग्रन्थि में रक्त का संचार बढ़ जाता है। प्रमस्तिष्क की असक्षमता तथा जराजन्य मनोभ्रंश प्रभावहीन होते हैं तथा मानसिक सर्तकता बढ़ती है।

इस मुद्रा में शरीर की विपरीत स्थिति का उपयोग ऊर्जा के अधो एवं बहिर्गामी प्रवाह को उलटकर उसे वापस मस्तिष्क में भेजने के लिए किया जाता है। ऐसा होने पर सम्पूर्ण अस्तित्व नवजीवन से भर जाता है और सजगता का विस्तार होता है। जैसे-जैसे यह अभ्यास सिद्ध होता है, इडा एवं पिंगला नाड़ियों में प्राण का प्रवाह सन्तुलित होता जाता है। यह अवस्था दोनों नासिकाओं में श्वास के समान प्रवाह के द्वारा परिलक्षित होती है। इस अभ्यास का सन्तुलनकारी प्रभाव रोगों की शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर अभिव्यक्ति को रोकने में सहायक होता है।

टिप्पणी – जब इस मुद्रा का अभ्यास आधे-एक घण्टे तक या अधिक समय तक किया जाता है, तब चयापचय की गति बढ़ सकती है। यदि ऐसा होता है तो तदनुसार भोजन ग्रहण करना चाहिए।

6. योनि मुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसामुखम् ।
अंगुष्ठतर्जनी मध्यानामाद्यैः पिदधीत वै ॥49॥
प्राणमाकृष्य काकीभिरपाने योजयेत्ततः।
षट् चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ॥50॥
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजंगिनी ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य पराम्बुजे ॥51॥
शक्तिमयो स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम् ।
नानासुखं विहारं च चिन्तयेत्परमं सुखम् ॥52॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुविभावयेत् ।
आनन्दमानसो स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत् ॥53॥
ब्रह्महाभ्रूणहा चैव सुरापी गुरु तल्पगः।
एतैः पापैर्न लिप्यते योनि मुद्रा निबन्धनात् ॥54॥
योनिमुद्रा परागोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
सकृत्तु लब्धसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥55॥
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रा निबन्धनात् ।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यादि मुक्तिं समिच्छति ॥56॥

अर्थ

सिद्धासन में बैठें और दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों हाथों की तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, मध्यमाओं से नासिका को और अनामिका से मुख को बन्द करें। काकी मुद्रा द्वारा प्राण को खींचकर अपान से मिला दें और शरीरस्थ षट् चक्रों का ध्यान करते हुए 'हूँ' अथवा 'हंस' मन्त्र से कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसके साथ ही जीवात्मा को सहस्त्रार में ले जायें। उस समय यह एकान्त भावना करनी चाहिए कि 'मैं शिव के साथ शक्ति सम्पन्न होकर सुखपूर्वक विहार कर रहा हूँ। शिव-शक्ति के संगम से ही मैं आनन्दमय स्वयंभू ब्रह्म हो गया हूँ।' यह योनि मुद्रा है। इसके साधन से ब्रह्म हत्या, भ्रूण हत्या, सुरापान, गुरुतल्प गमन आदि पापों से मुक्ति मिलती है।

योनि मुद्रा अत्यन्त गोपनीय क्रिया है। देवों के लिए भी यह सहज नहीं है। जो व्यक्ति इसका नियमित अभ्यास कर इस पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें समाधि की प्राप्ति होती है। संसार के सभी महापाप, उप पाप आदि योनि मुद्रा से मिट जाते हैं। इसलिए मुमुक्षुजनों को इसका अभ्यास करना चाहिए ॥49-56॥

व्याख्या

योनि मुद्रा का जो अभ्यास बतलाया गया है, वह बहुत विस्तृत है। यह ज्ञात नहीं कि इसका नाम योनि मुद्रा क्यों पड़ा, क्योंकि इस बात को किसी योग ग्रन्थ में स्पष्ट नहीं किया गया है। हमारा यह अनुमान है कि योनि मुद्रा नाम इसलिए पड़ा कि गर्भ में जिस प्रकार की चेतना मनुष्य की रहती है, चेतना का जो मूल रूप रहता है, उसी चेतना का अनुभव इस अभ्यास में किया जाता है।

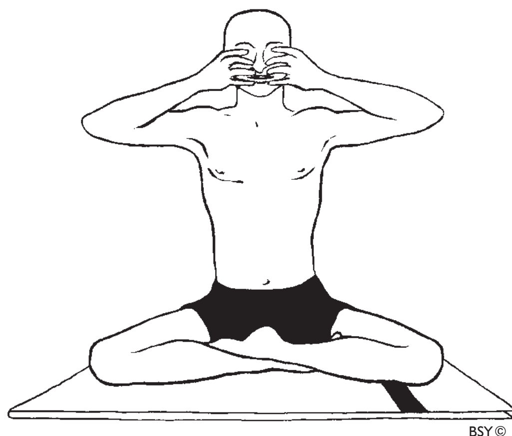
वास्तव में यह मुद्रा हठयोग की क्रिया नहीं है, यह नादयोग की क्रिया है। योग में इसका एक दूसरा नाम भी है 'षण्मुखी मुद्रा'।

विधि– महर्षि घेरण्ड ने निर्देश दिया है "*सिद्धासनं समासाद्य कर्ण चक्षुर्न सोमुखम्। अंगुष्ठ तर्जनी मध्यानामाद्यैः पिदधीत वै ॥*" सिद्धासन में बैठकर अपने हाथ के अँगूठों से कान, तर्जनी से आँखें, मध्यमा से नाक और अनामिका एवं कनिष्ठिका को होठों के ऊपर-नीचे रखते हुए मुँह को बन्द कर दें। यह अभ्यास वास्तव में षण्मुखी मुद्रा का अभ्यास है। षण्मुखी मुद्रा का अर्थ होता है दो कान, दो आँखें, मुँह और नाक, इन छः अंगों की एक विशेष स्थिति। षण्मुखी मुद्रा में निम्नलिखित अभ्यास किया जाता है

काकी मुद्रा के माध्यम से प्राण वायु को अन्दर खींचिये। काकी मुद्रा का अभ्यास होता है ओठों को कौवे की चोंच के समान गोल बनाकर उन से श्वास खींचना और निम्न प्रदेश में स्थित अपान वायु से इसका योग करना। फिर ओठों को परस्पर बन्द करते हुए नासिका से धीरे-धीरे रेचक करना।

अपान वायु से योग का मतलब है पेट को फुलाना और मूलबन्ध का अभ्यास करना, ताकि अपान वायु का प्रवाह, जो नीचे की ओर हो रहा है, वह विपरीत दिशा में हो। अभ्यास का क्रम इस प्रकार है

सिद्धासन में बैठकर षण्मुखी मुद्रा का अभ्यास करना है। ओठों को काकी मुद्रा की अवस्था में लाकर श्वास लेना; पेट को वायु से एकदम भर देना और उसके बाद मूलबन्ध का अभ्यास करना है। 'हं' एवं 'सो' की ध्वनि करते हुए रेचक की क्रिया करनी है।



जिस समय षट्चक्रों में ध्यान को ले जाते हैं, उस समय अन्तर्कुम्भक का अभ्यास होता है और चेतना मूलाधार से स्वाधिष्ठान, फिर मणिपुर, फिर अनाहत, फिर विशुद्धि से होते हुए आज्ञा तक जाती है। अर्थात् छः घड़ी या छः सैकण्ड तक मूलबन्ध लगाते हुए अपनी श्वास को भीतर रोकना और हर चक्र में जाते हुए अपनी चेतना से उसका स्पर्श करना। जब चेतना आज्ञा चक्र में आ जाये तब मुँह को बन्द रखते हुए नाक से श्वास छोड़ना। अजपाजप का मन्त्र होता है 'सोऽहं' और फिर उलटा 'हं सो'। इस मन्त्र का मानसिक उच्चारण करते हुए रेचक क्रिया करनी है।

'चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजंगिनी' इस प्रकार भुजंगिनी के रूप में त्रिपुर भैरवी जो हमारे भीतर सुषुप्त है, उसे चैतन्य किया जाता है, जाग्रत किया जाता है। *'जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे'*, और जीव भाव के साथ, 'मैं' भाव के साथ आत्मा को, या आत्म तत्त्व को देवी के इसी चेतन स्वरूप के साथ ऊपर चढ़ाया जाता है।

'शक्तिमयो स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम्' स्वयं को शक्ति मानकर अपनी चेतना का संयोग शिव से कराना है। सहस्रार में जीव और शक्ति दोनों को स्थापित करना है। *'नानासुखं विहारं च चिन्तयेत्परम सुखम्'* इस अनन्त आनन्द की स्थिति में ध्यान करना है। सभी प्रकार के सुखों का अनुभव करते हुए परम आनन्द की स्थिति पर ध्यान करना है।

नादयोग का अभ्यास होते हुए भी हठयोग में योनि मुद्रा की चर्चा इसलिए की गयी है कि इसके द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि कुम्भक के अभ्यास से

और मन्त्र-सजगता के साथ अपनी चेतना को षट् चक्रों में घुमाकर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत किया जाये। महर्षि घेरण्ड ने *'जीवेन सहितां शक्तिं'* का प्रयोग किया है, अर्थात् जीव की जो चेतना है, मैं का जो ज्ञान है, उस ज्ञान के साथ शक्ति को ऊपर उठाना चाहिए। जीव की चेतना सोऽहं मन्त्र के साथ जाग्रत होती है। 'स: अहम्' वह मैं हूँ। इस पर चिन्तन करते-करते जब शक्ति का संयोग शिव के साथ होता है, तब चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में जागृति की अनुभूति होने लगती है।

चेतना की विभिन्न अवस्थायें षट् चक्रों द्वारा दर्शायी जाती हैं। मूलाधार चक्र में चेतना की एक अवस्था होती है। इसमें एक तत्त्व-धारणा, एक तत्त्व की सजगता होती है। एक तत्त्व पर ध्यान लगता है। स्वाधिष्ठान में दूसरे तत्त्व की धारणा, दूसरे तत्त्व पर ध्यान लगता है। मणिपुर में तीसरे पर, इस प्रकार अन्त में छठे चक्र में सम्पूर्ण मन का योग परम चेतना, शिव के साथ होता है। इस मुद्रा का यही लक्ष्य है शिव और शक्ति दोनों को चेतना में स्थापित कर देना।

इस मन्त्र में 'चिन्तयेत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। चिन्तयेत् शब्द का अर्थ होता है 'ध्यान'। हो सकता है यह थोड़ा विचित्र लगे कि सभी प्रकार के सुखों का उपभोग करते हुए परम आनन्द की स्थिति का ध्यान करना है। यह कैसे सम्भव है? सभी प्रकार के सुख-भोगों की प्राप्ति, जिनका उल्लेख यहाँ पर किया गया है, वस्तुत: हर चक्र में चेतना और प्राण की जाग्रति है। हर चक्र में चेतना और प्राण का जो अनुभव छुपा हुआ है, उस अनुभव को प्राप्त करना, उस अनुभव में अपने आपको लीन कर देना, क्योंकि आत्मिक सुख तो वही है। यहाँ पर सब सुखों का अर्थ भौतिक सुख नहीं, वरन् चेतना के भीतर ऐक्य की जो स्थिति उत्पन्न होती है, चेतना के नये आयामों का जो अनुभव होता और उससे सुख तथा आनन्द की जो प्राप्ति होती है, उसका उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है।

'शिवशक्तिसमायोगादकान्तं भुविभावयेत्। आनन्दमानसो स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत् ॥' शिव और शक्ति के एकान्त योग के आनन्द पर ध्यान करना है और मैं ब्रह्म हूँ, इस विचारधारा पर भी ध्यान करना है। यहाँ पर एकान्त शब्द का प्रयोग किया गया है। एकान्त का अर्थ हम लगाते हैं शान्ति और स्थिरता। जहाँ पर चेतना की जागृति हो गयी हो, वहाँ पर किसी प्रकार की हलचल, विक्षेप या कोलाहल नहीं होता; आन्तरिक शान्ति, आन्तरिक एकाग्रता और तन्मयता की अनुभूति होती है। इसी अवस्था को यहाँ पर एकान्त योग के नाम

से समझाया गया है कि ध्यान की अवस्था में जब भीतर में सभी प्रकार के द्वैत अनुभव समाप्त हो जाते हैं, तब निजस्वरूप में स्थित होकर एकान्त का अनुभव होता है। इस एकान्त में सहस्त्रार चक्र में शिव और शक्ति के संयोग का ख्याल करना है और दोनों के संयोग को द्रष्टा बनकर नहीं देखना है कि मैं साधक हूँ और बैठकर यह कल्पना कर रहा हूँ कि शिव और शक्ति का संयोग सहस्त्रार में हो रहा है, वरन् अपने आपको भी उसमें लीन कर देना है। यह ध्यान की सर्वोच्च अवस्था है।

अपने आपको उसमें लीन किस प्रकार किया जाता है? 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस महावाक्य के अनुभव से। मैं केवल दो को देख नहीं रहा हूँ, क्योंकि यदि मैं दो को देखता हूँ, तो इसका अर्थ हुआ कि मैं अलग और ये दो अलग हैं। लेकिन योनि मुद्रा की साधना में शुरू से ही यह भाव जाग्रत करने के लिए कहा जा रहा है कि वह मैं हूँ, 'सोऽहं'। जब 'वह मैं हूँ' और 'मैं वह है' तब मैं उस तत्त्व से एक हूँ, उससे भिन्न नहीं हूँ। इस प्रकार तत्त्व चिन्तन करके चेतना में परा अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

'योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा। सुकृतु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥' योनिमुद्रा का अभ्यास परम गोपनीय है। देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। जो व्यक्ति इसका नियमित अभ्यास करते हैं, वे समाधि की अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। वास्तव में देखा जाये तो यह समाधि की ही एक अवस्था का वर्णन है, चूँकि सामान्य रूप से अब इसके दो पक्ष सामने आते हैं। यदि सामान्य वातावरण में व्यक्ति षण्मुखी मुद्रा का अभ्यास करे तो उसको क्या अनुभव होगा? पहला अनुभव होगा प्रत्याहार की स्थिति का, चूँकि यहाँ पर चेतना का इन्द्रियों से सम्बन्ध विच्छेद हो रहा है।

यदि षण्मुखी मुद्रा का अभ्यास करते हैं तो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव, जो हमारे मन-मस्तिष्क को हर क्षण प्रभावित करते हुए उन्हें बहिर्मुखी बनाते हैं, शान्त हो जायेंगे। बाह्य प्रभाव समाप्त हो जायेंगे, प्रत्याहार की स्थिति प्राप्त होगी, जिसमें मन अन्तर्मुखी होगा, चेतना अन्तर्मुखी होगी और आन्तरिक इन्द्रियाँ जाग्रत होंगी। प्रत्याहार की इस अवस्था में जब कुम्भक के साथ एक मन्त्र का अभ्यास किया जाता है, तब प्राणमय शरीर स्पन्दित होने लगता है। प्राण के क्षेत्र में जागृति का आभास होने लगता है। भले ही श्वास लेने और छोड़ने की क्रिया में थोड़े कष्ट का अनुभव हो। चूँकि सामान्य रूप से शरीर को जितनी ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है, उतनी नहीं मिलती और शरीर के

भीतर कार्बन डायऑक्साइड जमा होने लगती है। जब कार्बन डायऑक्साइड जमा होने लगती है तब तन्त्रिका-तन्त्र उत्तेजित हो जाता है। तन्द्रा की अवस्था, अर्थात् निद्रा की-सी अवस्था आने लगती है, धीरे-धीरे बाह्य चेतना का लोप होने लगता है।

योगियों ने कुम्भक के द्वारा जान-बूझकर इस अवस्था को लाने का प्रयत्न किया है, ताकि चेतना की एकाग्रता में बाह्य स्थूल इन्द्रियों का विघ्न न हो। चूँकि जब चेतना के भीतर तन्द्रा की स्थिति आती है और मन अन्तर्मुखी होने लगता है, तब यदि सजगता को बढ़ाया जाये तो वही अवस्था हमें ध्यान की स्थिति में ले जाती है। साथ-ही जब मन्त्र का मानसिक उच्चारण होता है तब मानसिक शब्द ध्वनि उत्पन्न कर हमें स्थूल से सूक्ष्म नाद की ओर ले जाता है। नाद का सुनायी देना या न देना इस पर निर्भर है कि एकाग्रता कितनी गहन है। लेकिन जब इस प्रकार के अभ्यास में हम अपनी चेतना को एक स्पन्दन, ध्वनि या मन्त्र में लगाते हैं, तब हम अपने शरीर के भीतर उत्पन्न स्पन्दन को कानों से सुन सकते हैं, जो वैसे तो सदैव होता रहता है, लेकिन हम उसे अपने कानों से सुन नहीं पाते।

लाभ– 'यानि पापानि घोराणि उप पापानि यानि च। तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रा निबन्धनात् ॥' अर्थात् घोर-से-घोर पाप तथा उप पाप का योनि मुद्रा से नाश हो जाता है। अन्तिम श्लोक इसका निष्कर्ष है

'तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति' इसका अभ्यास करने से मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति मुक्ति या निर्वाण प्राप्ति के इच्छुक हैं, उन्हें योनि मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। यहाँ पर योनि मुद्रा का उल्लेख ध्यान में समाधि की अवस्था की प्राप्ति और नादानुभूति के सन्दर्भ में किया गया है। अन्त में महर्षि घेरण्ड ने समाधि के विविध प्रकारों का वर्णन किया है। उनमें से एक है नाद समाधि, नादानुभूति से ही समाधि की प्राप्ति और इसकी प्राप्ति के लिए योनि मुद्रा का उल्लेख उन्होंने पुनः अन्त में किया है।

शारीरिक-मानसिक लाभ–शारीरिक रूप से हाथों एवं अंगुलियों की ऊर्जा तथा ऊष्मा चेहरे की मांसपेशियों को उद्दीप्त करती एवं शिथिल बनाती है। यह अभ्यास आँखों, नाक एवं गले के संक्रमणों तथा भ्रमि के उपचार में सहायक होता है। मानसिक रूप से यह अन्तः एवं बाह्य चेतना में सन्तुलन लाता है।

7. वज्रोणि मुद्रा

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां ऊर्ध्वे क्षिपेत्पाद युगंशिरखे ।
शक्ति प्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रा मुनयो: वदन्ति ॥57॥
अयं योगे योग श्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम् ।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायक: ॥58॥
एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
सिद्धे विन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ॥59॥
भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम् ॥60॥

अर्थ

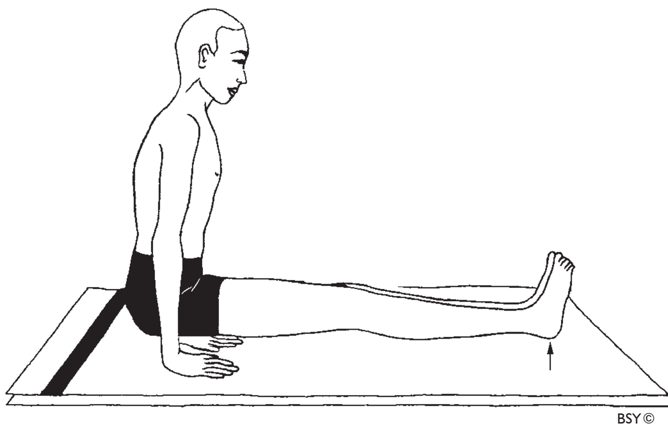
दोनों हाथों को दृढ़तापूर्वक धरती पर टेकें और दोनों पैरों तथा सिर को आकाश में उठा दें।

ज्ञानियों ने इसे शक्ति संचार करने वाली तथा जीवन प्राप्त कराने वाली वज्रोणि मुद्रा कहा है। यह मुद्रा योगियों के लिए मुक्ति देने वाली, हितकारिणी, सिद्धिदायिनी तथा श्रेष्ठ है। इसके प्रसाद से बिन्दु सिद्ध होने के कारण साधक ऊर्ध्वरेतस्तत्त्व में समर्थ होता है और जब बिन्दु सिद्धि प्राप्त कर ली जाती है, तब पृथ्वी पर कौन-सा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता? यदि भोगी मनुष्य भी इस मुद्रा का साधन करें, तो उन्हें सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं ॥57-60॥

व्याख्या

विधि– तन्त्र शास्त्र में इस अभ्यास का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि तन्त्र शास्त्र में पंचमकार साधना के अन्तर्गत पुरुषों के लिए वज्रोली मुद्रा, स्त्रियों के लिए सहजोली मुद्रा और ब्रह्मचारियों के लिए वज्रोणि मुद्रा बतलायी गयी है, जिससे वे अपनी अधोगामी शक्ति को ऊर्ध्वगामी बना सकें।

वज्रोणि मुद्रा के मन्त्रों से ठीक-ठीक मालूम नहीं पड़ता कि यह अभ्यास किस प्रकार किया जाता है, लेकिन इस मुद्रा का सम्बन्ध एक आसन से है, जिसे हम ब्रह्मचर्य आसन कहते हैं। ब्रह्मचर्य आसन में सबसे पहले पैरों



को सामने फैलाकर बैठ जाते हैं। हथेलियों को नितम्बों के समीप रखते हैं। अंगुलियाँ सामने की ओर रहती हैं। भुजाओं पर बल डालते हुए शरीर को भूमि से ऊपर उठाते हैं। पैर सीधा एवं जमीन के समानानन्तर रहना चाहिए। सम्पूर्ण शरीर हाथों के सहारे सन्तुलित रहता है। आसनों के उल्लेख में इस अभ्यास का नाम है ब्रह्मचर्य आसन और मुद्राओं के उल्लेख में इसका नाम है वज्रोणि मुद्रा।

इस अभ्यास को करते समय जब शरीर भूमि पर रहता है तब पूरक करते हैं। उसके बाद श्वास को भीतर रोक कर पैरों को ऊपर उठा देते हैं। जब तक अन्तर्कुम्भक कर सकते हैं, इसी स्थिति में रहते हैं। उसके बाद पहले जमीन पर आ जाते हैं, शरीर को विश्राम देते हैं और तब रेचक करते हैं।

देखा गया है कि इस क्रिया के अभ्यास के क्रम में पूरा शरीर, मूत्रेन्द्रिय, गुदा-द्वार, जाँघ की मांसपेशियाँ, पैरों की सभी मांसपेशियाँ तथा कमर की मांसपेशियाँ संकुचित हो जाती हैं और स्वाभाविक रूप से मूलबन्ध लगता है। मूलबन्ध लगता ही नहीं, जबरदस्त मूलबन्ध लगता है। और यह बन्ध शरीर की वज्र नाड़ी को प्रभावित करता है, जिससे इसका नाम वज्रोणि मुद्रा पड़ा।

लाभ–वज्र नाड़ी का सम्बन्ध योगियों ने पाचन प्रक्रिया और ब्रह्मचर्य, अर्थात् वीर्य धारण करने से जोड़ा है। यहाँ पर कहा गया है *'ऐतद् योग प्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्'* जिस योग के अभ्यास से बिन्दु की सिद्धि होती है, वह मनुष्यों में वीर्य सिद्धि है। इसके अन्य पक्ष भी हो सकते हैं।

सामान्य रूप से पुरुषों को स्वप्न दोष होता है, जो एक मानसिक रोग है, शारीरिक तो नहीं ही है। जब किसी व्यक्ति का अपने मन की विचारधारा और भावना पर नियन्त्रण नहीं रहता और कामुक विचार मन में आते हैं, वासनापूर्ण विचार निद्रा के समय आते हैं, तब उनका प्रभाव इन्द्रियों पर पड़ता है और इसी प्रभाव के कारण स्वप्न दोष होता है। यह शारीरिक रोग नहीं है। लेकिन फिर भी कहा जाता है कि जब इन्द्रियाँ कमजोर रहती हैं, विशेषकर प्रजनन इन्द्रियाँ, तब मानसिक उद्वेग का प्रभाव उन इन्द्रियों पर पड़ता है और वीर्य को शरीर से बाहर निकालता है। इससे लोग बहुत घबरा जाते हैं कि मेरे शरीर से शक्ति निकल गयी, ऊर्जा निकल गयी, लेकिन अगर आप वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखेंगे, तो इसमें कोई दोष नहीं है। शारीरिक दृष्टि से भी इसमें कोई दोष नहीं है। दोष हमारे मन में है। दोष हमारी अपराध की भावना और संस्कार में है, जिन्हें हमने दबाया है, जिन्हें हमारे माता-पिता ने बचपन से दमित किया है। लेकिन जब शरीर के भीतर एक प्रतिक्रिया शुरू होती है, तब शरीर से ज्यादा मन प्रभावित होता है और मानसिक विषाद, चंचलता और उत्तेजना की स्थिति प्राप्त होती है। व्यक्ति की भूख-प्यास मिट जाती है।

इसके नियन्त्रण के लिए वज्रोणि मुद्रा का अभ्यास किया जाता है। कहा जाता है कि अन्य योगाभ्यासों में यह सबसे बड़ा अभ्यास है *'अयं योगे योगश्रेष्ठो।'* अर्थात् यह अत्यधिक लाभदायक है। *'योगिनां सिद्धिदायक:'* योगियों को सिद्धि प्रदान करता है। सावधानी एवं प्रयत्नपूर्वक किये गये अभ्यास से बिन्दु सिद्धि प्राप्त होती है, और जिस व्यक्ति को बिन्दु पर नियन्त्रण प्राप्त होता है, उसके लिए पृथ्वी पर कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता।

योगियों ने इसके पीछे एक और विचारधारा को जोड़ दिया है कि इन्द्रियों को मजबूत करने और शक्तिशाली बनाने के अतिरिक्त जब शरीर में वीर्य की रक्षा होती है, तब शुक्राणु में छिपी जीवनीशक्ति की भी रक्षा होती है और यह जीवनीशक्ति सूक्ष्म शरीर में चक्रों को प्रभावित करती है। इसीलिए आगे कहा गया है– *'सिद्धे बिन्दौमहायत्ने किं न सिध्यति भूतले'* बिन्दु सिद्धि से मनुष्य पृथ्वी तत्त्व पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसका सिद्धान्त बहुत सरल है। मूलाधार चक्र प्रजनन का केन्द्र है, पृथ्वी तत्त्व का केन्द्र है। सामान्य अवस्था में मूलाधार चक्र की शक्ति बाह्य शक्ति का रूप लेती है, मूलाधार चक्र की शक्ति का स्खलन होता है। जब इस शक्ति की रक्षा की जाती है तो सूक्ष्म शरीर में

यही शक्ति ऊर्जा का रूप लेकर, प्राण का रूप लेकर कुण्डलिनी के जागरण में सहायक सिद्ध होती है। इसीलिए आसनों में भी इसका उल्लेख 'ब्रह्मचर्य आसन' के नाम से किया गया है शरीर की वह अवस्था, वह आसन जिसमें मनुष्य ब्रह्मचर्य को धारण कर सके।

यह भी कहा गया है *'भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्। तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम् ॥'* इन्द्रिय सुख-लोलुपता अत्यधिक रहने पर भी, इन्द्रिय सुख के पीछे भागते रहने पर भी, इस मुद्रा के अभ्यास से सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

8. शक्तिचालिनी मुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली पर देवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्ध त्रिवलयान्विता ॥61॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत् ॥62॥
उद्घाटयेत्कवाटं च यथा कुंचिकयाहठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥63॥

नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥64॥
वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥65॥
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत् ।
संलिप्य भस्मनागात्रं सिद्धासनमाचरेत् ॥66॥
नासाभ्यां प्राणमाकृष्याप्यपाने योजयेद्बलात् ।
तावदाकुंचयेद् गुह्यमश्विनीमुद्रया शनैः॥67॥
यावद्गच्छेत्सुषुम्णायां हठाद्वायुः प्रकाशयेत् ।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजंगिनी ॥68॥
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा चोर्ध्वमार्ग प्रपद्यते ।
विना शचिालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति ॥69॥
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां ततोऽभ्यसेत् ।
इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम् ॥70॥

गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ॥71॥
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।
नित्यंयोऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥72॥

अर्थ

मूलाधार में जो कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरा लगाये हुए सर्पिणी के रूप में सो रही है, उसके सोते रहने पर जीव पशु (अज्ञानी) की अवस्था में रहता है। इसलिए जब तक ज्ञान उत्पन्न न हो तब तक अभ्यास करते रहना चाहिए।

जिस प्रकार कुंजी से ताला खुलने पर ही किवाड़ खुलता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर ही ब्रह्म-रन्ध्र खुल सकता है। नाभि को वस्त्र से लपेटकर एकान्त में इसका अभ्यास करें। नग्न रहकर बाहर इस मुद्रा का अभ्यास निषिद्ध है ॥61-64॥

बित्ते भर चौड़ा चार अँगुल लम्बा कोमल वस्त्र नाभि पर लगाकर कटि सूत्र में बाँधें। शरीर में भस्म रमा कर सिद्धासन में बैठें और प्राण को खींचकर अपान से युक्त करें। जब तक सुषुम्ना द्वार से चलती हुई वायु प्रकाशित न हो, तब तक अश्विनी मुद्रा द्वारा गुह्य को संकुचित करें। इस प्रकार वायु के रुकने से कुम्भक द्वारा सर्प रूपिणी कुण्डलिनी जाग्रत होकर मार्ग में ऊपर खड़ी हो जाती है ॥65-68॥

शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास के बिना योनिमुद्रा सिद्ध नहीं हो सकती। पहले इस शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास करें, फिर योनि मुद्रा का। हे चण्डकपाल! इस प्रकार यह शक्तिचालिनी मुद्रा जो मैंने कही है, इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखते हुए नित्यप्रति अभ्यास करें। जो भी इसका अभ्यास करता है, उसे विग्रह-सिद्धि सहित सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और सभी रोगों का नाश होता है ॥69-72॥

व्याख्या

शक्तिचालिनी मुद्रा में कुण्डलिनी योग के सिद्धान्त को संक्षेप में, सूत्र रूप में समझाया गया है। इस मुद्रा के सम्बन्ध में कहा गया है कि कुण्डलिनी जाग्रत करने की एक यौगिक विधि शक्तिचालिनी मुद्रा है। इसका अभ्यास निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है:

विधि– एक बित्ता (नौ इन्च) लम्बा और चार अँगुल चौड़ा स्वच्छ, नरम, श्वेत कपड़ा लेकर उसे नाभि-प्रदेश पर पतले धागे से कमर में लटका दीजिये, ताकि खिसके नहीं। कपड़े से गाँठ बाँधने के लिए मना किया जाता है, क्योंकि गाँठ बड़ी हो जाती है। यदि आप एक सुतली या धागे से लटकाते हैं, तो गाँठ का दबाव शरीर पर नहीं पड़ता। इसलिए कपड़े को न बाँधकर उसे कसकर

लपेट लेते हैं, जितना आप सामान्य रूप से, बिना रक्त परिसंचरण को रोके कस सकते हैं, और उसके ऊपर एक डोरी बाँध देते हैं।

'संलिप्य भस्मनागात्रं सिद्धासनं समाचरेत्' अपने शरीर में पवित्र भस्म लगाकर सिद्धासन में बैठ जाइये। *'नासाभ्यां प्राणमाकृष्यापाने योजयेद्बलात्'* नासिका से प्राणवायु अन्दर खींचिये, अर्थात् लम्बा और गहरा पूरक कीजिये और उसका योग अपान वायु के नीचे के क्षेत्र में कीजिये। अर्थात् जब हम श्वास लेते हैं तब श्वास को छाती में नहीं, पेट में लेने का प्रयत्न करना है और उड्डियान बन्ध द्वारा अपान वायु का ऊपर की ओर प्रेरण कर उसे प्राणवायु से मिलाना है। नाभि प्रदेश में बन्धन के रहने से, शरीर के भीतर जो हवा का दबाव है, वह गुदा द्वार की ओर होने लगेगा।

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि इस अभ्यास को तब तक करना चाहिए जब तक कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर न उठ जाये। अब हम इस अभ्यास के पहले मन्त्र में आते हैं। महर्षि घेरण्ड अपने शिष्य राजा चण्डकपालि को समझाते हैं कि मूलाधार चक्र के क्षेत्र में आत्म-शक्ति का निवास कुण्डलिनी के रूप में है और यह आत्मशक्ति एक सर्पिणी के रूप में साढ़े तीन कुण्डल मारे स्थित है।

'यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा। ज्ञानं न जायते तावत्कोटि योगं समभ्यसेत्॥' अर्थात् जब तक मनुष्य के भीतर यह शक्ति सुषुप्त अवस्था में रहती है या निद्रा अवस्था में रहती है तब तक मनुष्य का जीवन पशु की भाँति होता है। अर्थात् उसकी चेतना का विकास नहीं हुआ होता। वह वृत्तियों पर चलता है, जिस प्रकार एक जानवर वृत्तियों पर चलता है। भूख लगने पर खाता है; नींद आने पर सोता है; सोचता-विचारता नहीं, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलता है। जब भूख लगती है, खाता है; जब भोग की इच्छा होती है, भोग करता है; जब सोने की इच्छा होती है, सोता हैं। वह अपने गुणों के अधीन रहता है। अपनी वासनाओं, कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के अधीन रहता है। ऐसी स्थिति में हजारों योग के अभ्यासों के द्वारा भी मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसकी चेतना का विस्तार नहीं हो सकता।

'उद्घाटयेत् कपाटं च यथाकुञ्चिकया हठात्। कुण्डलिन्या: प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत्॥' अर्थात् जिस प्रकार ताले को बिना चाबी के नहीं खोला जा सकता, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मद्वार को भी कुण्डलिनी को जाग्रत किये बिना नहीं खोला जा सकता। योग के दृष्टिकोण से ब्रह्मद्वार का अर्थ है परा और अपरा

जगत् के बीच का द्वार। वह द्वार जो हमारे भौतिक और आध्यात्मिक जगत् की अनुभूतियों के बीच है, उसे योगियों ने नाम दिया 'ब्रह्मद्वार'। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के पश्चात् जब वह द्वार खुलता है, तब ही मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ सक्रिय हो जाती हैं।

'नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिःस्थितः। गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्॥' अर्थात् कुण्डलिनी जाग्रत करने का यह एक तरीका है। खुले बदन में इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। वस्त्र को लपेट कर, एकान्त में बैठ कर शक्तिचालनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार का निर्देश महर्षि घेरण्ड ने अपने शिष्य चण्डकपालि को दिया है।

'इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्। गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत्॥' अर्थात् यह एक गुप्त अभ्यास है, जिसको प्रतिदिन अभ्यास करके सिद्ध किया जा सकता है।

'मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी' यह क्रिया अत्यन्त गुप्त है। बुढ़ापे एवं मृत्यु का नाश करने वाली है। 'तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः' सिद्धि प्राप्ति के इच्छुक योगियों को तन्मयतापूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए।

'नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता' जो व्यक्ति प्रतिदिन इसका अभ्यास करते हैं, उन्हें अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। *'तस्य विग्रह सिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत्'* इसके अभ्यासी को 'विग्रह-सिद्धि' प्राप्त होती है। उसके सब शारीरिक दोष मुक्त हो जाते हैं और ग्रहण शक्ति अत्यधिक विकसित हो जाती है।

9. तड़ागी मुद्रा

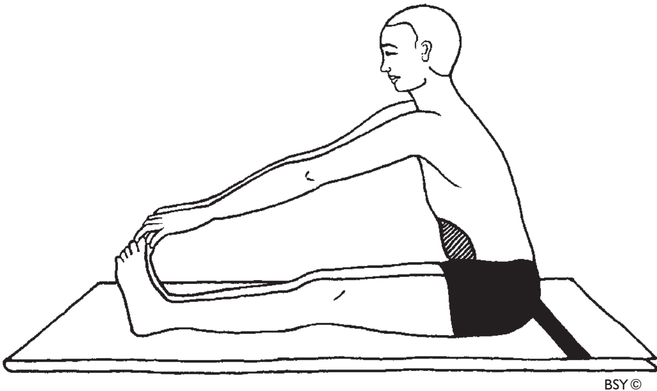
उदरंपश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिः।
ताडागी सा परामुद्रा जरा मृत्यु विनाशिनी ॥73॥

अर्थ

पश्चिमोत्तान आसन में बैठें और पेट को इस प्रकार फुलायें मानो उसके भीतर पानी भरा हो। यह एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है, जिससे बुढ़ापे एवं मृत्यु का भय दूर हो जाता है ॥73॥

व्याख्या

विधि– इसमें मुख्य अभ्यास पेट का है। पैरों को सामने फैलाकर बैठते हैं। पैर आपस में थोड़ी दूरी पर रहें। पूरे अभ्यास की अवधि तक पैर सीधे रहने चाहिए। हाथों को घुटनों पर रखते हैं। सिर एवं मेरुदण्ड को सीधा रखते हैं। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को, विशेषकर पेट को शिथिल बनाते हैं। इसके पश्चात् आगे झुक कर अपने पंजों को हाथों से पकड़ लेते हैं। पूरा नहीं झुकते, जहाँ तक हो सके पीठ को सीधा रखने का प्रयास करते हैं। इसके बाद श्वास अन्दर खींच कर पेट को जितना फुला सकें, फुलाते हैं। फेफड़ों पर बिना किसी प्रकार का जोर डाले जितनी देर तक सुविधापूर्वक श्वास अन्दर रोक सकते हैं, रोकते हैं। फिर श्वास छोड़ते समय पेट को अन्दर करते हैं। इसे तड़ागी मुद्रा कहते हैं।



यदि एक बर्तन को पानी से आधा भरकर उसे हिलाते हैं, तो पानी का वेग पहले एक ओर जाता है, फिर दूसरी ओर। यही प्रभाव इस अभ्यास के दौरान पेट के भीतर उत्पन्न किया जा रहा है। इसके लिए पेट का खाली होना आवश्यक है। पेट को फुलाते और अन्दर ले जाते हैं। श्वास की यह प्रक्रिया एक प्रकार से बर्तन के पानी की प्रक्रिया के समान है। एक समान गति से, बिना किसी अवरोध के यह क्रिया होती रहनी चाहिए।

आवृत्ति– 3 से 5 आवृत्ति करें।

सजगता– शारीरिक रूप से पेट पर, आध्यात्मिक रूप से मणिपुर चक्र पर।

सावधानियाँ– गर्भवती महिलायें तथा हर्निया या भ्रंश से पीड़ित लोगों को यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

तड़ागी मुद्रा से दो प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं एक शारीरिक है और दूसरा आन्तरिक या आध्यात्मिक।

शारीरिक लाभ– पश्चिमोत्तानासन करने से बड़ी आँत और छोटी आँत का निचला भाग अवरुद्ध हो जाते हैं। वायु के द्वारा जब हम अपने आन्तरिक अंगों को फुलाते हैं, तब केवल पेट फूलता है, मध्यपट की जो झिल्ली है, उसका विस्तार होता है और जब वायु को बाहर निकालते हैं, तब इस झिल्ली का संकुचन होता है, जिससे पूरे धड़ में एक प्रकार का दबाव उत्पन्न होता है। मध्यपट तथा श्रोणिय प्रदेश में संचित तनाव दूर हो जाते हैं। यह क्रिया विशेषकर उदर प्रदेश को और उसके ऊपर के भाग को प्रभावित करती है, उनमें रक्त संचार बढ़ाती है। पाचन-संस्थान को सुदृढ़ और सन्तुलित बनाये रखने तथा पाचन सम्बन्धी रोगों के उपचार के लिए इसका अभ्यास किया जाता है। आन्त्र प्रदेश का शिराजाल उद्दीप्त होता एवं स्वस्थ बनता है।

उन लोगों को भी यह अभ्यास सिखाया जाता है, जिन्हें श्वास लेने का सही तरीका मालूम नहीं है, जो सामान्य रूप से छाती से श्वास लिया करते हैं। समान्यत: लोग कसरत करते और यह धारणा रखते हैं कि छाती का विस्तार होना चाहिए; छाती चौड़ी होनी चाहिए, श्वास लेकर जबरदस्ती छाती को फुलाने का प्रयास करते और पेट को अन्दर दबा कर रखते हैं, इससे फेफड़ों के ऊपरी भागों पर बहुत दबाव पड़ता है और नीचे के भागों में तनाव उत्पन्न होता है, जिसके कारण कुछ लोगों को श्वास की तकलीफ होने लगती है।

फेफड़ों के निचले भाग की मांसपेशियाँ कमजोर पड़ने लगती हैं और फेफड़े अपनी क्षमता खोने लगते हैं। शारीरिक लाभ की दृष्टि से ऐसे लोगों को इस अभ्यास के द्वारा पेट से श्वास लेना सिखाया जाता है।

इससे मणिपुर चक्र में, जो कि सम्पूर्ण शरीर में ऊर्जा के वितरण का केन्द्र है, जागृति आती तथा प्राण का स्तर धीरे-धीरे बढ़ता है।

10. माण्डुकी मुद्रा

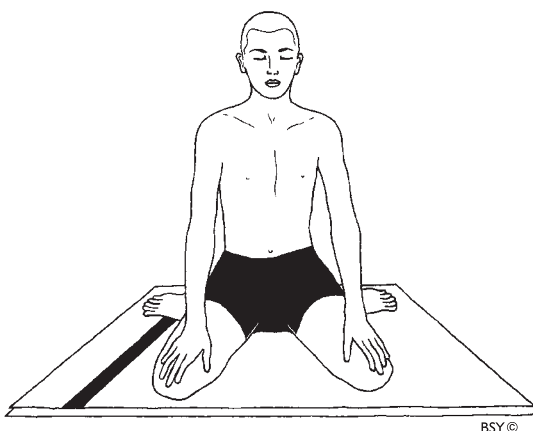
मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डुकीं मुद्रिकां विदुः ॥74॥
वलितंपलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ॥75॥

अर्थ

मुख को बन्द करके तालू में जिह्वा को घुमाना चाहिए और जिह्वा से सहस्रार से टपकते सुधा-रस को धीरे-धीरे पान करना चाहिए। यह माण्डूकी मुद्रा कहलाती है। इसके अभ्यास से बली, पलित आदि रोग दूर होते हैं। शरीर में झुर्रियाँ पड़ना और बालों का सफेद होना रुक जाता है तथा स्थायी यौवन की प्राप्ति होती है ॥74-75॥

व्याख्या

विधि– वज्रासन में बैठकर घुटनों को जितना सम्भव हो दूर-दूर फैलायें। फिर पैरों को इतना फैलायें कि नितम्ब उनके बीच से भूमि पर टिक जायें। पैरों की अंगुलियाँ बाहर की ओर रहें। यदि पैरों की अंगुलियों को बाहर की ओर रखते हुए बैठने में असुविधा हो तो उन्हें अन्दर की ओर कर लें।



यदि यह भी कठिन लगे तो मूलाधार पर दबाव डालने के लिए नितम्बों के नीचे एक मुड़ा हुआ कम्बल रख लें। हाथों को घुटनों के ऊपर रखें। सिर एवं मेरुदण्ड को सीधा रखें। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनायें।

माण्डूकी मुद्रा का अभ्यास मुख को बन्द करके किया जाता है। उस समय जिह्वा को दायें-बायें और ऊपर-नीचे घुमाना चाहिए। इस अभ्यास से ग्रन्थि स्राव प्रारम्भ होगा, इसी को सुधा या अमृत कहते हैं। इसका पान करना अभ्यास से ही सिद्ध होता है। यह अमृत साधक के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर और शरीर को बल प्रदान करने वाला है। इस मुद्रा में जिह्वा का घुमाव मेंढक की उछाल की तरह इधर-उधर होता है, इसलिए इसका यह नामकरण किया गया है।

लाभ– इसका अभ्यास करने वाले व्यक्ति कभी बूढ़े नहीं होते, क्योंकि इस मुद्रा के प्रभावस्वरूप झुर्रियाँ नहीं पड़तीं; शारीरिक कोशिकाओं का ह्रास नहीं होता, अत्यधिक लावण्य की प्राप्ति होती है तथा बाल सफेद नहीं होते।

कुण्डलिनी योग के दृष्टिकोण से देखें तो मूलाधार चक्र को जाग्रत करने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण अभ्यास है, तथा ध्यान की अवस्था में दिव्य गन्ध को ग्रहण करने के लिए भी उपयोगी है।

11. शाम्भवी मुद्रा

नेत्रान्तरं समालोक्य चात्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेच्छाम्भवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता ॥76॥
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयं तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥77॥
स एव ह्यादिनाथश्च स च नारायण: स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥78॥
सत्यं सत्यं पुन: सत्यं सत्यमाह महेश्वर:।
शाम्भवीं यो विजानीयात्स च ब्रह्म न चान्यथा ॥79॥
कथिता शाम्भवीमुद्रा श्रृणुष्व पंचधारणाम् ।
धारणानि समासाद्य किं न सिद्धयति भूतले ॥80॥
अनेन नर देहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥81॥

अर्थ

दृष्टि को दोनों भौहों के मध्य स्थिर कर 'स्वयं' पर, अर्थात् 'अपनी आत्मा' पर ध्यान करें। यही शाम्भवी मुद्रा है। तन्त्र शास्त्र का यह बहुत गुप्त अभ्यास है। वेद, शास्त्र और पुराण सर्वसाधारण स्त्री के समान हैं और शाम्भवी मुद्रा कुलवधु के समान है। इसका अभ्यास करने वाले साधक स्वयं आदिनाथ नारायण और जगत् स्रष्टा ब्रह्मा ही हैं। यह कथन सत्य समझो कि शाम्भवी मुद्रा का ज्ञाता पुरुष साक्षात् ब्रह्मरूप ही होता है।

ऊपर शाम्भवी मुद्रा का वर्णन किया गया, अब पंचधारणा मुद्रा को कहते हैं। इसके सिद्ध होने पर ऐसा कौन-सा कार्य है जो सिद्ध न हो सके। इन पंचधारणाओं के सिद्ध होने पर मनुष्य शरीर से ही स्वर्ग में आ-जा सकता है। इनके द्वारा उसकी गति मन के समान हो जाती और खेचरत्व की प्राप्ति होती है ॥76-81॥

व्याख्या

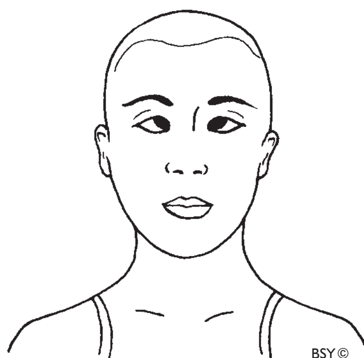
शाम्भवी मुद्रा एक असाधारण क्रिया है। इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को है। अत: महर्षि घेरण्ड ने इसे एक बड़े घर की बहू की उपमा दी है। इसके विपरीत

वेद, पुराण एवं शास्त्रों को सर्वसाधारण स्त्री कहा है, जिसे सभी जानते हैं, क्योंकि इनसे प्राय: सभी व्यक्तियों का परिचय है। इस प्रकार शाम्भवी मुद्रा वेद-पुराण-शास्त्र से उच्च स्थान रखती है।

इस मुद्रा में व्यक्ति आत्मा रूपी ईश्वर का ध्यान करता है। अत: वह अपनी आत्मा का संयोग ब्रह्मा, विष्णु और महेश, तीनों देवों से करता है। इन तीनों देवों के साथ वह एकाकार हो जाता है। महर्षि घेरण्ड ने शाम्भवी मुद्रा के अभ्यासी को भगवान् शिव, नारायण और सृष्टिकर्ता ब्रह्मा माना है। शाम्भवी मुद्रा का अभ्यासी 'शिव' होता है, 'नारायण' बन जाता है और 'ब्रह्मा' तुल्य हो जाता है।

देवी शाम्भवी, अर्थात् पार्वती को सम्बोधित करते हुए शिवजी इस सत्य पर प्रकाश डालते और इस बात की सचाई पर जोर देते हैं कि शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास में पूर्णता प्राप्त व्यक्ति ब्रह्मा का अवतार होता है।

विधि–किसी सुविधाजनक आसन में बैठ जायें। सिर एवं मेरुदण्ड को सीधा रखें और हाथों को चिन् या ज्ञान मुद्रा में घुटनों के ऊपर रखें। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनायें। चेहरे की ललाट, आँखों एवं आँखों के पृष्ठ भाग की सम्पूर्ण मांसपेशियों को शिथिल बनायें। धीरे-से आँखें खोलकर सामने किसी बिन्दु पर दृष्टि को एकाग्र करें। सम्पूर्ण शरीर को पूर्णत: स्थिर रखें। फिर दृष्टि को ऊपर की ओर ले जाकर भ्रूमध्य पर केन्द्रित कर दें। सिर नहीं हिलना चाहिए। जब सही विधि से इसका अभ्यास होता तब दोनों भौंहों से नासिका मूल में 'ट' की आकृति बनती है। यदि ट की आकृति दिखायी नहीं देती, तो इसका अर्थ है कि आँखें भ्रूमध्य की ओर उस प्रकार अभिमुख नहीं है, जिस प्रकार उन्हें होना चाहिए। आँखों में थोड़ा भी तनाव अनुभव होने



पर उन्हें बन्द कर विश्राम दें। विचार प्रक्रिया को रोककर बन्द आँखों के सामने चिदाकाश में ध्यान करने का प्रयास करें।

श्वास– जब आँखों की गति पर नियन्त्रण हो जाए तो उनकी गति को श्वास के साथ जोड़ें। आँखों को ऊपर ले जाते समय धीरे-धीरे श्वास अन्दर लें और नीचे लाते समय श्वास छोड़ें।

अवधि– 5 आवृत्ति से आरम्भ करें तथा कुछ महीनों में आवृत्तियों की संख्या 10 तक बढ़ा दें।

सावधानियाँ– आँखें बहुत संवेदनशील होती हैं, इस कारण उन्हें अन्तिम स्थिति में बहुत देर तक नहीं रखना चाहिए। यदि नसें कमजोर हों और तनाव होने लगे तो दृष्टिपटल वियोजन हो सकता है। यदि किसी प्रकार के तनाव का अनुभव हो तो तुरन्त आँखों को सामान्य स्थिति में ले आयें।

ग्लूकोमा तथा दृष्टिपटल विकृति से पीड़ित व्यक्तियों को तथा जिन व्यक्तियों का हाल ही में मोतियाबिन्द का ऑपरेशन हुआ हो, लैंस बदला हो या आँख की कोई अन्य शल्यक्रिया हुई हो, उन्हें कुशल मार्गदर्शन के अभाव में यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– यह अभ्यास मन एवं प्राण को संयत करता है। इससे एकाग्रता, मानसिक स्थिरता तथा विचारशून्यता की अवस्था आती है। कुछ समय के अभ्यास से ही मस्तिष्क अध्यात्म चिन्तन में मग्न होने में समर्थ हो जाता है। कुण्डलिनी योग के परिप्रेक्ष्य में यह आज्ञा चक्र को जाग्रत करने वाली एक शक्तिशाली क्रिया है। आज्ञा चक्र निम्न एवं उच्च चेतना को जोड़ने वाला केन्द्र है। यह अभ्यास शारीरिक लाभ प्रदान कर आँखों के स्नायुओं को मजबूत बनाता है तथा इस क्षेत्र में संचित तनाव को दूर करता है। इस अभ्यास से मानसिक शान्ति प्राप्त होती है तथा तनाव, क्रोध एवं चिन्ता का निवारण होता है। शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास पीनियल ग्रन्थि के ह्रासी विकास को धीमा कर देता है, इसलिए बच्चों के भावनात्मक विकास के लिए आठ वर्ष की अवस्था से इसके अभ्यास का सुझाव दिया जाता है।

इसके पश्चात्, शिवजी माँ पार्वती का ध्यान पंचधारणा की ओर आकृष्ट करते हैं एवं उसका महत्त्व स्पष्ट करते हैं। उनके शब्दों में "यदि इनमें सिद्धि प्राप्त कर ली जाय, तो फिर सिद्धि हेतु कुछ शेष नहीं रह जाता।"

पंचधारणा का वर्णन हम पूर्व में कर चुके हैं। पंचधारणा के अन्तर्गत विश्व के पाँच तत्त्वों भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश की ग्रहणशक्ति सम्मिलित

है। प्रकृति के इन पाँचों तत्त्वों पर व्यक्ति का अधिकार ही पंचधारणा की पूर्णता है। पंचधारणा के अभ्यास के बाद व्यक्ति में इतना सामर्थ्य आ जाता है कि वह सशरीर स्वर्ग में जाकर पुन: वापस आ सकता है। वह अपनी इच्छित दिशा में कहीं भी भ्रमण कर सकता है। अपनी चेतना को इच्छानुसार कहीं भी विचरण हेतु भेज सकता है।

12. अश्विनी मुद्रा

आकुंचयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥82॥
आश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥83॥

अर्थ

गुदा द्वार का बार-बार संकोच और प्रसार करें यह अश्विनी मुद्रा कहलाती है। इससे कुण्डलिनी का जागरण होता है। यह मुद्रा गुह्य रोगों को नष्ट करने वाली, शारीरिक शक्ति को बढ़ाने वाली और अकाल मृत्यु का हरण करने वाली है ॥82-83॥

व्याख्या

विधि– गुदा को संकुचित कीजिये, पुनः उसको मुक्त कीजिये। गुदा को सिकोड़ने एवं फैलाने की क्रिया ही अश्विनी मुद्रा कहलाती है। प्रयत्न करें कि केवल गुदा द्वार का संकुचन हो। संकुचन एवं प्रसार लयबद्ध होना चाहिए।

यह मुद्रा महत्त्वपूर्ण है। गुदा एवं जननेन्द्रियों की सभी बीमारियों का निवारण करती है। शरीर में शक्ति का संचार करती है। इसका अभ्यासी बल एवं पुष्टि प्राप्त कर सदा स्वस्थ रहता है। उसकी असमय मृत्यु नहीं होती, अर्थात् वह दीर्घजीवी होता है। यह मुद्रा इतनी सरल है कि इसको करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

अवधि– इस अभ्यास के लिए समय की कोई पाबन्दी नहीं है। जितना समय उपलब्ध हो, उतना अभ्यास करें। तथापि नये अभ्यासी अपनी पेशियों पर आवश्यकता से अधिक जोर न डालें। गुदा द्वार की पेशियों की सबलता एवं उन पर नियन्त्रण की वृद्धि के साथ-साथ अभ्यास की अवधि को क्रमशः बढ़ायें।

सावधानियाँ– गुदा नाल व्रण से पीड़ित व्यक्ति इसका अभ्यास न करें।

लाभ– इस अभ्यास के परिणामस्वरूप अश्व की तरह ही गुदा के स्नायुओं पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है। इस अभ्यास की सिद्धि पर व्यक्ति अपनी प्राणशक्ति के ह्रास को रोकने में समर्थ हो जाता है। इस तरह शक्ति का संचय

होता है और इसका प्रवाह ऊपर की ओर होता है, जिससे आध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति होती है। यह मूलबन्ध की प्रारम्भिक क्रिया है। गुदा या गर्भाशय के बाह्यगत होने की दशा में इसका अभ्यास लाभप्रद है, विशेषकर सिर के बल किये जाने वाले आसनों के साथ इसका योग प्रभावपूर्ण होता है। आँतों के वक्रों को क्रियाशील बनाते हुए अपचन दूर करती है। यह आँतों के क्रमाकुंचन गति को उत्तेजित करती है और इस प्रकार कब्ज के निवारण में काफी सहायक सिद्ध होती है। इससे अभ्यासी के सामान्य स्वास्थ्य में सुधार आता है। गुदा द्वार के पास रक्त के जमाव को बवासीर का लक्षण माना जाता है। अश्विनी मुद्रा इस संग्रहीत रक्त को निचोड़कर गुदा द्वार के पास से हटा देती है। जो लोग गुदा द्वार या मलाशय के अपभ्रंश से पीड़ित हैं, वे भी इस मुद्रा का नित्यप्रति अभ्यास करें। इस प्रकार सम्बन्धित पेशियों के शक्तिशाली बन जाने पर ये व्याधियाँ धीरे-धीरे दूर जायेंगी।

13. पाशिनी मुद्रा

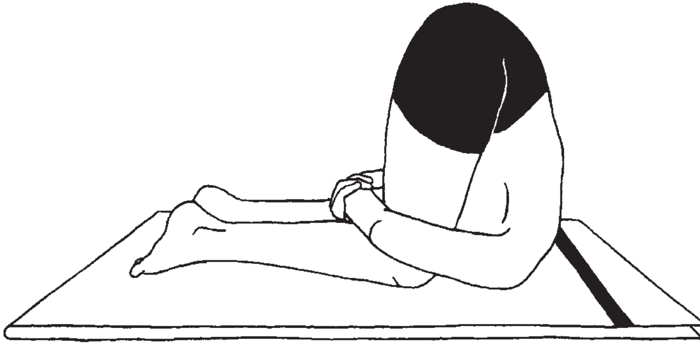
कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम् ।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥84॥
पाशिनी महती मुद्रा वयपुष्टि विधायिनी ।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः ॥85॥

अर्थ

दोनों पैरों को कण्ठ के पीछे की ओर ले जाकर उन्हें परस्पर मिलाकर पाश के समान दृढ़ता से बाँध लें। यह शक्ति को जाग्रत करने वाली पाशिनी मुद्रा है। यह बल और पुष्टि देने वाली है। सिद्धि की आकांक्षा वाले योगी को प्रयत्नपूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए ॥84-85॥

व्याख्या

विधि– पैरों को सीधा एवं आपस में सटाकर रखते हुए पीठ के बल लेट जायें। भुजाओं को शरीर की बगल में रखें। हथेलियाँ नीचे की ओर रहें। पेट की मासंपेशियों का उपयोग करते हुए पैरों को उठाकर शरीर के लम्बवत् कर लें। भुजाओं से जमीन पर दबाव डालते हुए नितम्बों एवं धड़ को जमीन से ऊपर उठायें। पैरों को सिर की ओर मोड़ते हुए जमीन से छुआने का प्रयत्न करें। फिर पैरों को लगभग आधा मीटर दूर-दूर फैला लें। घुटनों को मोड़कर जाँघों को वक्ष के समीप लायें, जब तक घुटने, कान, कन्धे एवं जमीन का स्पर्श न करने



लगें। भुजाओं को पैरों के पीछे दृढ़ता से बाँध लें। इस स्थिति में पूरे शरीर को शिथिल बनायें। आँखें बन्द कर धीमी-गहरी श्वसन क्रिया करें।

जब तक सुविधापूर्वक इस स्थिति में रह सकते हों, रहें। फिर धीरे से भुजाओं को मुक्त कर प्रारम्भिक स्थिति में आयें।

सजगता– शारीरिक रूप से गर्दन के विस्तार पर और आध्यात्मिक रूप से मूलाधार या विशुद्धि चक्र पर।

क्रम–इस मुद्रा का अभ्यास पीछे मुड़ने वाले किसी आसन के पश्चात् करना चाहिए।

सावधानियाँ–हर्निया , स्लिपडिस्क, साइटिका, उच्च रक्तचाप या मेरुदण्ड सम्बन्धी रोगों, विशेषकर गर्दन के गठिया से पीड़ित व्यक्ति इसका अभ्यास न करें।

लाभ–पाशिनी मुद्रा शरीर को बलवान् बनाती है। जो इसके अभ्यास में सफल हो जाता है, वह बड़े-बड़े अद्भुत कार्यों को करने में सक्षम हो सकता है, क्योंकि यह मुद्रा शक्ति जागरण के अभ्यास में भी सहायक होती है। इसकी पूर्णता प्राप्ति पर साधक अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति करने में समर्थ हो जाता है।

यह अभ्यास नाड़ी-संस्थान में सन्तुलन और स्थिरता लाता है। प्रत्याहार की स्थिति उत्पन्न करता है। मेरुदण्ड एवं उसके चारों ओर की नाड़ियों को क्रियाशील बनाता है। पृष्ठ एवं उदरस्थ अंगों की अच्छी तरह मालिश करता है। प्रजनन अंगों को शक्ति प्रदान करता है। इसके द्वारा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य विषयक सभी कमियाँ दूर हो जाती हैं।

14. काकी मुद्रा

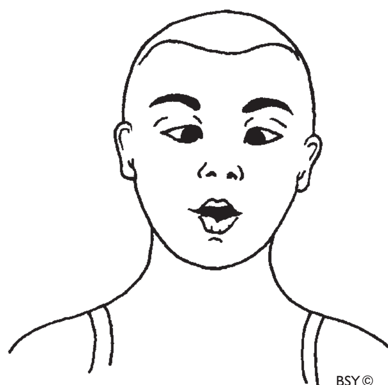
काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोग विनाशिनी ॥86॥
काकी मुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता ।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत् ॥87॥

अर्थ

मुख को कौवे की चोंच के समान करके उसके द्वारा शनैः शनैः वायु पान करें। यह सब रोगों को नष्ट करने वाली काकी मुद्रा होती है। इस परम मुद्रा को सब प्रकार से गुप्त रखना चाहिए। मुद्रा के अभ्यास से कौवे के समान रोग-राहित्य की प्राप्ति होती है ॥86-87॥

व्याख्या

विधि– ध्यान के किसी सुविधाजनक आसन में बैठें। सिर एवं मेरुदण्ड को सीधा रखें। हाथ घुटनों के ऊपर चिन् या ज्ञान मुद्रा में रहें। आँखें बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनायें। आँखें खोलकर दृष्टि को नासिकाग्र पर केन्द्रित करें। प्रयास करें कि पूरे अभ्यास के दौरान पलकें न झपकें। कौवे की चोंच बाहर की ओर लम्बी होती है, उसी तरह की मुखाकृति बनायें और जिह्वा के द्वारा धीरे-धीरे वायु को मुख के भीतर खींचें।



इस मुद्रा में नासिका द्वारा वायु नहीं खींची जाती। पूरक की समाप्ति पर मुँह को बन्द कर नासिका से श्वास छोड़ें। सब तन्त्रों में काकी मुद्रा सर्वोत्तम एवं सबसे गुप्त क्रिया है।

अवधि– इस अभ्यास को लम्बे काल तक किया जा सकता है, किन्तु ख्याल रखें कि आँखों में तनाव उत्पन्न न हो।

सजगता– श्वास और उससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि तथा नासिकाग्र पर।

क्रम– यह मुद्रा शरीर के ताप को सन्तुलित बनाती है, इसका अभ्यास शरीर में ताप उत्पन्न करने वाले प्राणायामों के बाद करना चाहिए।

समय– इसका अभ्यास दिन में किसी भी समय किया जा सकता है। यद्यपि सर्वोत्तम समय है प्रात:काल या मध्य रात्रि। ठण्ढ के मौसम में इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

सावधानियाँ– काकी मुद्रा का अभ्यास प्रदूषित वातावरण या अत्यधिक ठण्ढ के मौसम में नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें नासिका की सामान्य छनित्र क्रिया तथा वातानुकूलन की क्रिया नहीं होती।

विषाद, निम्न रक्तचाप या दीर्घकालिक कब्ज से पीड़ित व्यक्तियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– काकी मुद्रा शरीर एवं मन में शीतलता लाकर, उच्च रक्तचाप आदि रोगों का निवारण कर मानसिक तनावों को कम करती है। स्वास्थ्य के लिए यह मुद्रा अत्यन्त लाभकर है। इससे शरीर की पाचन शक्ति बढ़ती है और अनेक रोगों से छुटकारा मिलता है। यह रक्त को भी शुद्ध बनाती है। इस क्रिया के प्रभाव स्वरूप मनुष्य सब बीमारियों से कौवे के सदृश मुक्त रहता है। सभी बीमारियों को नष्ट करने की शक्ति काकी मुद्रा में है। यह मान्यता है कि कौवे को कभी कोई रोग नहीं होता और वह दीर्घायु होता है। शरीर को नीरोग रखने के लिए योगियों को इस मुद्रा का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

इस क्रिया में होठों को सिकोड़ने तथा उनसे भीतर खींचाने वाली वायु का मुख की झिल्ली से सम्पर्क होने पर पाचक रसों का स्राव बढ़ जाता है, जिससे पाचन क्रिया में सुधार होता है।

15. मातंगिनी मुद्रा

कण्ठमग्नेजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ॥88॥
नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी ॥89॥
विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः ।
कुर्यान्मातंगिनी मुद्रां मातंग इव जायते ॥90॥
यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते ।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकांपराम् ॥91॥

अर्थ

जल में कण्ठ पर्यन्त खड़े होकर नासिका से जल खींचकर मुख द्वार से बाहर निकालना चाहिए। फिर मुख के द्वारा जल खींचकर नासिका द्वारा निकालें। इसका अभ्यास बार-बार करना चाहिए। यह मातंगिनी नाम की परम मुद्रा है, जिसके सिद्ध होने पर जरा-मरण का भय नहीं रहता। इसे किसी जनरहित एकान्त स्थान में एकाग्रचित्त से करना चाहिए। इसके सिद्ध होने पर योगी हाथी के समान बलवान हो जाता है और सदा सुखी रहता है। इस मुद्रा को यत्नपूर्वक सिद्ध करना चाहिए ॥88-91॥

व्याख्या

मातंग का अर्थ होता है हाथी। जैसे पानी में बैठकर हाथी खेलता है, वैसी ही क्रिया इस मुद्रा में की जाती है। क्रिया इस प्रकार है:

विधि– गले तक पानी में बैठिये। नाक से पानी खींचिये। पानी मुँह तक पहुँचने पर उसे मुँह के द्वारा बाहर निकाल दीजिये। अब मुँह से पानी खींचकर नासिका से निकालिये। पुनः नासिका से जल खींचिये। इस प्रकार यह क्रिया कई बार दुहराइये। यही मातंगिनी मुद्रा है, जो शरीर के नाश एवं मृत्यु को व्यक्ति से दूर रखती है।

लाभ– विशेष स्थान में अखण्ड एकाग्रता के साथ यह क्रिया सम्पन्न की जाती है। इसका अभ्यासी हाथी के सदृश शक्तिशाली एवं बलवान् बनता है।

इसका अभ्यासी योगी कहलाता है। जहाँ वह बैठेगा, वहीं उसे आनन्द-लाभ होगा। अत: मुद्राओं में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए व्यक्ति को इसका अभ्यास श्रमपूर्वक, सावधानी से करना चाहिए। इससे उसे आनन्द सिद्धि की प्राप्ति होगी। इस अभ्यास की सिद्धि थोड़े-से अभ्यास से ही हो जाती है।

16. भुजंगिनी मुद्रा

वक्त्रं किंचित्सुप्रसार्य चानिलं गलया पिवेत् ।
सा भवेद् भुजंगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥92॥
यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः ।
तत्सर्वंनाश्येदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी ॥93॥

अर्थ

मुख को फैलाकर, खोल कर कण्ठ से वायु का पान करें। यह भुजंगिनी मुद्रा कहलाती है। इसके सिद्ध होने पर जरा-मृत्यु का नाश होता है। इससे अजीर्णादि सभी उदर रोग नष्ट हो जाते हैं ॥92-93॥

व्याख्या

विधि– ध्यान के किसी सुविधाजनक आसन में बैठें। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को, विशेषकर पेट को शिथिल बनायें। ठुड्डी को थोड़ा आगे एवं ऊपर करें। मुँह को पूरा खोलकर कण्ठ से वायु खींच कर, जिस प्रकार पानी को गटकते हैं, उसी प्रकार उसे पेट में भरने का प्रयास करें। पेट को यथासम्भव वायु से भरकर फैला लें। प्रयास करें कि वायु फेफड़ों में न भरे। जितनी देर सुविधापूर्वक श्वास रोक सकते हों, रोकें। फिर डकार के रूप में उसे बाहर निकालें।

कुछ भिन्नता लिए हुए यह मुद्रा काकी मुद्रा के समतुल्य है। इस मुद्रा में समूचे मुख को फैला कर कण्ठ के द्वारा वायु खींची जाती है। ऐसा करने से वायु तालू, मूल और जिह्वा के मध्य घूमती है, जिससे शरीर अभूतपूर्व शक्ति का अनुभव करने लगता है।

अवधि– सामान्य स्वास्थ्य के लिए 3 से 5 आवृत्ति तक अभ्यास पर्याप्त है। विशेष रोगों के उपचार के लिए आवृत्तियों की संख्या बढ़ाई जा सकती है।

क्रम– इस मुद्रा का अभ्यास किसी भी समय किया जा सकता है। किन्तु शंखप्रक्षालन के पश्चात् इसका अभ्यास करने पर यह विशेष शक्तिशाली होती है।

लाभ– यह अभ्यास पाचक रस उत्पन्न करने वाली ग्रन्थियों एवं अन्न नलिका की दीवारों को नवजीवन प्रदान करता है। उदर को स्वस्थ बनाता है। इस प्रदेश में एकत्र पुरानी वायु का निकास करता है। वायु को पेट में रोकने से अभ्यासी पानी में चाहे जितनी देर तैर सकता है।

उपसंहार

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्डकापाले ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ॥94॥
शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥95॥
ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्ति प्रदायकम् ॥96॥
मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधि विनाशकम् ।
नित्यमभ्यास शीलस्य जठराग्निविवर्धनम् ॥97॥
तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य वार्धक्यमायते ।
न चाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ॥98॥
कासः श्वासः प्लीहा कुष्ठं श्लेष्मरोगाश्चविशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः॥99॥
बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते ।
नास्ति मुद्रासमंकिंचिद् सिद्धिदं क्षितिमण्डले ॥100॥

अर्थ

महर्षि राजा से कहते हैं–हे चण्डकपालि! अभी तक मैंने जितनी मुद्राओं के बारे में तुम्हें बतलाया है, वे सभी इच्छाओं की पूर्ति करती हैं, जरा और मृत्यु को दूर रखती हैं ॥94॥

दुष्ट एवं अयोग्य व्यक्ति को इसकी शिक्षा नहीं देना। ये मुद्राएँ देवताओं के लिए भी दुर्लभ हैं ॥95॥

इन मुद्राओं से भोग और मोक्ष, दोनों की प्राप्ति होती है। यह ज्ञान उन्हें ही दिया जाता है जिन्होंने गुरु के चरणों में अपने आप को समर्पित कर दिया हो, अच्छे घराने के हों और जिनके मन में शान्ति का साम्राज्य हो ॥96॥

इसके नियमित अभ्यास से सब रोगों का निवारण होता है और जठराग्नि तीव्र होती है ॥97॥

बुढ़ापे और मृत्यु की चिन्ता नहीं रह जाती। साधक को न मृत्यु छू सकती है और न बुढ़ापा। उसे जल, वायु और अग्नि से किसी प्रकार का भय नहीं रहता ॥98॥

दमा, यकृत, कोढ़, सर्दी आदि बीस प्रकार के कफ की तकलीफ का नाश वर्णित मुद्राओं के अभ्यास से होता है। इसमें कोई संशय नहीं है ॥99॥

हे चण्ड! मुद्राओं के विषय में सभी बातें मैंने तुम्हें बतला दीं और अधिक कुछ कहना नहीं है। विश्व में मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी क्रिया नहीं है जिससे सफलता एवं पूर्णता प्राप्त की जा सके ॥100॥

व्याख्या

सब मुद्राओं की विधि, महत्त्व आदि के स्पष्टीकरण के पश्चात् एक बार पुनः महर्षि घेरण्ड राजा को उनके महत्त्व एवं उपयोग के प्रति सचेत करते हैं। महर्षि घेरण्ड ने पहले अध्याय के दसवें और ग्यारहवें मन्त्र में सात योग-विधियों का वर्णन किया है। जिसमें पहला है, *'षट्कर्मणा शोधनं च'* षट्कर्मों द्वारा शरीर का शुद्धिकरण होता है। दूसरा है, *'आसनेन भवेद्दृढम्'* आसनों द्वारा शारीरिक और मानसिक दृढ़ता, बल की प्राप्ति होती है। *'मुद्रया स्थिरता चैव'* मुद्रा द्वारा स्थिरता का अनुभव होता है। *'प्रत्याहारेन धीरता'* प्रत्याहार द्वारा मन को इन्द्रियों से अलग कर धैर्य की प्राप्ति होती है।

इस तीसरी विधि के सन्दर्भ में उन्होंने मुद्राओं का जो वर्णन किया है, उसमें तीन प्रकार के अभ्यास बतलाये हैं। पहला, बन्ध, दूसरी धारणा और तीसरी मुद्रा। इन सभी को महर्षि घेरण्ड ने एक ही समूह में रखा है।

धारणा तो मानसिक एकाग्रता की एक विधि है, जिसका उद्देश्य है पंच तत्त्वों को जाग्रत कर, अपने मन को एक तत्त्व में केन्द्रित कर, उस तत्त्व की पूर्ण अनुभूति प्राप्त करना। धारणा का क्षेत्र है मूलाधार से विशुद्धि तक।

बन्धों के वर्णन में उन्होंने तीन बन्ध बतलाये हैं मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध। इनके अतिरिक्त उन्होंने महाबन्ध की चर्चा भी की है। बन्धों का प्रभाव भी चक्रों और प्राण के क्षेत्र पर पड़ता है। मूलबन्ध से मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र प्रभावित होते हैं; उड्डियान बन्ध से मणिपुर और अनाहत चक्र तथा जालन्धर बन्ध से विशुद्धि और आज्ञा चक्र प्रभावित होते हैं।

महर्षि घेरण्ड ने मुद्राओं का वर्णन करते समय चक्रों और कुण्डलिनी पर अधिक जोर दिया है। कहते हैं कि इस मुद्रा के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। इस प्रकार उन्होंने अलग-अलग मुद्राओं के सम्बन्ध में वर्णन किया है।

मुद्राओं के सन्दर्भ में उन्होंने जिस स्थिरता का वर्णन किया है उसका अर्थ हम लगा सकते हैं प्राणमय कोश और मनोमय कोश की स्थिरता। शारीरिक

स्थिरता की चर्चा उन्होंने आसनों के वर्णन में की है कि आसनों के अभ्यास से शरीर को दृढ़ता और बल की प्राप्ति होती है। जब आसन दृढ़ हो जाये, तब शरीर स्थिर होता है। अन्नमय कोश के सम्बन्ध में उन्होंने आसनों के वर्णन में कह दिया कि अन्नमय कोश हमारा भौतिक शरीर है। इसमें स्थिरता और शक्ति का आभास आसनों के अभ्यास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

अन्नमय कोश के बाद बचते हैं मनोमय कोश और प्राणमय कोश। मनोमय कोश को भी महर्षि घेरण्ड ने अनेक भागों में बाँट दिया है। वे आगे कहते हैं प्रत्याहार द्वारा स्थिरता और धैर्य की प्राप्ति होती है। धैर्य की प्राप्ति, जिसका उल्लेख यहाँ पर इस मन्त्र में किया गया है, उससे यह मालूम पड़ता है कि मानसिक एकाग्रता के पश्चात् मन:शक्तियों को अपने नियन्त्रण में करने की जो विधि है, उसके फलस्वरूप हमें धैर्य की प्राप्ति होती है।

लेकिन मनोमय कोश को अपने नियन्त्रण में लाने के लिए, अपने आपको सन्तुलित बनाने के लिए यह आवश्यक है कि पहले मन की एकाग्रता प्राप्त हो। मन का पहला स्वरूप है चंचल और प्राण का भी यही स्वरूप है। अत: प्राण के क्षेत्र से चञ्चलता को समाप्त करना और मानसिक चंचलता को समाप्त करके एकाग्रता को बिन्दु चक्र तक ले जाना मुद्रा समूह के अभ्यासों का उद्देश्य है।

प्राणशक्ति जो चंचल है, उसे यदि शान्त करने का प्रयत्न किया जाये तो कैसे या कहाँ पर? अभी तक हमने प्राण के कुछ रूपों को ही समझा है। प्राण का एक रूप पंच प्राणों में और दूसरा रूप चक्रों में दिखायी देता है। मूलाधार में प्राण का एक स्वरूप, स्वाधिष्ठान में दूसरा, मणिपुर में तीसरा, अनाहत में चौथा और विशुद्धि में प्राण का पाँचवाँ स्वरूप होता है। तो चक्रों में अवस्थित प्राण और पंच प्राण, ये प्राण की दो अलग-अलग अवस्थायें है। पंच प्राण स्थूल अवस्था है और चक्रों में प्राणशक्ति का आभास सूक्ष्म अवस्था है।

बन्ध, मुद्रा और धारणा के अभ्यासों द्वारा महर्षि घेरण्ड ने यह प्रयत्न किया है कि स्थूल और सूक्ष्म प्राणों की अभिव्यक्ति को, प्रतिक्रिया को चेतन नियन्त्रण में लाया जाये। जब तक प्राण पर चेतन नियन्त्रण नहीं होगा, तब तक शक्ति की जागृति नहीं होगी और प्राण के निरोध एवं संयम के लिए उन्होंने सर्वप्रथम मुद्राओं का अभ्यास बतलाया है। मन को एकाग्रता के केन्द्र पर ले जाने और उसकी बाह्य चंचलता को समाप्त करने के लिए मुद्राओं का वर्णन किया है। तत्पश्चात् गहराई में जाकर आगे के अभ्यासों में प्रत्याहार और प्राणायाम की

चर्चा करते हुए मन को दूसरी अवस्था में ले जाने का प्रयास किया है, जो चंचलता के बाद आती है। प्राणायाम के द्वारा प्राण के दूसरे क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो स्थूल और सूक्ष्म प्राण को चेतन नियन्त्रण में लाने के पश्चात् होता है।

महर्षि घेरण्ड का मत है कि प्रारम्भ में स्थिरता की प्राप्ति मुद्राओं के अभ्यास से होती है। फिर क्रम आता है प्रत्याहार का, जिसका वर्णन अगले अध्याय में होगा।

मुद्राओं के अभ्यास के अन्तर्गत शाम्भवी मुद्रा का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि शाम्भवी मुद्रा के अभ्यासी स्वयं शिव हो जाते हैं; स्वयं नारायण बन जाते है और ब्रह्मतुल्य बन जाते है। इसमें एक विशेषता और है कि शाम्भवी पार्वती का एक नाम है। पार्वती की मानसिकता को यदि देखें तो कथा के अनुसार एक ही विचारधारा पार्वती में दिखायी देती है कि भले ही मेरा जन्म अनेक बार हो, किन्तु मुझे हमेशा शिव सायुज्य प्राप्त हो। यही विचारधारा सती के रूप में थी। यही विचारधारा पार्वती ने अपनी तपस्या के समय व्यक्त की थी कि अगर शिव को प्राप्त करने के लिए मुझे बार-बार जन्म लेना पड़े तो भी मुझे कोई कष्ट नहीं होगा। मेरी इच्छा हर बार यही रहेगी कि मैं शिव तत्त्व को प्राप्त करूँ।

जन्म कोटि लौं रगर हमारी।
वरौं शंभु नत रहौं कुमारी।

पार्वती के विश्लेषण में जो एक तत्त्व धारणा या तत्त्व चिन्तन बतलाया गया है, उसी का उल्लेख यहाँ पर यह कह कर किया जा रहा है कि भृकुटियों के मध्य में ब्रह्मा, विष्णु और शिव का ध्यान करते हुए इन तीनों को एकाकार कर दो। यदि इस अभ्यास में पूर्णता प्राप्त कर ली जाय तो आत्मारूपी ईश्वर का अनुभव अवश्य होगा और इसके बाद यह भी कहा गया है कि इसका अभ्यास पंच धारणा के साथ होना चाहिए, क्योंकि पंचतत्त्व धारणा के अन्तर्गत जो पाँच तत्त्व होते हैं भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश साधक को उनकी ग्रहणशीलता प्राप्त होती है।

अध्याय 4

प्रत्याहार प्रकरण

मन की अन्तर्मुखता

इन्द्रियों के माध्यम से मन को नियन्त्रित करने की प्रक्रिया ही प्रत्याहार कहलाती है। चतुर्थ अध्याय में इसी 'प्रत्याहार' की शिक्षा संक्षेप में महर्षि घेरण्ड ने अपने शिष्य राजा चण्डकपालि को दी है। प्रारम्भिक मन्त्रों में वे धैर्य की व्याख्या इन्द्रियों के साथ जोड़कर करते हैं। उनका विचार है कि यदि हम अपने मन को इन्द्रियों की अनुभूति से पृथक् कर दें, तो उन विषयों एवं पदार्थों का प्रभाव स्वत: समाप्त हो जायेगा, जो मन में किसी प्रकार की बाह्य नकारात्मक या सकारात्मक भावना को जाग्रत कर उसके धीरज को समाप्त कर देते हैं, और मन की अन्तर्मुखता की अवस्था प्राप्त होगी।

अब इसमें पहले एक बात को समझ लिया जाय कि जब यह घोषणा की गयी है कि धैर्य की प्राप्ति होती है, तब इसका अर्थ हुआ कि पहले से ही यह अनुमान लगाया गया है या जाना गया है कि जीवन में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं, जिनका सामना होने पर मनुष्य अपना धैर्य खो बैठता है। महर्षि घेरण्ड ने किस दृष्टिकोण से इस विचारधारा को सामने रखा, यह कहना तो कठिन है, लेकिन अपने स्तर पर यदि हम देखें और अनुमान लगायें कि मनुष्य अपने जीवन में धैर्य कब खोता है, तो शायद इसके पीछे कोई मनोवैज्ञानिक रहस्य मिल जाये और इस रहस्य के सूत्र को पकड़कर फिर प्रत्याहार के वर्णन में आगे बढ़ा जाये।

योग के अनुसार मनुष्य आसक्ति के कारण अपना धैर्य खोता है, विशेषकर आसक्ति का वह रूप जिसमें व्यक्तिगत चाह, कामना, स्वार्थ एवं सन्तुष्टि की भावना छुपी हो। आसक्ति का सम्बन्ध इन सब तत्त्वों के साथ है, क्योंकि ये सब एक साथ मिलकर अपने बाह्य रूप में आसक्ति को जन्म

देते हैं। स्वार्थ की भावना, महत्त्वाकांक्षा और अहंकार के संयोग से आसक्ति का जन्म होता है।

महत्त्वाकांक्षा और अहंकार से आसक्ति कैसे जन्म ले सकती है? महत्त्वाकांक्षा हम लोगों की एक ऐसी कामना है जिसमें हम अपने आपको एक दूसरे रूप में देखना चाहते हैं। गरीब अपने आपको एक लखपति, करोड़पति के रूप में देखना चाहता है। एक स्वार्थी व्यक्ति अपने जीवन में अपनी सभी कामनाओं की पूर्ति चाहता है। निकृष्ट-से-निकृष्ट और उच्च-से-उच्च वस्तु, दोनों को प्राप्त कर वह स्वयं के अहंकार को बढ़ाने की कामना रखता है और जहाँ इस प्रकार का स्वार्थ छिपा हो, वहाँ इसकी पूर्ति के लिए आसक्ति जन्म लेती है।

अहंकार के द्वारा आसक्ति का जन्म होता है, क्योंकि अहंकार में अपने आप के आकार को बड़ा करने की इच्छा छिपी है। 'मैं' का जो रूप है, उसके द्वारा दूसरों को दबाने की इच्छा छिपी है, दूसरे अनुभवों को पीछे हटाने की शक्ति छिपी है। इस प्रकार जब हम अपने मन को देखते हैं, मन में उत्पन्न अवस्थाओं को देखते हैं, तब आसक्ति किसी-न-किसी रूप में अवश्य दिखलायी पड़ती है। इसी आसक्ति के कारण हमारी मन:शक्तियाँ एकाग्र न रह कर विक्षिप्त और चंचल हो जाती हैं। कहते हैं कि चंचलता मन का स्वभाव है, लेकिन मन की स्थिर अवस्था में मन को जो विश्राम प्राप्त होता है वह चंचल अवस्था में नहीं। जिस प्रकार एक बालक दिन भर बहुत चंचल रहता है, दौड़ता-कूदता है, लेकिन एक समय आता है जब वह शान्त होकर सो जाता है, उसी प्रकार मन का स्वभाव है चंचल, लेकिन मन की मूल स्थिति है शान्त, जिसमें वह स्वयं को पुन: शक्ति से भरता है।

जब हमारी चेतना, सजगता और बुद्धि इस चंचलता के आवेग में आकर अपना सन्तुलन खो बैठती हैं, तब धैर्य की कमी होती है। जब हम भावना के प्रवाह में बहकर अपना सन्तुलन खो देते हैं, तब भावना के अनुसार तत्काल उस कर्म को करना चाहते हैं जिससे हमारे स्वार्थ की पूर्ति हो, कामना की पूर्ति हो। मन को चंचल बनाने और उस स्वार्थपूर्ण कामना पूर्ति के लिए इन्द्रियाँ अपनी शक्ति का प्रयोग करती हैं। इन्द्रियों की शक्ति है सुख की इच्छा, सुख की खोज। छोटी-छोटी-सी घटना में भी यह बात दिखलायी देती है। यदि कोई व्यक्ति जोर-जोर से बिना किसी ताल के नगाड़ा पीटने लगे तो लोग उसे चुप करा देंगे। लेकिन यदि कोई जानकार व्यक्ति गाने-बजाने लगे तो हम अपने आपको उसी में लीन कर देंगे, क्योंकि वह संगीत कर्णप्रिय होता है। श्रवण इन्द्रिय के भोग की एक

सीमा है, जहाँ तक उसे अच्छा लगता है, उसके स्वार्थ की पूर्ति होती है। ठीक इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ सुख-भोग की कामना करती हैं। आँखें हमेशा अच्छी चीजें देखना चाहती हैं; जीभ हमेशा अच्छा स्वाद लेना चाहती है; त्वचा हमेशा एक सुखद स्पर्श का अनुभव करना चाहती है, न ज्यादा ठण्ढा न ज्यादा गर्म।

इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ, चाहे ज्ञानन्द्रियाँ हों या कर्मेन्द्रियाँ, विक्षिप्त अवस्था में मन की सजगता के एक अंश को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। यदि पूरी सजगता एक ओर आकृष्ट हो जाये, एक ही इन्द्रिय के पीछे जाये और उस इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान को हम जानें, समझें तो यह चेतना के विकास की प्रक्रिया हो सकती है। लेकिन हमारी सजगता भी अनेक दिशाओं में, अनेक इन्द्रियों में बँट जाती है, बिखर जाती है, जिससे हमें ज्ञान प्राप्ति के बदले तनाव, क्षोभ और निराशा की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इन्द्रियाँ भी धैर्य खोने का एक कारण बन जाती हैं।

हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे हमारे कहे अनुसार रहें, हमारे कहे अनुसार कार्य करें, हमारे कहे अनुसार चलें। अपने सहकर्मियों से भी हमें यह अपेक्षा रहती है कि वे मुझे अच्छा व्यक्ति मानें, मुझमें हर प्रकार के गुण देखें और मेरा अनुसरण करें। परिवार के सदस्यों के साथ भी आदमी एक विशेष प्रकार की नकाब स्वयं ही पहन लेता है और यह नकाब पहने-पहने वह अपना बाह्य जीवन व्यतीत करता है। अत: ये सब कारण माने गये हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अपने अन्त:करण का सन्तुलन खो बैठता है और चेतना के विकास में ये विघ्न के रूप में उपस्थित होने लगते हैं। इसी कारण महर्षि घेरण्ड ने स्वीकार किया है कि सन्तुलन नहीं बिगड़ना चाहिए, धीरज नहीं खोना चाहिए और सजगता का अभाव नहीं होना चाहिए। इसी धीरज की प्राप्ति के लिए वे राजा चण्डकपालि को निम्नलिखित उपदेश देते हैं–

षट् शत्रु वर्णन

अथात: सम्प्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम् ॥1॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥2॥
पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं वा भयानकम् ।
मनस्तमान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥3॥

आत्म-लयत्व

सुगन्धे वाऽपि दुर्गन्धे मनो घ्राणेषु जायते ।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥4॥
मधुराम्लकतिक्तादिरसं गतं यदा मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥5॥

अर्थ

महर्षि घेरण्ड ने कहा कि अब मैं प्रत्याहार का वर्णन करता हूँ, जिसे करने से कामादि शत्रुओं का नाश होता है। जहाँ-जहाँ यह चंचल मन विचरण करे, इसे वहीं-वहीं से लौटाने का प्रयत्न करते हुए आत्मा के वश में करें। पुरस्कार, तिरस्कार, सुनने में सुखद, सुनने में अरुचिकर वचनों से मन को हटाकर आत्मा के वश में करें। सुगन्ध और दुर्गन्ध से मन को हटा लें। मधुर, अम्ल, तिक्त आदि रसों की ओर मन आकृष्ट हो तो उसे वहाँ से हटा कर आत्मा के वशीभूत करें। यही प्रत्याहार है ॥1-5॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड ने कहा कि अब मैं प्रत्याहार के विषय में कहने जा रहा हूँ। प्रत्याहार के ज्ञान मात्र से मनुष्य के शत्रुओं, जैसे, कामना, तृष्णा, इच्छा इत्यादि का नाश होता है। वे कहते हैं कि यदि कहीं पर तुम्हें अपमान का सामना करना पड़े, या मान और प्रशंसा मिले तो इसका प्रभाव मन पर नहीं पड़ने देना।

विषम परिस्थितियों में भी सामान्य मनःस्थिति को बनाये रखना प्रत्याहार की साधना है। अर्थात् न तो प्रसिद्धि के समय गर्व करना है और न सुख के समय खुशी प्रकट करनी है, न दुःख में उदास होना है और न अपमानजनक स्थिति में क्रुद्ध होना है।

जब कभी मन इधर-उधर भागने का प्रयत्न करे और अपनी एकाग्रता को खोने लग जाये, तब उस समय अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति, अर्थात् संकल्पशक्ति से मन को पुनः अपने स्थान में ले आओ। जो व्यक्ति परिस्थिति के अनुसार जीता है, उसके लिए कोई समस्या ही नहीं है, क्योंकि वह फिर समय के प्रतिबन्ध के अनुसार ही अपना कार्य करता और जीवन बिताता है। अगर मनमौजी व्यक्ति के मन में यह जागरूकता आ जाये कि मैं ठीक नहीं कर रहा हूँ, तो उसे किस

प्रकार प्रत्याहार का अभ्यास करना चाहिए? यदि मन असमय मनोरंजन की तरफ जाये और उस समय यह सजगता बनी रहे कि यह समय मनोरंजन के लिए नहीं है, तो इसी सजगता से संकल्पशक्ति को जाग्रत करके, परिस्थिति का ख्याल करते हुए अपनी सीमा का ख्याल करते हुए स्वयं को नियन्त्रण में रखना चाहिए। स्वयं के भीतर एक आन्तरिक समझ को विकसित करना चाहिए, लेकिन हमारे भीतर यह समझ कैसे पैदा होगी? हम किससे समझेंगे? सजगता का तो अभाव है। हम अपनी ही इच्छा को नहीं जानते। केवल उसके लक्षण को देखते हैं कामना के रूप में। वह समझ कैसे आयेगी?

इसका तरीका योग ने निकाला है। योग कहता है कि सबसे पहले अपनी कमजोरियों को पहचानने का प्रयत्न करो। आत्म-निरीक्षण के द्वारा यह देख लो कि किस परिस्थिति में तुम अपना सन्तुलन और धैर्य खो बैठते हो? कब निराशा का प्रभाव तुम पर पड़ने लगता है? जब आत्म-निरीक्षण के द्वारा यह बात मालूम पड़ जायेगी, तब चेतना का विस्तार कर, चेतना को जाग्रत कर उस दबावपूर्ण नकारात्मक स्थिति से तुम अपने आपको अलग कर पाओगे, और जैसे ही यह अलगाव होगा, सुख-शान्ति तुम्हारे चरणों में लोटेंगी।

आत्म-निरीक्षण कैसे किया जाये? इसका बहुत सरल तरीका है। रात्रि के समय जब सोने के लिए बिस्तर पर जाओ, तब अपनी पूरी दिनचर्या को एक बार मानसिक दृष्टि से देख लो और यह भी देख लो कि तुमने कहाँ-कहाँ पर प्रतिक्रिया व्यक्त की। जहाँ पर तुमने प्रतिक्रिया व्यक्त की, वहाँ अवश्य तुम्हारी कोई कमजोरी है, क्योंकि प्रतिक्रिया तभी होती है जब हमें किसी प्रकार की चोट पहुँचती है और हम उस चोट को सहन नहीं कर पाते। हम अपनी उस धारणा को, चाहे वह स्वयं के सम्बन्ध में हो या दूसरों के सम्बन्ध में, टूटते नहीं देख सकते। इसकी शुरुआत होती है छोटी-छोटी चीजों से, अन्त होता है बड़ी चीजों पर। अत: यदि हमें अपनी कमजोरी मालूम पड़ जाये, उस कमजोरी का कारण मालूम पड़ जाये कि किस परिस्थिति में हम प्रतिक्रिया करते हैं, तब उस कमजोरी का ख्याल करते हुए अपने कर्मों, विचारों और व्यवहार को बदलने का प्रयास किया जा सकता है। इस प्रकार आत्म-निरीक्षण होता है अपने कर्मों के माध्यम से।

इसके बाद दूसरी अवस्था आती है स्वयं की इन्द्रिय अनुभूतियों को देखने की। मुझे किस प्रकार के अनुभव मेरी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हो रहे हैं। पहले एक इन्द्रिय का ख्याल करना, फिर दो का, फिर तीन का, फिर चार का और अन्त

में पाँचों का। परन्तु केवल देखना नहीं है, वरन् हर इन्द्रिय की कार्य परिधि में जो चीज दिखलायी दे, जिस चीज का अनुभव हो, उसकी सजगता रहनी चाहिए। वास्तव में यह बहुत कठिन क्रिया है, क्योंकि मनुष्य की खोपड़ी घड़ी के काँटे जैसा व्यवहार करती है। अर्थात् घूमना तो चाहिए चारों तरफ, लेकिन हम एक जगह रुक जाते हैं, फिर दूसरी जगह, फिर तीसरी जगह और यह क्रम चलता रहता है। एक ही दृष्टि में अनुभूति के सम्पूर्ण क्षेत्र को नहीं देख पाते।

हर मिनट घड़ी के काँटे की तरह जो रुकने की क्रिया होती रहती है, यह सामान्य स्थिति है। प्रत्याहार की स्थिति नहीं है। प्रत्याहार की स्थिति में तो हम सैकण्ड के काँटे की तरह आधे से भी कम समय में पूरा चक्कर लगा लेते हैं और हमारी चेतना की ग्रहणशीलता भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है। जब हमारी चेतना की ग्रहणशीलता बढ़ जाती है, तब फिर हम अपने आपको एक बिन्दु पर एकाग्र करते हैं और यह स्थिति हो जाती है धारणा की। बहुत-से लोग प्रत्याहार का अर्थ लगाते हैं अपनी इन्द्रियों को भीतर समेटना, जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने कवच के भीतर समेटता है। लेकिन यह प्रत्याहार की विधि नहीं है।

प्रत्याहार की प्रथम अवस्था में चेतना को सैकण्ड के काँटे की तरह घुमाकर पूरे मनस् क्षेत्र को एक बार में, एक दृष्टि में देखने का प्रयास किया जाता है। द्वितीय अवस्था में सजगता को जोड़ा जाता है। अब इसके बाद तृतीय अवस्था है सूक्ष्म अनुभवों को देखने की, अर्थात् मन को देखने की।

मन का द्रष्टा बनने के लिए सबसे पहले उन विचारों को देखते हैं जो मन में उठ रहे हैं। उसके बाद यह जानने-समझने का प्रयत्न करते हैं कि जो विचार मुझे सामने दिखलायी दे रहा है, उसे मानस पटल में लाने के पीछे कौन-सा कारण है। उस कारण को विचार रूप में देखना, फिर उसके कारण को देखना और फिर उसके भी कारण को देखना। इस प्रकार एक सतही विचार को पकड़ कर गहरायी तक जाना, विचार क्षेत्र में, जहाँ पर विचार उत्पन्न हुआ है, जहाँ पर विचार का सम्बन्ध हमारे अहंकार, महत्त्वाकांक्षा और स्वार्थ वृत्ति से है, और उसके बाद विचारों को रोक देना।

विचार न आने का अर्थ यह नहीं कि मन विचार-शून्य हो जाये। अगर हमारा मन विचार शून्य हो जाये, भावना और बुद्धि से रहित हो जाये तो मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। फिर तो प्रत्याहार से सीधे मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी, लेकिन ऐसा होता नहीं है। विचारों को रोकने का अर्थ होता है

मूल कारण की शुरुआत जिस भावना के साथ हो रही है, उस भावना को पकड़ लेना, जान लेना, समझ लेना। अगर मूल विचार की शुरुआत अहंकार के कारण हो रही है, तो अहंकार का निर्मूलन कर उस कमी को दूर करना। अगर किसी दूसरे व्यक्ति के कारण यह भावना जाग्रत हो रही है, तो उस कमी को पहचानना। उस कमी को ध्यान में रखना कि यह मेरी स्वार्थ वृत्ति में है। मेरे अहंकार और मेरी महत्त्वाकांक्षा में यह कमी है। और फिर मार्ग खोजने का प्रयत्न करना, जिसके द्वारा उस कमी को दूर किया जा सके। इसके बाद वृत्तियों को रोका जाता है।

योग सूत्रों में कहा गया है कि वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। वृत्तियों का सम्बन्ध विचारों के साथ रहता है, क्योंकि बहुत-से विचार प्रमाण पर आधारित होते हैं, बहुत-से विपर्यय या विकल्प या निद्रा या स्मृति पर आधारित होते हैं। निद्रा का अर्थ है अचेतन, अविद्या।

इस प्रकार वृत्तियों के साथ विचारों के सम्बन्ध को देखा जाता है और मन की एक अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर अन्त:करण की स्थिर और एकाग्र अवस्था में पहुँचा जाता है, जिसको कहते हैं धारणा। इस प्रक्रिया में जैसे-जैसे हम इन्द्रियों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, इन्द्रिय ज्ञान के प्रति पूर्ण सजग बनते हैं, मनस् तत्त्व के भीतर उत्पन्न क्रियाकलापों के प्रति सजग बनते हैं, वैसे-वैसे चेतन, अवचेतन और अचेतन पर इनका दबाव समाप्त होता जाता है, और इनसे तनाव उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार बिना किसी अवरोध के पानी की धार बहती है, उसी प्रकार मन की शक्ति अबाध रूप से एक केन्द्र की ओर बहने लगती है।

अत: विचारों को रोकने का अर्थ हो गया स्तम्भन शक्ति, विचारों को बाँधने की शक्ति। बाह्य विषयों की ओर विचारों का जो प्रवाह है, उसे बाँध देना, रोक देना और उसकी दिशा उलट देना। जब यह धारा अपनी दिशा को बदलती है, तब वह प्रत्याहार की, अन्तर्मुखता की अवस्था कहलाती है।

उपर्युक्त कार्य कठिन अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु जब प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती है, तब मन स्वत: नियन्त्रण में आ जाता है। इच्छाएँ ही दु:ख का कारण हैं। जब वही वश में रहेंगी, तब दु:ख कैसा?

इस प्रकार 'प्रत्याहार' दु:ख के कारण का समूल नाश करता है। तत्पश्चात् मन को उच्च साधना में लगाया जा सकता है।

अध्याय 5

प्राणायाम प्रकरण

यौगिक श्वसन प्रक्रिया

प्राण का अर्थ होता है जीवनीशक्ति और आयाम का तात्पर्य है नियमन। इस प्रकार प्राणायाम का अर्थ हुआ जीवनीशक्ति का नियमन। मनीषियों ने इस जीवनीशक्ति को स्थूल रूप में श्वास से सम्बद्ध माना है। प्रत्येक प्राणी श्वास लेता है और श्वास के माध्यम से ही उसके शरीर में प्राण तथा जीवन का संचार होता है। अगर श्वास लेना बन्द कर दें, तो शरीर में प्राण की कमी महसूस होगी, बेचैनी उत्पन्न होगी और शरीर नीला, काला या भूरा पड़ जायेगा। यदि हम श्वास को जबरदस्ती रोके रहें, तो अन्त में मृत्यु को प्राप्त होंगे। इसीलिये मनीषियों ने श्वास को जीवनीशक्ति से सम्बद्ध माना है। उनका मत है कि प्राणायाम के अभ्यास द्वारा शक्ति पर नियन्त्रण प्राप्त करके शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता है, शरीर को बचाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में महर्षि घेरण्ड कहते हैं–

अथात: संप्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सद्विधिम् ।
यस्य साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नर: ॥1॥

अर्थ

महर्षि घेरण्ड बोले कि अब मैं प्राणायाम की विधि बतलाता हूँ, जिसका साधन करने मात्र से मनुष्य देवता के समान हो जाता है ॥1॥

व्याख्या

अर्थात् यह धारणा पहले से थी कि प्राणायाम से अनेक प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ समाप्त हो जाती हैं। प्राणायाम योगियों की चिकित्सात्मक पद्धति का

आधार रहा है। मनुष्य को जितनी बीमारियाँ होती हैं, उन्हें हम कुछ समूहों में बाँट सकते हैं।

पहला समूह है मनोकायिक रोगों का। इस समूह से सम्बन्धित रोगों और व्याधियों की शुरुआत मन, भावना और विचार से होती है। चिन्ता, परेशानी, उग्रता, ईर्ष्या और द्वेष के कारण इनकी शुरुआत मनस् क्षेत्र में होती है और इनके प्रभाव एवं लक्षणों का अनुभव शरीर और उसकी आन्तरिक क्रियाओं में होने लगता है। दूसरा समूह है प्राणिक दोष या प्राण संचार में अव्यवस्था से उत्पन्न रोगों का। जब प्राण संचार में अव्यवस्था होती है, श्वसन प्रणाली में अव्यवस्था रहती है, तब श्वसन और रक्तचाप सम्बन्धी रोग उत्पन्न होते हैं।

तीसरा समूह है बाह्य कारकों से उत्पन्न रोगों का। बाह्य वातावरण शरीर को प्रभावित करता है। प्रदूषण, अनियमित भोजन और बाह्य रोगाणुओं के आक्रमण से शरीर में बीमारी फैलती है, जैसे मलेरिया, हैजा तथा कीटाणुओं से फैलने वाली अन्य बीमारियाँ।

अत: योग शास्त्र में मुख्य रूप से रोग के इन तीन कारणों को स्वीकार किया गया है। इनके अतिरिक्त अनेक छोटे-मोटे कारण और व्याधियाँ भी होती हैं, जिनका उपचार योग में अलग-अलग पद्धतियों से किया जाता है। जो बीमारियाँ श्वसन-संस्थान और प्राण के प्रवाह से सम्बन्ध रखती हैं, उनके निदान के लिए महर्षि घेरण्ड ने प्राणायाम का अभ्यास बतलाया है। इस युग में भी अनेक अनुसन्धानों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि बहुत-सी मनोकायिक तथा कायिक-मानसिक बीमारियाँ तथा मानसिक असन्तुलन की समस्याएँ, जैसे, निराशा, चिन्ता और परेशानी प्राणायाम के द्वारा ठीक हो सकती हैं, लेकिन प्राणायाम का अभ्यास करने के लिए कुछ विशेष नियमों का पालन करने की आवश्यकता होती है।

अगर प्राणायाम का गहन अभ्यास करना चाहें, तो सामान्य परिस्थितियों में नहीं कर पायेंगे, क्योंकि इसके लिए स्थान अलग होता है, भोजन अलग होता है, अभ्यास के तरीके अलग होते है। सामान्य रूप से प्राणायाम करने का जो तरीका बतलाया और सिखलाया जाता है, वह शरीर और मन को स्वस्थ एवं सन्तुलित रखने तथा मन को केन्द्रित करने के लिए होता है। लेकिन यदि आप इससे अधिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, तो प्राणायाम के कठोर नियमों का पालन करना पड़ेगा।

महर्षि घेरण्ड ने शरीर की तुलना देव शरीर से की है। देव शरीर का अर्थ होता है पवित्र, निर्मल, हलका, विकार रहित और कान्तिवान् शरीर। इस देव शरीर की प्राप्ति के लिए उन्होंने प्राणायाम की शिक्षा दी है।

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथापरम् ।
नाडीशुद्धिंश्च ततः पश्चात्प्राणायामं च साधयेत् ॥2॥

अर्थ

प्रथम, स्थान और काल का चुनाव तथा मिताहार और नाड़ी शुद्धि करें। इसके पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए ॥2॥

व्याख्या

'आदौ स्थानम्' प्राणायाम के अभ्यास के लिए सर्वप्रथम स्थान का चुनाव होना चाहिए। *'यथा कालम्'* इसके पश्चात् समय का निर्धारण होना चाहिए। समय और काल के अनुसार ही प्राणायाम के अभ्यास होते हैं। *'मिताहार तथा परम्'* फिर संयत भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए। *'नाडीशुद्धिंश्च ततः पश्चात्प्राणायामं च साधयेत्'* जब स्थान, समय और भोजन व्यवस्थित हो जायें, तब प्राणायाम शुरू करने के पहले नाड़ियों की शुद्धि होनी चाहिए।

सामान्य रूप से योग में स्थान और समय के बारे में जो नियम बताये जाते हैं, वे सर्वज्ञात हैं–

1. प्राणायाम का अभ्यास ब्रह्ममुहूर्त में ही करना चाहिए, दिन के समय नहीं। ब्रह्ममुहूर्त का मतलब प्रातः चार से छः बजे के बीच।
2. जब वायु मन्द और ठण्ढी हो; न ज्यादा ठण्ढ हो, न ज्यादा गरमी; तब उस शीतल वायु में प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है।
3. बन्द कमरे में प्राणायाम का अभ्यास नहीं किया जाता, खिड़की-दरवाजे खोलकर किया जाता है, जिससे शुद्ध वायु का प्रवेश हमेशा होता रहे। लेकिन स्थान इतना हवादार भी न हो कि आपको कमरे के भीतर हवा का झोंका लगे।
4. यदि वायु हलकी ठण्ढी है, तो चादर ओढ़ लेनी चाहिए या बनियान पहन लेनी चाहिए। शरीर को सीधे वायु के सम्पर्क में नहीं आने देना चाहिए।

प्रातःकाल अभ्यास करने के पीछे एक और कारण है। वायुमण्डल में जो विद्युत आवेशित कण होते हैं, जिन्हें ऋणात्मक आयन कहा जाता है, दिन के समय गरमी में उनकी संख्या कम होती है और उनकी संख्या कम होने से प्राणायाम के समय शरीर को शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव नहीं हो पाता। उलटे तनाव और परेशानी का अनुभव होने लगता है। जब पसीना छूटने लगे, तब भी प्राणायाम का अभ्यास करना वर्जित है। प्रातःकाल वातावरण में ताजगी

रहती है, जो वायु में ऋणात्मक आयनों की अधिक संख्या का द्योतक है। अत: उस समय प्राणायाम करने से वे विद्युत शक्ति से परिपूर्ण आयन शरीर में प्रवेश करके शरीर को शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करते हैं। महर्षि घेरण्ड इसके बारे में विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए कहते हैं

स्थान निर्णय

दूरदेशे तथाऽरण्ये राजधान्यां जनान्तिके ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतश्चेत्सिद्धिहा भवेत् ॥3॥
अविश्वासं दूरदेशे अरण्ये रक्षिवर्जितम् ।
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात्त्रीणिविवर्जयेत् ॥4॥
सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
कृत्वा तत्रैकं कुटीरं प्राचीरै: परिवेष्टितम् ॥5॥
वापी कूपतडागं च प्राचीर मध्यवर्ति च ।
नात्युच्चं नातिनिम्नं च कुटीरं कीटवर्जितम् ॥6॥
सम्यग्गोमयलिप्तं च कुटीरं तत्र निर्मितम् ।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत् ॥7॥

अर्थ

दूर देश में, अरण्य में और राजधानी में बैठकर योगाभ्यास नहीं करना चाहिए, अन्यथा सिद्धि में हानि हो सकती है, क्योंकि दूर देश में किसी का विश्वास नहीं होता, अरण्य (वन) रक्षक रहित रहता है और राजधानी में अधिक जनसमूह रहने के कारण प्रकाश एवं कोलाहल रहता है। इसीलिए ये तीनों स्थान इसके लिए वर्जित हैं। सुन्दर धर्मशील देश में, जहाँ खाद्य पदार्थ सुलभ हों और देश उपद्रव रहित भी हो, वहाँ कुटी बनाकर उसके चारों ओर प्राचीर बना लें। वहाँ कुआँ या जलाशय हो। उस कुटी की भूमि न बहुत ऊँची हो, न बहुत नीची, गोबर से लिपी हुई कीट आदि से रहित और एकान्त स्थान में हो। वहाँ प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए ॥3-7॥

व्याख्या

प्राणायाम का अभ्यास दूर देश में या दूर जंगल में, या राजधानी अर्थात् शहर और जनता के बीच न करें। इसके अभ्यास के लिए पूर्णत: एकान्त भी वर्जित

है और भीड़ से भरा स्थान भी। साथ-ही वे कहते हैं कि नये साधक को कड़ाई से इसका पालन करना चाहिए।

दूर जंगलों में अभ्यास करने से साधक को अन्य लोगों का विश्वास प्राप्त नहीं होगा। शहर की भीड़ में करने से सभी को 'योग' का ज्ञान हो जायेगा। अत: दोनों ही स्थानों का चुनाव गलत है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्राचीन समय में 'योग' की शिक्षा सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं थी। अत: इस बात का ध्यान रखा जाता था कि कोई साधारण व्यक्ति इसका ज्ञान प्राप्त न कर ले। इसलिए महर्षि घेरण्ड ने अपने विचारों के अनुसार साधक को एक सुन्दर धार्मिक स्थान में कुटी निर्माण कर, उसके अन्दर अभ्यास करने का निर्देश दिया है।

'सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षै निरुपद्रवे' ऐसा सुन्दर धार्मिक स्थान, जहाँ भोजन के लिए खाद्य पदार्थ सहजता से उपलब्ध हों और वहाँ किसी प्रकार के उपद्रव न हों। *'कृत्वा कुटीरं तत्रैकं प्राचीरै: परिवेष्टितम्'* और कुटिया के चारों ओर चहारदिवारी हो।

'वापी कूप तडागं च प्राचीर मध्यवर्ति च' उस घेरे के भीतर जल प्राप्ति के लिए कुएँ या पोखर की व्यवस्था रहे। साधक की यही सबसे बड़ी आवश्यकता है। वह जहाँ निवास करे, वहाँ उसे पानी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो। पूज्यपाद गुरुदेव परमहंस सत्यानन्द जी कहा करते थे "स्थान से कुछ अन्तर नहीं पड़ता। स्थान कैसा भी हो, मकान रहे न रहे, पेड़ रहें न रहें, इन सबकी आवश्यकता नहीं है, लेकिन पानी पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए, क्योंकि पानी से प्यास भी बुझायी जाती है और पानी के परिसर में शुद्ध वायु विचरती है। अर्थात् वायु का सम्पर्क पानी से होता है, जिससे आर्द्रता और तापमान अनुकूल रहते हैं।"

'नात्युच्चंनातिनिम्नं च कुटीरं कीटवर्जितम्' कुटिया की भूमि न तो बहुत ऊँची हो, न बहुत नीची और उस स्थान में जीव-जन्तु न हों। यहाँ पर पुन: महर्षि घेरण्ड शुचिता की शिक्षा दे रहे हैं। स्थान गोबर आदि से लिपा-पुता रहे, किसी प्रकार के कीटाणु न रहें, स्वच्छ हो, पानी उपलब्ध हो और कोलाहल एवं उपद्रव से दूर हो। ऐसे ही स्थान में साधक को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। ये निर्देश तो उन्होंने उस युग की आवश्यकता एवं लोगों की मनोभावना के अनुसार दिये हैं। आज के युग में जब योग सर्वव्यापी हो चुका है, जनसंख्या बढ़ती जा रही है, तीर्थ स्थान भी प्रदूषित होते जा रहे हैं, तब सोच-समझ कर स्थान का चुनाव होना चाहिए।

इसके बाद महर्षि घेरण्ड ऋतु के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं कि किस ऋतु में कौन-सा अभ्यास होना चाहिए। किस मौसम में प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। वैसे मौसम की चर्चा केवल प्राणायाम के अभ्यास में नहीं, योग के अन्य अभ्यासों में भी की गयी है। ऋतु सम्बन्धी सामान्य नियम तो बहुत स्पष्ट हैं। कहते हैं गरमी, बरसात और ठण्ढ में योगाभ्यास आरम्भ नहीं करना चाहिए। जब तापमान उच्चतम हो या अत्यधिक ठण्ढ हो या अत्यधिक गरमी हो या वर्षा के समय जब मौसम ठण्ढा-गरम होता रहे, तब साधक को योगाभ्यास प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। जो योग के अभ्यासी हैं, उनके लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु प्रारम्भ करने के लिए निर्देश दिया जाता है कि वसन्त ऋतु में योगाभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए, जब मौसम में ताजगी हो, न अधिक गरमी हो, न अधिक ठण्ढ हो।

काल निर्णय

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा ।
योगारम्भं न कुर्वीत श्र्ते योगो हि रोगदः ॥ 8 ॥
वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत् ।
तदा योगी भवेत्सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ॥ 9 ॥
चैत्रादिफाल्गुनान्ते च माघादिफाल्गुनान्तिके ।
द्वौ द्वौ मासावृतुभागावनुभावश्चतुश्चतुः ॥ 10 ॥
वसन्तश्चैत्रवैशाखौ ज्येष्ठाषाढा च ग्रीष्मकौ ।
वर्षाश्रावणभाद्राभ्यां शरदाश्विनकार्तिकौ ।
मार्गपौषौ च हेमन्तः शिशरो माघफाल्गुनौ ॥ 11 ॥
अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतूनां च यथोदितम् ।
माघादिमाधवान्तेषु वसन्तानुभवं विदुः ॥ 12 ॥
चैत्रादि चाषाढान्तं च निदाघानुभवं विदुः ।
आषाढादि चाश्विनान्तं प्रावृषानुभवं विदुः ॥ 13 ॥
भाद्रादि मार्गशीषन्तं शरदोऽनुभवं विदुः ।
कार्तिकान्माघमासान्तं हेमन्तानुभं विदुः ।
मार्गादींश्चतुरो मासांशिशिरानुभवं विदुः ॥ 14 ॥
वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं समाचरेत् ।
तथा योगो भवेत्सिद्धो विनायाऽऽसेन कथ्यते ॥ 15 ॥

अर्थ

हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में योगाभ्यास शुरू नहीं करना चाहिए। इनमें करने से यह अभ्यास रोग प्रदायक हो जाता है। वसन्त और शरद ऋतु में अभ्यास शुरू करना उचित है। इनमें करने से सिद्धि मिलती और रोगों से निवृत्ति होती है। यह सत्य है। चैत्र से फाल्गुन तक वर्ष में बारह महीने होते हैं, इनमें दो-दो महीने की छः ऋतुएँ होती हैं। माघ से अगले वर्ष के फाल्गुन तक चौदह महीने होते हैं। दो-दो महीने की एक-एक ऋतु और चार-चार महीने की भी अनुभूति होती है। चैत्र-वैशाख में वसन्त ऋतु, ज्येष्ट-आषाढ़ में ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद में वर्षा, आश्विन-कार्तिक में शरद, मार्गशीर्ष-पौष में हेमन्त और माघ-फाल्गुन में शिशिर ऋतु होती है। माघ से वैशाख पर्यन्त वसन्त का अनुभव होता है, चैत्र से आषाढ़ तक ग्रीष्म का, आषाढ़ से आश्विन के अन्त तक वर्षा का, भाद्रपद से मार्गशीर्ष तक शरद का तथा कार्तिक से माघ तक शीत का अनुभव होता है। वसन्त और शरद ऋतु में योगारम्भ करने से सिद्धि का होना कहा गया है ॥8-15॥

व्याख्या

हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा में योग की शुरुआत नहीं होनी चाहिए। यदि इस समय योगाभ्यास की शुरुआत होगी, तो रोग उत्पन्न होंगे। इस समय योगाभ्यास प्रारम्भ करने से रोगों का उत्पन्न होना, विशेषकर प्राणायाम के अभ्यास में अवश्यम्भावी है। यदि हम मौसम के अनुकूल न चलें, मौसम के अनुकूल अभ्यास न करें, तो जो गरमी उत्पन्न होती है, उसके कारण फोड़े-फुन्सी, बुखार, सर्दी, जुकाम की शिकायत सामान्य रूप से रहेगी।

वसन्त ऋतु और शरद ऋतु के प्रारम्भ में योग का अभ्यास आरम्भ करना चाहिए। इस समय जब योगाभ्यास प्रारम्भ होता है, तब योगी अभ्यास में सिद्धि प्राप्त करता और रोगों से मुक्त होता है। शरीर के लिए यह आवश्यक है कि योगाभ्यास के द्वारा जो परिवर्तन उसके भीतर होते हैं, उनके साथ वह सामंजस्य स्थापित करे। जब तक योग के द्वारा उत्पन्न प्रभावों के साथ शरीर का सामंजस्य नहीं होता, तब तक व्यक्ति तकलीफों का सामना करता है। लेकिन सही मौसम में यदि योगाभ्यास प्रारम्भ होता है और साथ-ही हमारा शरीर तथा वातावरण योगाभ्यास के लिए अनुकूल हैं, तथा योग के द्वारा शरीर में होने वाले परिवर्तनों को हम सह जाते हैं, तो सहनशीलता में वृद्धि होती है और

इस परिवर्तन का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यदि सहनशीलता न हो, तो नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा।

इसके बाद महीने की चर्चा करते हुए महर्षि कहते हैं कि चैत्र से फाल्गुन तक सम्पूर्ण वर्ष को छः भागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक ऋतु दो-दो माह की मानी गयी है *'द्वौ-द्वौ मासावृतुभागौ।'* महर्षिघेरण्ड उदाहरण के लिए कहते हैं कि माघ से फाल्गुन तक एक मौसम माना जाता है, लेकिन आगे के मन्त्रों में कहा गया है कि व्यावहारिक रूप से वर्ष को तीन भागों में विभाजित किया गया है। चैत्र और वैशाख वसन्त ऋतु के अन्तर्गत तथा ज्येष्ठ और आषाढ़ ग्रीष्म ऋतु के अन्तर्गत आते हैं। *'वर्षा श्रावणभाद्राभ्यां'* वर्षा ऋतु का समय रहता है श्रावण और भादो मास। *'शरदाविश्वनकार्तिकौ'* शरद के अन्तर्गत आश्विन और कार्तिक मास की चर्चा की गयी है।

हिन्दी महीनों एवं ऋतुओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए महर्षि अपने अनुभवों के आधार पर विभिन्न ऋतुओं के आगमन का समय निर्देश करते हैं। व्यावहारिक रूप से मौसम का चार-चार महीनों की अवधि में विभाजन करते हुए कहते हैं कि माघ से वैशाख तक चार महीने वसन्त के होते हैं; चैत्र से आषाढ़ तक ग्रीष्म; आषाढ़ से आश्विन तक वर्षा; भादो से मार्गशीर्ष तक शरद और कार्तिक से माघ तक हेमन्त या शीत का अनुभव होता है।

'वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं तु समाचरेत्' प्राणायाम या योग का अभ्यास का आरम्भ करने के लिए महर्षि घेरण्ड ने वसन्त और शरद ऋतु को सर्वोत्तम माना है, क्योंकि इन्हीं ऋतुओं में प्राणायाम का निर्विघ्न अभ्यास किया जा सकता है। मौसम के अनुसार प्राणायाम की संख्या घटायी और बढ़ायी जाती है।

सामान्य रूप से योग में प्राणायाम को तीन भागों में बाँटा गया है। पहला, ऐसे प्राणायाम जो शरीर में गरमी और उत्तेजना लाते हैं, अनुकम्पी तन्त्रिका तन्त्र की क्रियाशीलता बढ़ाते हैं। दूसरे समूह में ऐसे प्राणायाम आते हैं जो शरीर को ठण्ढक, शीतलता और विश्राम की स्थिति प्रदान करते हैं, परानुकम्पी क्रियाशीलता को बढ़ाते हैं। तीसरा समूह ऐसे प्राणायामों का है जो अनुकम्पी और परानुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र की क्रियाशीलता को सन्तुलित बनाते हैं। प्राणायाम के तीसरे समूह के जो अभ्यास हैं, उनके लिए निर्देश दिया जाता है कि चाहे किसी महीने में उनका अभ्यास किया जा सकता है, क्योंकि वे शारीरिक उत्तेजना और तापमान को सन्तुलित करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

वे अभ्यास जिनसे शरीर में गरमी बढ़ती है अधिकांशत: ठण्ड के मौसम में किये जाते हैं और वे अभ्यास जिनसे शरीर में शीतलता आती है, गरमी के मौसम में किये जाते हैं। इसी कारण महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि ऋतु के अनुसार प्राणायाम का अभ्यास होना चाहिए।

'तदायोगोभवेत्सिद्धो विनायाऽऽसेन कथ्यते' परन्तु अभ्यासी साधकों के लिए अभ्यास में कोई ऋतु बाधक नहीं हो सकती। उनका अभ्यास इतना बढ़ जाता है कि साधन उनके लिए अस्वाभाविक नहीं रहता, वह उनकी नित्य-क्रिया का अंग बन जाने के कारण लाभकारी ही रहता है। इसलिए उक्त उपदेश अनुभवी अभ्यासियों के लिए नहीं हैं। इसके बाद भोजन के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है।

मिताहार

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत् ।
नानारोगो भवेत्तस्यकिंचिद्योगो न सिध्यति ॥16॥
शाल्यन्नं यवपिष्टं वा तथा गोधूमपिष्टकम् ।
मुद्गं माषचणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम् ॥17॥
पटोलं सुरणं मानं कक्कोलं च शुकाशकम् ।
द्राढिकां कर्कटीं रम्भां डुम्बरीं कण्टकण्टकम् ॥18॥
आमरम्भां बालरम्भां रम्भादण्डं च मूलकम् ।
वार्ताकीं मूलकं ऋद्धिं योगी भक्षणमाचरेत् ॥19॥
बालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकम् ।
पंचशाकं प्रशंसीयाद्वास्तूकं हिमलोचिकाम् ॥20॥
शुद्धं सुमधुरं स्निग्धमुदरार्धविवर्जितम् ।
भुज्यते सुरसंप्रीत्या मिताहारमिमं विदुः ॥21॥
अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम् ।
उदरस्य तृतीयांशं संरक्षेद्वायुचारणे ॥22॥

अर्थ

जो साधक योगारम्भ करने के काल में मिताहार नहीं करता, उसके शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं और उसको योग की सिद्धि नहीं होती। साधक को चावल, जौ का सत्तू, गेहूँ का आटा, मूँग, उड़द, चना आदि का भूसी रहित, स्वच्छ करके भोजन करना चाहिए। परवल, कटहल, ओल, मानकन्द, कंकोल,

करेला, कुन्दरू, अरवी, ककड़ी, केला, गुलर और चौलाई आदि का शाक भक्षण करें। कच्चे या पक्के केले के गुच्छे का दण्ड और उसका मूल, बैंगन, ऋद्धि, कच्चा शाक, ऋतु का शाक, परवल के पत्ते, बथुआ और हुरहुर का शाक खा सकता है। उसे स्वच्छ, सुमधुर, स्निग्ध और सुरस द्रव्य से सन्तोषपूर्वक आधा पेट भरना और आधा खाली रखना चाहिए। विद्वानों ने इसे मिताहार कहा है। पेट के आधे भाग को अन्न से, तीसरे भाग को जल से भरना और चौथे भाग को वायु-संचालनार्थ खाली रखना चाहिए ॥16-22॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि प्राणायाम के अभ्यासियों के लिए भोजन की व्यवस्था उचित होनी चाहिए, अन्यथा अभ्यास का पूर्ण लाभ अभ्यासी को प्राप्त नहीं होगा। और प्रतिकूल भोजन लेने पर या अनियमित भोजन करने से कुछ शारीरिक बीमारियाँ होने की सम्भावना रहती है। हमारे मनीषियों ने सोच-समझ कर प्राचीन काल से ही आहार के कुछ नियम बतलाये हैं। जहाँ आहार सम्बन्धी चर्चा होती है, वहाँ ये सब नियम पढ़ाये जाते हैं कि बरसात में कौन-सी सब्जी, कौन-से फल खाने चाहिए। ठण्ढ में कौन-कौन-सी सब्जियाँ या फल लेने चाहिए। इस प्रकार हर मौसम के लिए अलग-अलग भोजन का निर्धारण किया गया है। विशेषकर देहातों में इस प्रकार के नियमों का पालन किया जाता है। आधुनिक युग में फ्रिज के आ जाने से लोग बेमौसमी सब्जियाँ और फल भी रखने लगे हैं, लेकिन योग के मतानुसार इस प्रकार के बेमौसमी आहार ग्रहण करने से शरीर के अन्दर प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए महर्षि घेरण्ड आगे बतलाते हैं कि साधक को मिताहारी होना चाहिए और सन्तुलित भोजन ग्रहण करना चाहिए।

चावल, गेहूँ, जौ, चना तथा उड़द दाल मिलाकर बनायी गयी रोटी योगियों के लिए उत्तम मानी गयी है। कटहल, परवल, करेला, अरबी, ककड़ी, गूलर, कच्चा केला, बैंगन इत्यादि सब्जियों का उपयोग योगी कर सकता है। मौसमी हरी सब्जियाँ भी इसके लिए लाभप्रद हैं, बल्कि प्राणायाम में इसकी ही उपयोगिता अधिक होती है, क्योंकि जब प्राणायाम करते हैं, तब शरीर में गरमी उत्पन्न होती है और वह गरमी शरीर की चर्बी को जलाने लगती है। इसीलिए प्राणायाम के साधकों में घी खाने की प्रथा है, ताकि शरीर में प्राणायाम के समय जो ह्रास होता है, उसकी पुनः पूर्ति हो जाए।

महर्षि घेरण्ड ने भोजन की मात्रा के नियम भी बतलाये हैं। कहते हैं कि अत्यधिक भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन करने का नियम है, आमाशय के 50% अर्थात् आधे भाग को अन्न से भरना, उसके बाद 25% अर्थात् एक चौथाई भाग को जल से भरना और शेष 25% अर्थात् एक चौथाई भाग को वायु संचालन के लिए खाली रखना। पेट भर भोजन करना वर्जित है। इस प्रकार भोजन ग्रहण करने से शारीरिक स्वास्थ्य बना रहता है और पेट में कोई तकलीफ या समस्या उत्पन्न नहीं होती।

निषिद्ध आहार

कट्वम्लं लवणं तिक्तं भृष्टं च दधितक्रकम् ।
शाकोत्कटं तथा मद्यं तालं च पनसं तथा ॥23॥
कुलत्थं मसुरं पाण्डुं कूष्मान्डं शाकदण्डकम् ।
तुम्बीकोलकपित्थं च कण्टबिल्वं पलाशकम् ॥24॥
कदम्बं जम्बीरं बिम्बं लकुचं लशुनं विषम् ।
कामरङ्गं पियालं च हिङ्गुशाल्मलिकेमुकम् ।
योगारम्भे वर्जयेच्च पथिस्त्रीवह्निसेवनम् ॥25॥
नवनीतं घृतं क्षीरं शर्कराद्यैक्षवं गुडम् ।
पक्वरम्भां नारिकेलं दाडिम्बमशिवासवम् ।
द्राक्षां तु लवलीं धात्रीं रसमम्लविवर्जितम् ॥26॥
एलाजातिलवङ्गं च पौरुषं जम्बुजाम्बलम् ।
हरीतकीं च खर्जूरं योगी भक्षणमाचरेत् ॥27॥
लघुपाकं प्रियं स्निग्धं तथा धातुप्रपोषणम् ।
मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्।
कठिनं दुरितं पूतिमुष्णं पर्युषितं तथा ।
अतिशीतं चातिचोष्णं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत् ॥29॥
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ।
एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत् ॥30॥
एवं विधि विधानेन प्राणायामं समाचरेत् ।
आरम्भे प्रथमे कुर्यात्क्षीराज्यं नित्यभोजनम् ।
मध्याह्ने चैव सायाह्ने भोजनद्वयमाचरेत् ॥31॥

अर्थ

कड़वा, अम्ल, लवण और तिक्त ये चार रस वाली वस्तुएँ, भुने हुए पदार्थ, दही, तक्र, शाक, उत्कट, मद्य, ताल और कटहल का त्याग करें। कुलथी, मसूर, प्याज, कुम्हड़ा, शाक-दण्ड, गोया, कैथ, ककोड़ा, ढाक, कदम्ब, जम्बीरी, नीबू, कुन्दरू, बड़हड़, लहसुन, कमरख, पियार, हींग, सेम और बंडा आदि का भक्षण योगारम्भ में निषिद्ध है। मार्ग-मगन, स्त्री-गमन तथा अग्नि-सेवन (तपना) भी योगी के लिए उचित नहीं। मक्खन, धृत, दूध, गुड़, शक्कर, दाल, आँवला, अम्ल रस आदि से बचें। पाँच प्रकार के केले, नारियल, अनार, सौंफ आदि वस्तुओं का सेवन भी न करें ॥23-26॥

इलायची, लौंग, जायफल, उत्तेजनात्मक पदार्थ, जामुन, जाम्बूल, हरड़ और खजूर का सेवन न करें। शीघ्र पचने वाले, प्रिय, स्निग्ध, धातुओं को पुष्टिदायक मनोनुकूल पदार्थ ही खाने चाहिए। कड़ी वस्तुएँ, दूषित वस्तुएँ, उत्तेजना एवं वासना उत्पन्न करने वाली उष्ण, बासी, अधिक ठण्ढी और अति उग्र वस्तुओं को न खायें। प्रात:कालीन स्नान एवं उपवासादि शरीर को कष्ट पहुँचाने वाली क्रियाएँ छोड़ देनी चाहिए। एक बार भोजन करना, निराहार रहना अथवा प्रत्येक पहर बाद भोजन करना भी योगारम्भ में त्याज्य है। इस प्रकार विधि-विधान से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम आरम्भ करने से पूर्व नित्य-प्रति दूध-धृत का सेवन और मध्याह्न एवं सायं दोनों समय का भोजन करें ॥28-32॥

व्याख्या

अब महर्षि प्राणायाम के अभ्यासियों के लिए वर्जित खाद्य पदार्थों के बारे में बतलाते हैं। पता नहीं किस प्रयोजन से, लेकिन यहाँ पर उन्होंने विशेष रूप से एक बात कही है कि रास्ते चलते हुए अभ्यासी का सम्पर्क किसी महिला और अग्नि से नहीं होना चाहिए। हो सकता है आन्तरिक संयम को बनाये रखने के लिए एक बाह्य अनुशासन के रूप में उन्होंने इसकी चर्चा की हो, क्योंकि यह देखा गया है कि प्रारम्भ में प्राणायाम के अभ्यास से जैसे-जैसे साधक के शरीर के भीतर गरमी उत्पन्न होती है, उसके साथ-ही-साथ कामवासना भी प्रबल हो जाती है। जब तक व्यक्ति एकान्त में या गुरु निर्देशों का पालन करते हुए अभ्यास करता है, तब तक तो वह अपने भीतर संयम बनाये रख सकता है। लेकिन जब वह एकान्त में नहीं रहता और न गुरु उसके समीप होते हैं, तब सम्भव है कि वह मनोभावना के आवेग में अपना संयम खो दे। अत: शारीरिक संयम और ब्रह्मचर्य को धारण

करने के लिए महर्षि घेरण्ड ने ये नियम यहाँ पर दुहराये हैं। साथ-ही कहते हैं कि ठण्डी वस्तु या बहुत अधिक गरम खाद्य पदार्थ का सेवन करना योगियों के लिए हितकर नहीं है। गरम या ठण्ढे खाद्य पदार्थों को ग्रहण करने से शरीर के सामान्य तापमान में बहुत जबरदस्त परिवर्तन होता है। अब जैसे नियम है कि व्यायाम करने या धूप से आने के तुरंत बाद पानी नहीं पीना चाहिए। कम-से-कम 5-10 मिनट रुक कर साधारण तापमान का पानी पीना चाहिए, फ्रिज का ठण्ढा पानी नहीं। ऐसा शरीर के तापमान को सन्तुलित बनाये रखने के लिए कहा जाता है।

साथ-ही-साथ महर्षि घेरण्ड यह भी कहते हैं कि खट्टी या अम्लीय चीज या बहुत नमकीन, गरम मसाले से युक्त और तली हुई वस्तुएँ प्राणायाम के साधक को अधिक नहीं खानी चाहिए। दही या खट्टी सब्जी, प्याज तथा फूल गोभी आदि का सेवन प्रारम्भिक साधकों को नहीं करना चाहिए। विशेषकर उन पदार्थों का नाम लिया गया है जिनसे शरीर में पित्त की मात्रा बढ़ती या गैस बनती है। जो लोग फूलगोभी खाते हैं, उनके शरीर में वायु उत्पन्न होती है। जो लोग खट्टी चीजों को खाने के आदि हैं, उन्हें पित्त की शिकायत सामान्य रूप से रहा करती है।

अत: इस प्रकार के नियमों का उल्लेख कर वे कहते हैं कि शरीर के पाचन-संस्थान से सम्बद्ध वात, पित्त, कफ और वायु को अपने नियन्त्रण में रखना चाहिए, किसी में वृद्धि नहीं होनी चाहिए। आगे कहते हैं कि मक्खन, दूध, शक्कर और फिर से उन्होंने दुहराया है कि अम्लीय वस्तुएँ, अदरक और मेवा पूर्ण रूप से वर्जित हैं। घी के लिए तो उन्होंने पहले स्वीकृति दी है, क्योंकि मक्खन को जब गरम करके घी बनाया जाता है, तब उसकी सफेद झाग समाप्त हो जाती है और शुद्ध घी बचता है। शुद्ध घी के सेवन को उन्होंने स्वीकृति दी है, लेकिन मक्खन का निषेध किया है। मक्खन में जो झाग रहती है उसमें खट्टापन छिपा रहता है, जिससे अम्ल या पित्त में वृद्धि होती है।

दूध का सेवन भी उन्होंने वर्जित बताया है, क्योंकि दूध से कफ बनता है। अत: सामान्य धारणा जो रहती है कि योगियों को खूब दूध पीना चाहिए, उसे महर्षि घेरण्ड यहाँ पर निर्मूल कर रहे हैं और मेवे का भी निषेध किया है, उसका विशेष कारण यही है कि स्वाद की लिप्सा न हो। इलायची, लौंग, हरदा इत्यादि लिए जा सकते हैं, जो भोजन को पचाने में सहयोग देते हैं। इसका सारांश यही है कि भोजन सुपाच्य और हलका हो तथा उसके सेवन से शरीर को शक्ति मिले। यह नहीं कि भोजन के पश्चात् पेट भारी हो जाये और शरीर में तामसिकता आने लगे।

उन्होंने एक बात और कही है कि प्राणायाम के पूर्व स्नान वर्जित है और प्राणायाम के पश्चात् भी। यह तो इस पर निर्भर है कि हम कब और किस प्रकार स्नान करते हैं, क्योंकि स्नान करते समय शरीर का तापमान गिरता है और स्नान करने के तुरंत बाद यदि प्राणायाम किया जाये तो उसका विपरीत प्रभाव होगा। योग का सामान्य नियम है कि स्नान करने के बाद कुछ आसनों का अभ्यास करके शरीर के तापमान को पुन: सामान्य बना लिया जाये, तत्पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास किया जाये। यदि ऐसी आदत है तो प्राणायाम के पूर्व स्नान मान्य है।

प्राणायाम के अभ्यासी के लिए महर्षि ने उपवास का भी निषेध किया है। वे कहते हैं कि चौबीस घण्टे से अधिक उपवास नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में जो गरमी उत्पन्न होती है, उससे शारीरिक क्षमता में कमी आती है। इसलिए उपवास करना योगाभ्यासी के स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं। अत: शारीरिक क्षमता को बनाये रखने के लिए 24 घण्टे से अधिक उपवास करना वर्जित है। वे यह भी कहते हैं कि एक समय का व्रत रखा जा सकता है, अर्थात् एक समय भोजन करें और दूसरे समय उपवास, इससे शरीर में कुछ शक्ति तो बनी रहेगी।

अन्त में वे कहते हैं कि भोजन के साथ दूध लिया जा सकता है। पहले उन्होंने दुग्ध-पान निषिद्ध किया है और यहाँ पर कहते हैं कि भोजन के साथ दूध ले लो, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत: खाली पेट दूध नहीं लेना चाहिए। भोजन के साथ लेने पर दूध पच जाता है और पेट में रहता नहीं। अगर रात को सोने के पहले लेते हैं, तो वह पेट में ही रहता है और उस समय परानुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र के कार्य शुरू हो जाने के कारण दूध के पोषक तत्त्वों का पाचन ठीक से नहीं हो पाता। इसीलिये उन्होंने भोजन के साथ लेने का सुझाव दिया है।

इस प्रकार सारांशत: योगी को इन मुख्य नियमों का पालन करना चाहिए, विशेषकर प्राणायाम के अभ्यासी के लिए ये नियम आवश्यक हैं–सर्वप्रथम प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। पश्चात् दूध लेना चाहिए। भोजन केवल सुबह एवं संध्या को, अर्थात् कुल दो समय करना चाहिए। बीच-बीच में कई बार भोजन करना हानिकारक है। भोजन के साथ धृत सेवन करना चाहिए। प्राणायाम के आसन के सम्बन्ध में महर्षि घेरण्ड का निर्देश है कि प्राणायाम के लिए आसन न तो बहुत कड़ा हो, न बहुत नरम।

नाड़ी शुद्धि

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्बले ।
स्थूलासने समासीनःप्राङ्गमुखो वाप्युदङ्मुखः।
नाडीशुद्धिं समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत् ॥32॥

अर्थ

कुश का मोटा आसन, मृगचर्म या सिंहचर्म अथवा कम्बल में से किसी प्रकार के आसन पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके नाड़ी शुद्धि होने पर प्राणायाम का साधन करना चाहिए ॥32॥

व्याख्या

प्राणायाम के पूर्व नाड़ी शुद्धि को उन्होंने आवश्यक माना है। प्राणायाम के बारे में पहले यह समझ लेना चाहिए कि प्राणायाम का अभ्यास अपने शरीर के भीतर प्राण को चलाने की क्रिया है, प्राण को जाग्रत करने की क्रिया है। लेकिन प्राण की जागृति और प्राणों का स्वतन्त्र प्रवाह तभी सम्भव है जब हमारे भीतर की सभी नाड़ियाँ अवरोध रहित बन जायें और इसके लिए नाड़ी शुद्धि प्राणायाम का अभ्यास बतलाते हैं।

नाड़ी शुद्धि से नाड़ियों के अवरोध दूर होते हैं तथा रक्त प्रवाह सुचारु रूप से होने से मस्तिष्क को उचित मात्रा में रक्त पहुँचता है, जिससे मानसिक तनाव दूर होते हैं।

चण्डकापालिरुवाच

नाडीशुद्धिं कथं कुर्यान्नडीशुद्धिस्तु कीदृशी ।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि तद्वदस्व दयानिधे ॥33॥
घेरण्ड उवाच मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव गच्छति ।
प्राणायामः कथं सिद्धयेतत्त्वज्ञानं कथं भवेत् ।
तस्मान्नाडीशुद्धिमादौ प्राणायामं ततोऽभ्यसेत् ॥34॥
नाडीशुद्धिर्द्विधा प्रोक्ता समनुर्निर्मनुस्तथा ।
बीजेन समनुं कुर्यान्निर्मनुं धौतिकर्मणा ॥35॥
धौतिकर्म पुरा प्रोक्तं षट्कर्मसाधने यथा ।
श्रृणुष्व समनुं चण्ड नाडीशुद्धिर्यथाभवेत् ॥36॥

उपविश्यासने योगी पद्मासनं समाचरेत् ।
गुर्वादिन्यासनं कुर्याद्यथैव गुरुभाषितम् ॥37॥
नाडीशुद्धिं प्रकुर्वीत प्राणायामविशुद्धये ।
वायुबीजं ततो ध्यात्वा धूम्रवर्णं सतेजसम् ॥38॥
चन्द्रेणपूरयेद्वायुं बीजं षोडशकैः सुधीः।
चतुःषष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं सूर्यनाड्या च रेचयेत् ॥39॥
नाभिमूलाद्वह्निमुत्थाप्य धारयेत्तेजोवनीयुतम् ।
वह्निवीजषोडसेन सूर्यनाड्या च पूरयेत् ॥40॥
चतुःषष्टया च मात्रया कुम्भकेनैव धारयेत् ।
द्वात्रिशन्मात्रया वायुं शशिनाड्या च रेचयेत् ॥41॥
नासाग्रे शशधृग्बिम्बं ध्यात्वा ज्योत्स्नासमन्वितम् ।
ठं बीज षोडशेनैव इडया पूरयेन्मरुत् ॥42॥
चतुःषष्ट्या मात्रया च वं बीजेनैव धारयेत् ।
अमृतं प्लावितं ध्यात्वा नाडीधौतिं विभावयेत् ।
द्वात्रिंशेन लकारेण दृढं भाव्यं विरेचयेत् ॥43॥

अर्थ

चण्डकपालि ने पूछा कि नाड़ी शोधन किस प्रकार किया जाय? उसका स्वरूप क्या है? इन सब को मैं विस्तारपूर्वक सुनने का इच्छुक हूँ। हे दयानिधे, इसे मेरे प्रति कहने की कृपा करें ॥33॥

महर्षिघेरण्ड ने उत्तर दिया कि नाड़ियों के मल से भरी हुई होने के कारण उनमें वायु का प्रवाह नहीं हो पाता, तो प्राणायाम की सिद्धि कैसे हो, और तत्त्वज्ञान कैसे उत्पन्न हो? इसीलिए पहले नाड़ी शोधन करें, जो कि समनु और निर्मनु के भेद से दो प्रकार का होता है। बीज मन्त्र से होने वाले नाड़ी शोधन को समनु और धौतिकर्म से होने वाले को निर्मनु कहते हैं। धौति कर्म का निरूपण पहले षट्कर्म साधन में कर आये हैं। हे चण्ड! अब समनु नाड़ी शुद्धि जिस प्रकार हो सकती है, उसे सुनो ॥34-37॥

योगी आसन पर बैठ कर पद्मासन लगाये और गुर्वादि न्यास करे। फिर गुरु के आदेशानुसार प्राणायाम के साधनार्थ नाड़ी शोधन करे। वायु बीज 'यं' का ध्यान कर सोलह बार जपता हुआ बायीं नासिका द्वारा वायु खींचे। ध्यान

में इस वायु बीज को तेजयुक्त धूम्रवर्ण का माने। इस प्रकार चन्द्र मार्ग से पूरक करने के पश्चात् चौंसठ बार जप करता हुआ कुम्भक करे और फिर बत्तीस बार जपता हुआ दायीं नासिका द्वारा रेचक करे, अर्थात् वायु को निकाले ॥38-39॥

नाभि में अग्नि तत्त्व को प्रकट कर 'लं' बीज युक्त पृथ्वी तत्त्व सहित ध्यान करना चाहिए। सोलह मात्रा 'रं' बीज का ध्यान करते हुए सूर्य नाड़ी (दायीं नासिका) से पूरक, चौंसठ मात्रा से कुम्भक और बत्तीस मात्रा से जप करता हुआ चन्द्र नाड़ी (बायीं नासिका) से रेचक करे ॥40-41॥

नासिका के अग्रभाग में चन्द्र बिम्ब के ध्यानपूर्वक सोलह मात्रा तक 'हं' बीज का जप करता हुआ इडा नाड़ी से 'यं' बीज का पूरक करे। चौंसठ मात्रा तक 'वं' बीज जपता हुआ सुषुम्ना में कुम्भक करे। उस समय नासिका से अमृत के टपकने और उससे शरीर की सब नाड़ियों के धुलने का ध्यान करे। फिर 'लं' बीज का बत्तीस मात्रा तक जप करता हुआ पिंगला नाड़ी से रेचक करे ॥42-43॥

व्याख्या

नाड़ी शुद्धि की चर्चा करते हुए महर्षि घेरण्ड राजा को कहते हैं कि नाड़ी शुद्धि का अभ्यास पहले होना चाहिए, तो राजा महर्षि से तीन प्रश्न करते हैं पहला, नाड़ी शुद्धि क्या है? दूसरा, इसका अभ्यास कैसे किया जाये और तीसरा, इस क्रिया की क्या विशेषता है? तो महर्षि घेरण्ड पुनः समझाना शुरू करते हैं कि शरीर में अनेक नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार हार में फूल गुथे रहते हैं, उसी प्रकार ये नाड़ियाँ आपस में गुथी हुई हैं, उलझी हुई हैं और इनकी उलझन से प्राणशक्ति के प्रवाह में बाधा पड़ती है। अतः जब तक इन नाड़ियों का शुद्धिकरण न हो, तब तक व्यक्ति प्राणायाम का अभ्यास नहीं कर सकता और न ही शारीरिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

नाड़ी शुद्धि की क्रिया को दो प्रकार से कर सकते हैं। प्रथम प्रकार को 'समनु' कहते हैं और दूसरे प्रकार को 'निर्मनु' कहते हैं। 'समनु' नाड़ी शुद्धि का अभ्यास बीज मन्त्र के सहयोग से सम्भव है और 'निर्मनु' विधि का अभ्यास धौति कर्म के द्वारा सम्भव होता है।

'समनु' नाड़ी शुद्धि क्रिया मानसिक है, जिसके लिए कहा गया है बीज मन्त्र का प्रयोग होना चाहिए। बीज मन्त्र का प्रयोग महर्षि घेरण्ड ने इसलिए बताया है कि शारीरिक तत्त्वों का ज्ञान नाड़ी शुद्धि की क्रिया से हो। लेकिन

प्रारम्भ में जब मनुष्य अभ्यास करने लगता है, तब वह मानसिक रूप से श्वास का ख्याल करते हुए श्वास के साथ अपनी चेतना को ऊपर-नीचे लाता ले जाता है। इसके बाद गहराई में जाने के लिए श्वास के साथ मन्त्र का अभ्यास करते हैं। इसलिए व्यक्तिगत मन्त्र को छोड़कर, किसी एक तत्त्व के बीज मन्त्र को अपनाया जाता है और उस बीज मन्त्र के साथ धारणा का भी अभ्यास होता है। इसीलिए 'समनु' नाड़ी शुद्धि क्रिया एक मानसिक क्रिया है। इस क्रिया में हम अपनी श्वास को नियन्त्रित करके नाड़ियों को अवरोध रहित करने के लिए उसे विभिन्न नाड़ियों से भेजते हैं।

दूसरी क्रिया शारीरिक है, जिसका वर्णन धौति के अन्तर्गत पहले अध्याय में हो चुका है कि धौति क्रिया से फेफड़े दोषरहित हो जाते हैं, आन्तरिक अंग विकार रहित हो जाते हैं, तब प्राणों की जागृति अपने आप होने लगती है और उस समय प्राण को केवल नाड़ी-क्षेत्र में भेजने का प्रयास किया जाता है। इसलिए महर्षि घेरण्ड ने 'निर्मनु' को एक शारीरिक क्रिया के रूप में धौति के अभ्यास के साथ वर्णित किया है।

विधि–प्रथम विधि के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि साधक को पद्मासन में बैठकर गुरु के द्वारा बताये अनुसार गुरु-न्यास करना चाहिए। इस क्रिया में हम अपनी चेतना को शरीर के विभिन्न अंगों में घुमाते हैं। अपनी चेतना को पैरों, घुटनों, अँगुलियों, छाती, पीठ, चेहरे इत्यादि छोर के अंगों पर ले जाते हैं, ताकि वहाँ पर अगर किसी प्रकार का तनाव या कड़ापन हो, तो हम उसके प्रति सजग बन जायें और तनाव या मांसपेशी के कड़ेपन को दूर किया जा सके।

सामान्यत: जब प्राणायाम के अभ्यास के समय लोगों को सीधा बैठने का निर्देश दिया जाता है तब वे अकड़ कर बैठ जाते हैं। हाथ को सीधा रखने के लिए कहा जाए तो पूरी भुजा को तान देते हैं और उन्हें यह बतलाना कठिन हो जाता है कि प्राणायाम के प्रारम्भ में शरीर की स्थिति किस प्रकार की होनी चाहिए। शरीर सीधा हो, लेकिन विश्राम की स्थिति में रहे, तना हुआ न रहे। शरीर में विश्राम की अवस्था लाने के लिए ही महर्षि ने यहाँ न्यास का वर्णन किया है। साथ-ही कहते हैं कि इस क्रिया के द्वारा शरीर की नाड़ियाँ पवित्र हो जाती हैं। इस क्रिया में हम शरीर के प्रत्येक अंग और चक्र में मन्त्रोच्चार के साथ चेतना का स्पर्श करते हैं।

न्यास की दो विधियाँ होती हैं, पहली तान्त्रिक और दूसरी वैदिक। वैदिक विधि में मन्त्र के रूप में अंगों का नाम लिया जाता है, जैसे, 'ॐ

नमो अँगुष्ठाभ्याम्', 'करतलाभ्यां नमः', 'अनामिकाभ्यां नमः' इत्यादि। इस प्रकार मन्त्र का उच्चारण हर अंग की धारणा के साथ किया जाता है। वैदिक न्यास और तान्त्रिक न्यास में यही अन्तर है कि वैदिक न्यास में हम मन्त्र का उच्चारण करके किसी अंग का नाम बोलते हैं और तान्त्रिक न्यास में उसे चिदाकाश में देखते हैं।

यहाँ पर जिस न्यास का वर्णन किया गया है, उसका उद्देश्य नाड़ियों को पवित्र करना है। यह भी कहा गया है कि शरीर के प्रत्येक अंग में मन्त्रोच्चारण द्वारा स्पर्श होना चाहिए। यह चिदाकाश में देखने की पद्धति है। इस प्रक्रिया का एक वैज्ञानिक कारण भी है। मस्तिष्क में एक केन्द्र होता है, जिसको नाम दिया गया है, मस्तिष्क के भीतर लघु-मानव। वास्तव में मस्तिष्क में शरीर के प्रत्येक अंग से सम्बद्ध एक केन्द्र है, जो शरीर के उस अंग में उत्पन्न संवेदना को नियन्त्रित करता है। संवेदी और प्रेरक उद्दीपनों के बीच सन्तुलन को बनाये रखता है।

न्यास की जो वैज्ञानिक पद्धति है, उसमें जल्दी-जल्दी, हड़बड़ाहट में किसी अंग का नाम नहीं लिया जाता, वरन् उस अंग की धारणा का अभ्यास करते हुए मस्तिष्क के उस केन्द्र को विश्राम की अवस्था में ले आते हैं। जब हम एक अंग का ध्यान करते हुए, एक अंग की कल्पना करते हुए मन्त्रोच्चारण करते हैं, तब उसका प्रभाव पूरे मस्तिष्क पर पड़ता है, जिसके कारण अनुकम्पी और परानुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र की क्रियाओं में अन्तर दिखायी देने लगता है और साथ-ही-साथ मस्तिष्क के भीतर उत्पन्न होने वाली विद्युत तरंगों में भी अन्तर दिखायी देने लगता है। वे अधिक शान्त और नियन्त्रित हो जाती हैं, जिसके कारण एकाग्रता में वृद्धि होती है और मन शरीर की सूक्ष्म अवस्थाओं के प्रति अधिक सजग बन जाता है।

इसके बाद यहाँ महर्षि कहते हैं कि अंग न्यास के पश्चात् वायु तत्त्व के बीज मन्त्र का ध्यान करना है और अपने शरीर की कल्पना धूम्र वर्ण में करनी है। वायु तत्त्व का बीज मन्त्र है 'यं'। इस प्रक्रिया के द्वारा चेतना को सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म बनाने का प्रयास किया जा रहा है, जिससे भौतिक चेतना धीरे-धीरे कम होती जाय और प्राणमय कोश की सजगता जाग्रत हो। इसलिये कहा जा रहा है कि अपने आपको धूम्र वर्ण में देखना है। यह कल्पना करनी है कि शरीर हड्डी, रक्त और मांस का नहीं, वरन् धूम कणों का बना हुआ है। प्राणमय शरीर की कल्पना धुएँ के शरीर के रूप में की जाती है।

खिड़की के पास जलती हुई मोमबत्ती से उठता धुआँ प्रकाश में जिस प्रकार का दिखलायी देता है, ठीक उसी प्रकार की कल्पना अपने शरीर के विषय में भी की जाती है। बायीं नासिका से पूरक करते हुए मन्त्र का उच्चारण होना चाहिए। महर्षि कहते हैं, *'चन्द्रेणपूरयेद्वायुं बीजं षोडशकैः सुधीः'*–चन्द्र नाड़ी (बायीं नासिका) से पूरक करते समय सोलह बार मन्त्र का उच्चारण होना है।

इस बात का ध्यान रखिये कि प्राणायाम प्रारम्भिक क्रिया नहीं है। प्राणायाम का उल्लेख महर्षि पाँचवें अध्याय में कर रहे हैं, अर्थात् प्राणायाम तक पहुँचने के पहले आप षट्कर्म इत्यादि समाप्त करके एक ऐसी अवस्था में पहुँच गये हों, जहाँ श्वास और शारीरिक क्रियाओं पर आपका नियन्त्रण हो। यहाँ पर जो विधि बतायी गयी है, उसके अनुसार 16 मात्रा तक पूरक, 64 मात्रा तक अन्तर्कुम्भक और 32 मात्रा तक रेचक करें। यह गिनती 'यं' मन्त्र के साथ होनी चाहिए।

यह 'निर्मनु' नाड़ी शुद्धि का संक्षिप्त वर्णन है, किन्तु यहाँ तक पहुँचने के लिए बहुत प्रयत्न और अभ्यास की आवश्यकता होती है । 'निर्मनु' नाड़ी शुद्धि वास्तव में सहज नाड़ी शोधन प्राणायाम है।

इसके आगे की प्रक्रिया बतलाते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि अग्नि तत्त्व पर ध्यान करना है। अग्नि तत्त्व का स्थान नाभि प्रदेश में है। अग्नि के प्रकाश पर अपने आपको एकाग्र करते हुए नाभि पर ध्यान करें, उसके पश्चात् सूर्य स्वर से, अर्थात् दाहिनी नासिका से पूरक करें। पूरक की अवधि में अग्नि बीज मन्त्र का उच्चारण 16 बार होना चाहिए। अन्तर्कुम्भक लगाकर 64 बार अग्नि बीज मन्त्र का उच्चारण और फिर 32 बार अग्नि बीज मन्त्र के उच्चारण के साथ चन्द्र स्वर, अर्थात् बायीं नासिका से रेचक करें। इस प्रकार नासिका से श्वसन क्रिया का अनुपात 1:4:2 होना चाहिए।

फिर वे तीसरी पद्धति बतलाते हैं कि नासिकाग्र पर चमकते हुए चन्द्रमा की कल्पना करनी है और बायें नासिका छिद्र से पूरक 16 बार 'वं' बीज मन्त्र के उच्चारण के साथ करना है, फिर 64 की गिनती तक अन्तर्कुम्भक और 32 बार गिनते हुए दायें नासिका छिद्र से श्वास को छोड़ना है। इस क्रिया में भी श्वास का अनुपात 1:4:4:2 है।

यहाँ पर जिस विधि का उल्लेख किया गया है, वह उच्च विधि है। नाड़ी शुद्धि का उद्देश्य होता है शरीर की प्राणिवाहिनी नाड़ियों को शुद्ध करना, उनसे विकारों को हटाना। उनमें या प्राण के प्रवाह में यदि किसी प्रकार की

रुकावट है, तो उसे दूर करना। प्रारम्भ में जब प्राणायाम की शिक्षा दी जाती है, तब इस अनुपात को नहीं अपनाते।

नाड़ी शोधन की अनेक अवस्थायें होती हैं। सबसे पहले हम श्वास कहाँ लेते हैं, इसका ख्याल करना है। यह पहली अवस्था है। चूँकि सामान्य रूप से हमारी श्वास अनियन्त्रित और असंयत रहती है। श्वास लेने की सही विधि यह है कि हम फेफड़ों की पूरी क्षमता का उपयोग करें, जिससे शरीर के आन्तरिक अंगों की क्षमता और उनके भीतर छुपी हुई प्राणशक्ति में विस्तार और विकास का अनुभव हो। अत: प्रथम अवस्था में श्वास लेने का तरीका बतलाया जाता है, पेट में श्वास लेनी है। इसके अनेक तरीके हैं।

प्रारम्भ में बैठकर हाथों को सामने रख लेते हैं, फिर मुट्ठी बाँध लेते हैं। जब मुट्ठी को सामने ले आते हैं, तो पेट फुलाते हैं और जब मुट्ठी को पुन: शरीर के पास लाते हैं तब पेट को दबाते हैं। यह एक तरीका है। इसे जल्दबाजी में नहीं करना है, वरन् धीरे-धीरे संयत रूप से यह अभ्यास किया जाता है, ताकि श्वसन प्रणाली पर पूर्ण नियन्त्रण रहे। दूसरा तरीका है लेटकर। लेटकर एक फूल को अपनी नाभि के ऊपर रख लेना है और श्वास लेते समय ख्याल करना कि पेट फूल रहा है, फूल ऊपर उठ रहा है। श्वास छोड़ते समय ख्याल करना कि पेट नीचे दब रहा है, फूल नीचे आ रहा है। यह सहज प्रकार है।

दूसरी अवस्था में एक नासिका को बन्द करके दूसरी नासिका से धीरे-धीरे लम्बी और गहरी श्वास लेनी और छोड़नी है। पाँच-दस-पन्द्रह बार, जब तक श्वास लेने के क्रम में सहजता न आ जाये। उसके बाद फिर दूसरी नासिका से इस क्रिया को करते हैं और सम्पूर्ण प्रक्रिया को तब तक दुहराते जाना है जब तक सहज रूप से श्वसन क्रिया न होने लगे।

तीसरी अवस्था में एक नासिका से श्वास लेनी और दूसरी से छोड़नी है, फिर दूसरी नासिका से लेनी और पहली से छोड़नी है। हर बार यह प्रयत्न करना है कि श्वास को हम धीमा रखें। जितना लम्बा कर सकते हैं, उतना करें। जितना गहरा बना सकते हैं, उतना बनायें। इस क्रिया को भी पाँच से पन्द्रह-बीस बार दोहरायें।

अगली अवस्था में श्वास के साथ गिनती जोड़ी जाती है। पूरक और रेचक की संख्या सम होनी चाहिए। चाहे यह संख्या पाँच हो, दस हो, पन्द्रह हो या बीस हो। इसे क्रमश: धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है। जब पूरक और रेचक की लम्बाई

बढ़ती है और श्वास लेने-छोड़ने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, फेफड़ों में वायु की कमी का आभास नहीं होता, तब कुम्भक को इसमें जोड़ा जाता है।

सबसे पहले अन्तरंग कुम्भक करते हैं। एक विशेष अनुपात में श्वास को लेना, रोकना और छोड़ना। तीनों में सम अनुपात होता है। दाहिनी नासिका से श्वास अन्दर लेते हैं, उसे अन्दर रोकते हैं और बायीं नासिका से छोड़ देते हैं। फिर बायीं से अन्दर, रोकना और दाहिनी से बाहर। अन्तर्कुम्भक के अनुपात को भी धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है, ताकि कुम्भक करने के पश्चात् शरीर में किसी प्रकार का तनाव उत्पन्न न हो।

अगली अवस्था में बहिर्कुम्भक को जोड़ा जाता है और इसकी भी अवधि को धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है। इसके बाद पूरक, रेचक, अन्तर्कुम्भक और बाह्य कुम्भक में एक ही अनुपात लागू होता है। अन्य योग ग्रन्थों के अनुसार कम-से-कम बारह की गिनती होनी चाहिए। बारह की गिनती तक लेना, बारह तक रोकना, बारह तक छोड़ना और बारह तक ही बाहर रोकना। जब 12:12:12:12 में प्रवीणता आ जाये, तब अनुपात में परिवर्तन किया जा सकता है। अब एक लेना, दो रोकना, एक छोड़ना और एक रोकना। अर्थात् पूरक, अन्तर्कुम्भक, रेचक और बाह्य कुम्भक का अनुपात 1:2:1:1 होता है। जब इसमें प्रवीणता आ जाये तब गिनती को बढ़ा सकते हैं। अगली अवस्था में बाह्य कुम्भक को भी अन्तर्कुम्भक के समान किया जाता है। अनुपात होता है 1:2:1:2.

प्राणायाम एक ऐसी क्रिया है कि आप इसे एक दिन या एक महीने या एक साल में सिद्ध नहीं कर सकते। इसीलिए प्राणायाम के अभ्यास के पूर्व महर्षि घेरण्ड नाड़ी-शुद्धि पर अधिक जोर दे रहे हैं। कहते हैं कि नाड़ी शुद्धि के बिना प्राणायाम का अभ्यास होना नहीं चाहिए।

पूरक, अन्तर्कुम्भक, रेचक और बाह्य कुम्भक के अनुपात को बढ़ाते हुए अन्त में 1:4:2:2. पर पहुँचा जाता है। इस प्रकार लगभग नौ अवस्थाओं में नाड़ी शुद्धि के अभ्यास को सिद्ध किया जाता है। यह तो सामान्य विधि है। उत्तम वर्ग के अभ्यासियों के लिए महर्षि घेरण्ड ने इसे बीज मन्त्र की गिनती के अनुपात और धारणा के साथ करने का निर्देश किया है। बीज मन्त्र का जप करते हुए, उस बीज मन्त्र से सम्बन्धित तत्त्व पर अपने चित्त को एकाग्र करने की क्रिया को उन्होंने उच्च वर्ग के लिए प्रथम अवस्था कहा है।

उन्होंने वायु मन्त्र 'यं' और धुँए के रंग की प्रकाशमान स्व-आकृति पर ध्यान करने का निर्देश किया है। यह क्रिया कुण्डलिनी योग के अन्तर्गत

अनाहत चक्र पर ध्यान करने के समान ही है। अनाहत चक्र के बीज मन्त्र का खयाल करते हुए, चिदाकाश में अनाहत चक्र की कल्पना को उत्तम वर्ग का प्रथम अभ्यास माना गया है। इसके बाद अग्नि तत्त्व पर ध्यान करने को कहते हैं। अग्नि तत्त्व का प्रतीक मणिपुर चक्र है। उत्तम वर्ग के अभ्यासियों के लिए दूसरी स्थिति है मणिपुर चक्र के बीज मन्त्र 'रं' का ख्याल करते हुए, अग्नि के प्रकाश पर ध्यान करना।

तीसरी स्थिति में उन्होंने नासिका के अग्रभाग पर ध्यान केन्द्रित कर वहाँ चन्द्रमा का ख्याल करने का निर्देश दिया है। सूर्य वास्तव में आज्ञा चक्र का प्रतीक है। आज्ञा चक्र में दो पंखुड़ियाँ हैं। एक पंखुड़ी सूर्य नाड़ी या पिंगला नाड़ी को दर्शाती है, इसका प्रतीक सूर्य है। दूसरी पंखुड़ी चन्द्र नाड़ी को दर्शाती है, इसका प्रतीक चन्द्र है।

बीज मन्त्र 'हं' की गिनती सोलह बार करते हुए बायीं नासिका से पूरक करिये। 'वं' बीज मन्त्र का मानसिक जप चौंसठ बार करते तक श्वास रोकिये। चन्द्र से स्रवित रस को ध्यान के माध्यम से देखने का प्रयास कीजिये। इस प्रकार के ध्यान से तन्त्रिका-तन्त्र शुद्ध हो जाता है। अन्त में बीज मन्त्र 'लं' की गिनती बत्तीस बार करते हुए दाहिनी नासिका से श्वास छोड़िये। उक्त श्वास क्रिया में 'हं', 'वं' एवं 'लं' बीज मन्त्रों का अनुपात 16:64:32 है।

इसके साथ नाड़ी शुद्धि क्रिया पूर्ण होती है। प्राणायाम की चर्चा करते हुए महर्षि घेरण्ड आगे कहते हैं

एवंविधां नाडी शुद्धिं कृत्वा नाडीं विशोधयेत् ।
दृढोभूत्वाऽऽसनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥44॥
सहित: सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भका: ॥45॥

अर्थ

नाड़ी शुद्धि को सिद्ध करके एक स्थिर आसन में बैठ जाना है और प्राणायाम के लिए तैयार होना है ॥44॥

प्राणायाम के आठ भेद हैं सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली ॥45॥

1. सहित प्राणायाम

सहितो द्विविधः प्रोक्तः सगर्भश्च निगर्भकः।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निगर्भो बीज वर्जितः॥47॥

अर्थ

सहित प्राणायाम दो प्रकार के होते हैं सगर्भ और निगर्भ। सगर्भ में बीज मन्त्र का प्रयोग किया जाता है और निगर्भ का अभ्यास बीज मन्त्र रहित होता है ॥47॥

व्याख्या

यहाँ तक तो उन्होंने नाड़ी शुद्धि की विभिन्न अवस्थाओं को पार करते हुए प्राणायाम का परिचय दिया। जब नाड़ी शुद्धि में प्रवीणता प्राप्त हो जाती है, तब एक क्रम से अभ्यास आरम्भ करने का निर्देश महर्षि घेरण्ड देते हैं। क्रम है सबसे पहले सहित प्राणायाम का अभ्यास हो। सहित प्राणायाम के दो विभाजन हैं सगर्भ और निगर्भ। जब तक सगर्भ की सिद्धि नहीं होती, तब तक सूर्यभेद की सिद्धि नहीं होती। सहित के पश्चात् सूर्यभेद को सिद्ध किया जाता है। सूर्यभेद के पश्चात् उज्जायी, फिर शीतली, फिर भ्रामरी और भस्त्रिका को सिद्ध किया जाता है। मूर्च्छा और केवली उच्च प्राणायाम माने गये हैं। इनका वर्णन इन्होंने अन्त में किया है। प्राणायाम का जो उद्देश्य इन्होंने बतलाया था, उसी उद्देश्य की पूर्ति इन अभ्यासों से होने जा रही है।

प्राणायाम के बारे में महर्षि घेरण्ड ने पूर्व में कहा था कि इससे शरीर में हलकेपन का आभास होता है और इस हलकेपन के आभास में शारीरिक स्थूलता अवश्य कम होती है, लेकिन जिस सन्दर्भ में हलकेपन की चर्चा वे यहाँ पर कर रहे हैं, वह मोटे शरीर को पतला बनाना नहीं है। वरन् जब शरीर के भीतर प्राण की जागृति होती है तब प्राणों का विकास हलकेपन का आभास देता है और प्राणों की जागृति से उनका तात्पर्य भी यही है।

सगर्भ प्राणायाम

प्राणायामं सगर्भं च प्रथमं कथयामि ते ।
सुखासनेचोपविश्य प्राङ्गमुखो वाऽप्युदङ्मुखः ।
रजोगुणं विधिं ध्यायेद्रक्तवर्णमवर्णकम् ॥48॥

इडया पूरकेद्वायुं मात्रया षोडशैः सुधीः।
पूरकान्ते कुम्भकाद्ये कर्त्तव्यस्तूड्डियानकः ॥49॥
सत्त्वमयं हरिं ध्यात्वा उकारं कृष्णवर्णकम् ।
चतुःषष्ट्या च मात्रया कुम्भकेनैव धारयेत् ॥50॥
तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारं शुक्लवर्णकम् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया चैव रेचयेद्विधिना पुनः ॥51॥
पुनःपिङ्गलयाऽऽपूर्य कुम्भकेनैव धारयेत् ।
इडया रेचयेत्पश्चात् तद्बीजेन क्रमेण तु ॥52॥
अनुलोमविलोमेन वारंवारं च साधयेत् ।
पूरकान्ते कुम्भकान्तं धृतनासापुटद्वयम् ।
कनिष्ठिकानामिकाङ्गुष्ठैस्तर्जनी मध्यमे विना ॥53॥

अर्थ

पहले सगर्भ प्राणायाम की विधि बताता हूँ। पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके सुखासन पर बैठें और लाल वर्ण के, रजोगुण युक्त ब्रह्म पर ध्यान करें। बायीं नासिका से 'अं' बीज के सोलह बार जप के साथ पूरक करें। पूरक के अन्त के बाद और कुम्भक के आरम्भ से पहले उड्डियान बन्ध लगायें। फिर सतोगुणी उकार बीज रूप कृष्ण वर्ण हरि का ध्यान और जप करते हुए चौंसठ मात्रा तक कुम्भक करें। फिर तमोगुण युक्त मकार रूपी शुक्ल वर्ण के शिवजी के ध्यान के साथ 'म' बीज मन्त्र जपते हुए रेचक करें। तत्पश्चात् उक्त प्रकार से ही दायीं नासिका से पूरक, कुम्भक और बायीं नासिका से रेचक करें। इस प्रकार अनुलोम, विलोम से अभ्यास करते हुए तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों को न लगायें ॥48-53॥

व्याख्या

सुखासन का अर्थ यहाँ शारीरिक स्थिति या शारीरिक अभ्यास नहीं है। प्राणायाम के लिए वे पहले ही ध्यान के आसनों की चर्चा कर चुके हैं और यहाँ पर उन्होंने सुखासन शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया है कि किसी ऐसे सुखद आसन में बैठ जाओ जिसमें तुम्हें सुख की प्राप्ति हो। उत्तर या पूर्व की ओर मुख करो।

विधि– पहले ब्रह्मा पर ध्यान लगाना और उन पर सजगता को केन्द्रित करते समय उन्हें लाल रंग में देखना है, जो रजोगुण का प्रतीक है। हो सकता

है यह वर्णन अभी आपको थोड़ा विचित्र प्रतीत हो, लेकिन पूरे वर्णन के पश्चात् आपको मालूम पड़ेगा कि उन्होंने इस प्रकार के प्रतीकात्मक उदाहरणों का प्रयोग यहाँ पर क्यों किया है।

ब्रह्मा पर ध्यान करते हुए यह कल्पना करनी है कि वे लाल हैं और रजस् गुणों से परिपूर्ण हैं। उनका सांकेतिक वर्ण 'अ' है, फिर इडा नाड़ी, अर्थात् बायीं नासिका से पूरक करते हुए वायु को अन्दर खींचना है और अकार की मात्रा को सोलह बार गिनना है। पूरक के पश्चात् कुम्भक लगाना है और कुम्भक लगाकर उड्डियान बन्ध लगाना है। अब यह बड़ा विचित्र लगता है, क्योंकि पेट भरा है और उसके बाद पेट को अन्दर करना है। यह सहज नहीं है।

सगर्भ प्राणायाम की यही विशेषता है, क्योंकि सामान्य रूप से प्राणायाम की पद्धति में शिक्षा दी जाती है कि अगर व्यक्ति अन्तर्कुम्भक लगाता है, तो साथ में मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध का अभ्यास होना चाहिए और यदि बहिर्कुम्भक का अभ्यास कर रहा है तो उड्डियान बन्ध लगाना चाहिए, क्योंकि उस समय पेट खाली रहता है। लेकिन यहाँ पर उलटा बताया गया है।

अब हम एक-एक बिन्दु को क्रम से समझेंगे। यहाँ पर महर्षि ने ब्रह्मा को लाल रंग का माना है और उन्हें रजोगुण का प्रतीक बताया है। सामान्य रूप से मनुष्य ब्रह्मा को सात्विक मानते हैं, लेकिन वास्तविक रूप में देखा जाये तो ब्रह्मा सत्व नहीं, रजोगुणी हैं, क्योंकि उनका कार्य है सृष्टि करना और सृष्टि की जो क्रिया है, वह रजोगुण के बिना सम्भव नहीं हो सकती।

तन्त्र शास्त्र में भी इसका उल्लेख आया है कि देवियाँ लाल वस्त्र धारण करती हैं। लाल वस्त्र क्रिया का प्रतीक है। इसी विचारधारा को महर्षि घेरण्ड ने यहाँ पर व्यक्त किया है। सृष्टि के कार्य में जो क्रिया सम्पन्न हो रही है, उस क्रिया शक्ति का गुण है रजस् और वर्ण है लाल और उसकी मात्रा या ध्वनि 'अकार' है। अगर 'अकार' को हम दूसरे तरीके से समझने का प्रयत्न करें तो माण्डूक्य उपनिषद् का सहारा लेना पड़ेगा, क्योंकि अकार को जाग्रत अवस्था या वैश्वानर से जोड़ा गया है। चेतना की जो जाग्रत अवस्था है, वह व्यक्त अवस्था है। जो इस चराचर जगत् में प्रकट होती है, वह बहिर्मुखी स्थिति है। सृष्टि में बहिर्मुखता का कार्य होता है, अन्तर्मुखता का नहीं, इसीलिए 'अकार' को ब्रह्मा का सांकेतिक शब्द माना गया है।

इडा नाड़ी या बायीं नासिका से 'अ' की गिनती सोलह बार करते हुए श्वास को अन्दर खींचना है। फिर कुम्भक करके उड्डियान बन्ध लगाना है। कुम्भक

की अवस्था में हरि पर ध्यान करना है और 'उ' बीज मन्त्र की गिनती चौंसठ बार करते तक कुम्भक लगाये रखना है। हरि को कृष्ण वर्ण में, अर्थात् काले रंग में देखना है। महर्षि ने हरि को सात्विक माना है। यहाँ पर फिर विचित्र बात है कि काले रंग को सात्विक कैसे मान लिया गया। सामान्यत: सफेद रंग को सात्विक माना जाता है।

कहा गया है कि कुम्भक के समय उड्डियान बन्ध का अभ्यास करना चाहिए। यहाँ पर किसी दूसरे बन्ध की चर्चा नहीं की गयी है। जब पूर्ण रूप से श्वास को अन्दर खींचकर, पेट को अन्दर करके उड्डियान बन्ध लगाया जाता है तब विशेषकर छाती पर जो गड्ढा होता है, जिसे उरोस्थि कहते हैं, उस पर दबाव पड़ता है। साथ-ही कमर के ऊपरी हिस्से में नाभि कमल के पीछे भी दबाव पड़ता है, जो मणिपुर का स्थान है। मणिपुर चक्र में अग्नि तत्त्व का केन्द्र है और छाती में जो उरोस्थि है, वह वायु तत्त्व का केन्द्र है।

ये दो चक्र प्राणायाम में बहुत महत्त्वपूर्ण माने गये हैं, क्योंकि प्राणों के विकास, उत्थान और जागृति का केन्द्र मणिपुर है। जब प्राणों का संचार मणिपुर से शरीर के अन्य अंगों में होता है तब इसके लिए वायु का प्रयोग किया जाता है। अत: वायु तत्त्व और अग्नि तत्त्व को प्रबल बनाने के लिए इन दो चक्रों को जाग्रत किया जाता है। इसके लिए उड्डियान बन्ध के अभ्यास का निर्देश दिया गया है।

महर्षि घेरण्ड आगे कहते हैं कि जब कुम्भक लगाते हैं तब 'उ' मन्त्र का ख्याल करते हुए सर्वगुण सम्पन्न ईश्वर, अर्थात् हरि पर ध्यान करना है और बीज मन्त्र की गिनती चौंसठ बार करते तक कुम्भक लगाये रखना है।

हरि का रंग काला है और वे सात्विक या आध्यात्मिक गुण से परिपूर्ण हैं। काला अदृश्य और निर्विकार प्रकृति का रंग है। प्रकृति में जो भी अभिव्यक्ति होती है, उसमें रजोगुण और तमोगुण दिखलायी देते हैं, लेकिन अव्यक्त प्रकृति का रंग काला है, जहाँ पर कुछ व्यक्त नहीं है, सब मूल अवस्था में केन्द्रित है। यहाँ सत्व अवस्था है, जिसको कहते हैं प्रकाश-शीलत्व या प्रकाश का स्वभाव, क्योंकि उस अव्यक्त अवस्था में सब कुछ बीज रूप में विद्यमान है। अव्यक्त अवस्था में न तो किसी प्रकार की रजोगुणी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और न ही तमोगुणी। यह जो शून्य स्थिति है, यही सत्व है। हमारा अनुमान है कि महर्षि घेरण्ड यहाँ पर किसी तान्त्रिक सिद्धान्त का सहारा ले रहे हैं। यह वैदिक सिद्धान्त नहीं है और न यौगिक सिद्धान्त है।

इसके पश्चात् रेचक करते समय शिव पर ध्यान लगाना है। उनका रंग उज्जवल है और वे तामसिक गुणों से परिपूर्ण हैं। उनका सांकेतिक शब्द मकार है और बीज मन्त्र 'म' है। इस बीज मन्त्र की गिनती बत्तीस बार करते हुए पिंगला नाड़ी से रेचक करना है। अर्थात् दाहिनी नासिका से श्वास छोड़नी है। यहाँ पर भी वही विचित्रता या विशेषता, चाहे जो कहना चाहें, दिखलायी दे रही है। शिव को हम संहारक के रूप में जानते हैं। यहाँ पर कहा गया है कि वे तामसिक गुणों से परिपूर्ण हैं और उनका रंग उज्जवल है। यहाँ पर तामसिक गुण का अर्थ है परिवर्तन की क्रिया। सफेद में, प्रकाश की स्थिति में आप रूप, रंग, पदार्थ इत्यादि को देख सकते हैं। चूँकि यहाँ पर प्रकाश की अवस्था में भिन्नताओं का ज्ञान हो रहा है और यह जो भिन्नता का ज्ञान है, अनेकता का ज्ञान है, वह तमस् का रूप है, इसलिये यहाँ पर शिव को तामसिक कहा गया है।

यदि हम एक रूप को देखें, तो उसमें परिवर्तन होता है। रंग को देखें, तो वह भी बदलता रहता है। प्रकाश में आप सभी चीजों को देख सकते हैं, अर्थात् दृष्टि की कोई सीमा नहीं है। अगर प्रकाश न रहे तो कुछ नहीं दिखेगा। अन्धकार में एक सीमा हो जाती है; सब एक रंग में मिल जाते हैं, लेकिन प्रकाश में सब चीजें स्पष्ट रूप में दिखलायी देती हैं, इसलिये प्रकाश को उन्होंने परिवर्तक शक्ति के रूप में, तामसिक गुण से परिपूर्ण माना है।

पुन: दाहिनी नासिका से पूरक करना है, कुम्भक लगाना है और बायीं नासिका से रेचक करना है। बीज मन्त्र का क्रम ऊपर के अनुसार रहेगा। अनुपात में भिन्नता नहीं आनी चाहिए। इस प्रकार क्रमश: दाहिनी और बायीं नासिका से यह अभ्यास तब तक करते जाना है, जब तक पूर्णता प्राप्त न हो। पूरक के बाद तृतीय एवं चतुर्थ अंगुलियों से एक नासिका को तथा अँगूठे से दूसरी नासिका को बन्द करना है। प्रथम दो अँगुलियों (तर्जनी एवं मध्यमा) को उपयोग में नहीं लाना है।

बहुत-से लोग सामान्य रूप से प्राणायाम में इस मुद्रा को अपनाते हैं। सभी योग ग्रन्थों में यही मुद्रा बतायी गयी है, लेकिन हमने इसमें थोड़ा परिवर्तन किया है। जिन अंगुलियों का प्रयोग नहीं होता, जो अन्दर दबी हुई हैं, उनको भ्रूमध्य में रखना चाहिए, ताकि अपने ध्यान को हर समय वहाँ पर केन्द्रित रखा जा सके। व्यावहारिक रूप से भी यही मुद्रा सिखाते हैं। यह अभ्यास नाड़ी शुद्धि की भाँति ही प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना है कि सगर्भ में त्रिदेवों का और बीज मन्त्रों अ, ऊ और म का, जो क्रमश: तीन शक्तियों के प्रतीक हैं, ध्यान करना पड़ता है।

निगर्भ प्राणायाम

प्राणायामो निगर्भस्तु विना बीजेन जायते ।
वामजानूपरिन्यस्तं वामपाणितलं भ्रमेत् ।
एकादिशतपर्यन्तं पूरकुम्भकरेचकम् ॥54॥
उत्तमा विंशतिर्मात्रा मध्यमा षोडशी स्मृता ।
अधमा द्वाद्वशी मात्रा प्राणायामास्त्रिधा स्मृताः ॥55॥
अधमाज्जायते घर्मो मेरुकम्पश्च मध्यमात् ।
उत्तमाच्च भूमित्यागस्त्रिविधं सिद्धिलक्षणम् ॥56॥

अर्थ

निगर्भ प्राणायाम बीज मन्त्र के बिना ही किया जाता है। पूरक, कुम्भक और रेचक वाले प्राणायाम की एक से सौ तक मात्राएँ होती हैं। इसी प्रकार उत्तम प्राणायाम की बीस मात्राएँ, मध्यम की सोलह और अधम की बारह होती हैं। इस प्रकार प्राणायाम के तीन अंग होते हैं। अधम प्राणायाम से स्वेद निकलता है, मध्यम से मेरुकम्प होता है और उत्तम से पृथ्वी से उठकर आकाश में विचरण करता है। इस प्रकार स्वेद निकलना, मेरुकम्प होना और पृथ्वी से उठना, तीनों लक्षण सिद्धि के समझने चाहिए ॥54-56॥

व्याख्या

यहाँ पर निगर्भ प्राणायाम के तीन विभाजन किये गये हैं उत्तम, मध्यम और अधम निगर्भ। इस प्राणायाम में बीज मन्त्र का सहारा नहीं लेना है और तत्त्व धारणा का अभ्यास भी नहीं करना है। केवल संख्या की गिनती करनी है। पूरक, कुम्भक और रेचक की कुल गिनती 112 तक की जा सकती है।

उत्तम निगर्भ प्राणायाम में 20 तक गिनती से पूरक आरम्भ होता है। अर्थात् 20 गिनने तक श्वास लेना, 80 गिनने तक रोकना और 40 गिनने तक छोड़ना। मध्यम निगर्भ में सोलह मात्रा का अभ्यास करना है, अर्थात् पूरक, कुम्भक और रेचक में सोलह, चौंसठ और बत्तीस का अनुपात रहे। अधम निगर्भ में 12 तक गिनती से पूरक क्रिया की जाती है।

यहाँ पर उत्तम, मध्यम और अधम कहा गया है। व्यावहारिक रूप से हम इन्हें प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा कह सकते हैं, क्योंकि जो व्यक्ति 20 गिनने तक पूरक, 80 मात्रा तक कुम्भक और 40 मात्रा तक रेचक करता है, उसके लिए



स्वयं पर, अपनी श्वास पर, शारीरिक और आन्तरिक बेचैनी पर, मानसिक उत्तेजना और मस्तिष्क की स्थिति पर बहुत संयम रखना आवश्यक हो जाता है।

इन तीनों प्राणायामों की सिद्धि में अलग-अलग लक्षण दिखलायी देते हैं, जो यह दर्शाते हैं कि यह अवस्था सिद्ध हो गयी है। उत्तम प्राणायाम के सिद्ध होने पर 'भूमि त्याग' होता है, अर्थात् जब पूरक, कुम्भक और रेचक में 20:80:40 की सिद्धि होती है, प्राणों का विस्तार होता है, तब उस अवस्था में प्राणशक्ति जाग्रत हो जाती है, जो शरीर को हलका बनाती है और शरीर भूमि का त्याग करने में सक्षम हो जाता है।

मध्यम निगर्भ की सिद्धि का लक्षण है मेरुदण्ड में कम्पन। मेरुदण्ड में कम्पन दो कारणों से होता है। पहला, जब चक्रों में प्राण की जागृति होती है और दूसरा, जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है तथा ऊपर के चक्रों में आरोहण शुरू करती है।

अभी तक जितने अभ्यासों का वर्णन महर्षि घेरण्ड ने किया है, सभी में सोलह, चौंसठ और बत्तीस का अनुपात बताया है, जो मध्यम प्राणायाम की स्थिति है, जिसमें प्राणोत्थान की स्थिति आती है और कुण्डलिनी जागरण के लिए शरीर सक्षम होता है। अधम निगर्भ प्राणायाम से अगर शरीर से पसीना निकलने लगे, तो यह मान लेना चाहिए कि इसकी भी सिद्धि हो गयी और प्राणों के क्षेत्र में स्पन्दन या जागृति प्रारम्भ हो रही है।

प्राणायामात्खेचरत्वं प्राणायामाद्रुजां हतिः।
प्राणायामाच्छक्तिबोधः प्राणायामान्मनोन्मनी ।
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ॥57॥

अर्थ

प्राणायाम के साधन से आकाश-गमन, रोग-नाशन और कुण्डलिनी जागरण होता है। प्राणायाम का साधन करने वाले पुरुष के चित्त में परमानन्द की उत्पत्ति होती है और वह सुखी बनता है ॥57॥

व्याख्या

इस श्लोक में महर्षि घेरण्ड ने प्राणायाम से होने वाले लाभों को वर्णित किया है। प्राणायाम का साधन वरदानों से परिपूर्ण रहता है। आनन्द प्रदान करता है। हर प्रकार के रोग का निवारण करता है। बौद्धिक क्षमता में वृद्धि होती है। अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है और आकाश में विचरण करने की क्षमता प्राप्त होती है। इस प्रकार प्राणायाम से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, सभी प्रकार के लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। सूक्ष्म एवं स्थूल, दोनों शरीर इससे लाभन्वित होते हैं।

2. सूर्यभेद

कथितं सहितं कुम्भं सूर्यभेदनकं श्रृणु ।
पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत् ॥58॥
धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः।
यावत्स्वेदं नखकेशाभ्यां तावत्कुर्वन्तु कुम्भकम् ॥59॥

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ तथैव च ।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः॥60॥
हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यमः॥61॥
व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्चवायवः॥62॥

तेषामपि च पञ्चानां स्थानान्यपि च वदाम्यहम् ।
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः॥63॥
कृकलः क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।
न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः॥64॥
नागो गृह्णाति चैतन्यं कूर्मश्चैव निमेषणम् ।
क्षुधा तृट् कृकरश्चैव चतुर्थेन तु जृम्भणम् ॥65॥
भवेद्धनञ्जयाच्छब्दं क्षणमात्रं न निःसरेत् ॥66॥

सर्वे तु सूर्यसम्भिन्ना नाभिमूलात्समुद्धरेत् ।
इडया रेचयेत्पश्चाद्धैर्येणाखण्डवेगतः॥67॥
पुनः सुर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि ।
रेचयित्वा साधयेक्तु क्रमेण च पुनः पुनः॥68॥

कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः।
बोधयेत्कुण्डलीं शक्तिं देहानलविवर्धनम् ।
इतिते कथितं चण्डं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥69॥

अर्थ

सहित कुम्भक ऊपर कहा गया, अब सूर्यभेद को सुनो। प्रथम सूर्य नाड़ी से यथा शक्ति वायु भर कर, जालन्धर बन्ध लगाकर कुम्भक करें और जब तक पाँव से केश पर्यन्त पसीना न आ जाये, तब तक कुम्भक द्वारा वायु धारण किये रहें ॥58-59॥

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये दस प्राण हैं। हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और पूरे शरीर में व्यान, ये पाँच प्राण प्रमुख हैं। नागादि पाँच उपप्राण हैं। उद्गार में नाग, उन्मीलन में कूर्म, भूख में कृकल, जँभाई लेने में देवदत्त और मरने पर भी जो नहीं छोड़ता वह धनञ्जय कहलाता है। नाग से चैतन्य, कूर्म से निमेषण, कृकल से भूख-प्यास, देवदत्त से जँभाई और धनञ्जय कभी भी नहीं निकलता है तथा उससे वाणी निकलती है ॥60-66॥

कुम्भक करने के समय उक्त प्राणादि वायुओं को पृथक् करके सूर्य नाड़ी द्वारा नाभिमूल से समान वायु को उठाना चाहिए और बायीं नासिका से धीरे-धीरे रेचक करें। फिर दाहिनी नासिका से वायु पूरित कर विधिवत् कुम्भक करें और बायीं नासिका से रेचक करें। इस क्रिया को बार-बार करना चाहिए। यही क्रिया सूर्यभेद कहलाती है। यह सूर्यभेद संज्ञक प्राणायाम जरा-मृत्यु का नाश करने वाला है। इससे कुण्डलिनी का जागरण होता और शरीरस्थ अग्नि प्रदीप्त होती है। हे चण्ड! इस प्रकार यह सूर्यभेद नामक श्रेष्ठ प्राणायाम मैंने तुम्हें बताया है ॥67-69॥

व्याख्या

सूर्यभेद प्रणायाम की विधि का वर्णन करने के पूर्व महर्षि घेरण्ड बतलाते हैं कि मानव शरीर में दस प्रकार की वायु हैं (1) प्राण (2) अपान (3) समान (4) उदान (5) व्यान (6) नाग (7) कूर्म (8) कृकल (9) देवदत्त और (10) धनञ्जय। इन्हीं दस वायुओं के माध्यम से सब शारीरिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

अब यहाँ पर एक बात और समझ लेनी चाहिए कि बोलचाल की भाषा में हम जिनको प्राण कहते हैं, वह वास्तव में महाप्राण है। प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान, पंच प्राण हैं। इनके अतिरिक्त शरीर में पाँच उपप्राण हैं। महर्षिघेरण्ड ने दस प्राणों की चर्चा अपने मन्त्रों में की है।

'हृदि प्राणो वहेन्नित्यं' प्राण की स्थिति हृदय क्षेत्र में है। 'अपानोगुदमण्डले' अपान गुदा प्रदेश में स्थित है। *'समानाभिदेशेतु'* समान नाभि प्रदेश में है।

'उदानकण्ठमध्यत:' उदान गले के क्षेत्र में स्थित है। जिसको यहाँ पर इन्होंने गले का क्षेत्र कहा है, वे वास्तव में शरीर के छोर हैं, जैसे, गले से ब्रह्म रन्ध्र तक पूरा सिर, दोनों पैर। और व्यान पूरे शरीर में व्याप्त है। ये पंच प्रधान वायु हैं। इन्हें 'प्राण' कहते हैं।

अन्य पाँच वायु हैं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। इन्हें उपप्राण कहते हैं। उपप्राणों के विभिन्न कार्य हैं। *'उद्गारे नाग आख्यात:'* डकार लेने की क्रिया में नाग वायु कार्य करती है। *'कूर्मस्तून्मीलने स्मृत:'* आँखों को खोलने और बन्द करने का कार्य कूर्म वायु के माध्यम से होता है। *'कृकल: क्षुत्कृते ज्ञेयो'* छींकने की क्रिया क्रिकल वायु से होती है। *'देवदत्तो विजृम्भणे'* जँभाई की क्रिया देवदत्त द्वारा होती है। *'न जहातिमृतेक्वापि सर्वव्यापी धनञ्जय:'* धनञ्जय वायु मृत्यु के उपरान्त भी शरीर की गरमाहट के लिए विद्यमान रहती है।

पाँच उप्रपाणों की ये क्रियायें वास्तव में स्वायत्त क्रियायें प्रतीत होती हैं। लेकिन शरीर में इनका भी एक नियन्त्रक है। पलक झपकने में हमारा स्वैच्छिक नियन्त्रण तो नहीं रहता, लेकिन कब पलक झपकानी है, कब आँखों में तनाव उत्पन्न हो रहा है, कब आँखों की मांसपेशियों को विश्राम की आवश्यकता है, यह सब देखने का कार्य मस्तिष्क का रहता है।

योग की विचारधारा के अनुसार हर एक शारीरिक क्रिया के पीछे एक शक्ति माध्यम बनती है। उस शक्ति को शारीरिक स्तर पर हम उद्दीपन कह सकते हैं। चाहे उसे प्रेरक उद्दीपन का नाम दें अथवा संवेदी उद्दीपन का, लेकिन संवेदना या उद्दीपन के रूप में सन्देश एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है और उसकी प्रतिक्रिया होती है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया के पीछे एक शक्ति कार्यरत है। ये शक्तियाँ, जो शरीर से सम्बद्ध हैं और शरीर की स्वैच्छिक क्रियाओं का संचालन करती हैं, योग में इन्हें उपवायु के रूप में देखा गया है।

यह बात ध्यान में रखिये कि प्रत्येक उपवायु का सम्बन्ध एक प्राण के साथ होता है। जैसे नाग का सम्बन्ध समान के साथ है। आँखों की पलकें झपकने की क्रिया, जो कूर्म वायु द्वारा सम्पन्न होती है, उदान से सम्बद्ध है। और छींकने की क्रिया, अर्थात् क्रिकल वायु का सम्बन्ध प्राण से है।

विदेशों में ऐसी मान्यता है और वहाँ के ग्रन्थों में भी लिखा है कि जब मनुष्य छींकता है, तब उस क्षण मात्र के लिए उसकी आत्मा शरीर से बाहर चली जाती है और शरीर में शैतान प्रवेश कर जाता है। इसलिये छींकने पर हमेशा कहते हैं, भगवान् तुम्हारा भला करे। हमारे यहाँ भी बच्चों को छींक आने पर *'शतम्*

जीव' कहते हैं। यह प्रथा है। पता नहीं इन सबके पीछे क्या रहस्य है। कहना कठिन है। हो सकता है यह धारणा रही हो कि जिस क्षण प्राण वायु बाहर निकल रही हो, उस क्षण सकारात्मक विचार अन्दर डाला जाये, लेकिन यह धारणा पहले से ही है। इसका अर्थ है कि जानकारी उस समय भी रही होगी कि इस क्रिया का सम्बन्ध प्राण से है।

जब हम प्राण को एक छींक में बाहर करते हैं तब क्षण मात्र के लिए शून्य उत्पन्न हो जाता है और शून्य की स्थिति यदि बनी रहे तो हो सकता है मृत्यु प्राप्त हो। ठीक-ठीक कहना कठिन है। यहाँ पर केवल उदाहरण के रूप में बतलाया गया है कि छींकने की क्रिया का सम्बन्ध प्राण से है। जँभाई में देवदत्त की क्रिया सहायक होती है। देवदत्त का सम्बन्ध अपान वायु के साथ है। जब आप जँभाई लेते हैं तब 'आ.....' की-सी ध्वनि करते हुए वायु को अच्छी तरह मुँह के अन्दर खींचते हैं। उसके बाद जो निकलता है वह बिना आवाज के या आवाज के साथ निकलता है। अत: यह जो खींचने और नीचे ले जाने की क्रिया है, शक्ति को नीचे करने की जो प्रक्रिया है, उसका सम्बन्ध अपान वायु के साथ है।

कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् शरीर से प्राण निकल जाते हैं, लेकिन शरीर की गर्मी तत्काल नहीं जाती। शरीर में कड़ापन आने में समय लगता है। आन्तरिक ऊर्जा या शारीरिक तापमान का सम्बन्ध व्यान के साथ है और व्यान से सम्बन्धित वायु है धनञ्जय। कहा जाता है कि मृत्योपरान्त भी धनञ्जय की अवस्थिति शरीर में रहती है और यह शरीर को छोड़ने वाला अन्तिम प्राण है। साथ-ही कहा गया है कि धनञ्जय वाणी को भी अपने नियन्त्रण में रखती है।

प्राण को इस प्रकार समझा कर महर्षि घेरण्ड सूर्यभेद प्राणायाम की चर्चा करते हैं। कहते हैं, सूर्यभेद प्राणायाम के अभ्यास के लिए सूर्य नाड़ी, अर्थात् दाहिनी नासिका से श्वास खींचिये और खींचने के पश्चात् कुम्भक लगाइये। अपने सामर्थ्य के अनुसार अधिक-से-अधिक देर तक अन्तर्कुम्भक का अभ्यास जालन्धर बन्ध के साथ करना है, जब तक शरीर से पसीना न निकलने लगे। श्वास खींचते समय अनुभव कीजिये कि वायु नाभि-प्रदेश से ऊपर चढ़ रही है। तत्पश्चात् कुम्भक और जालन्धर बन्ध का त्याग करके पुन: दायीं नासिका से धीरे-धीरे रेचक कीजिये। रेचक के पश्चात् पुन: दाहिनी नासिका से पूरक, उसी विधि से कुम्भक और जालन्धर बन्ध, फिर धीरे-धीरे रेचक। इस क्रिया की पुनरावृत्ति अनेक बार होनी चाहिए।

दाहिनी नासिका से ही पूरक और रेचक के पीछे क्या सिद्धान्त है, व्यावहारिक रूप से यह कहना बहुत कठिन है। हम जो विधि सिखलाते हैं, वह इस प्रकार है

विधि– ध्यान के किसी सुविधाजनक आसन में बैठते हैं। सिर एवं मेरुदण्ड को सीधा रखें। हाथों को घुटनों के ऊपर चिन् या ज्ञान मुद्रा में रखें। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनायें। जब शरीर शान्त, शिथिल एवं आरामदायक स्थिति में हो, तो श्वास के प्रति तब तक सजग बने रहें जब तक यह धीमी और गहरी न हो जाए। फिर दाहिने हाथ की तर्जनी एवं मध्यमा को भ्रूमध्य पर रखें। दोनों अंगुलियाँ तनावरहित रहें। अँगूठे को दायीं नासिका के ऊपर तथा अनामिका को बायीं नासिका के ऊपर रखें। इन अंगुलियों द्वारा क्रम से नासिका छिद्रों को बन्द कर श्वास के प्रवाह को नियन्त्रित किया जाता है। पहली और दूसरी अंगुली हमेशा भ्रूमध्य में रहेंगी। अनामिका से बायीं नासिका को बन्द कर दाहिनी नासिका से श्वास अन्दर खींचते हैं, गिनती के साथ, ताकि श्वास पर नियन्त्रण रहे। पूरक की समाप्ति पर दोनों नासिकाओं को बन्द कर लेते हैं। कुम्भक करते हुए जालन्धर एवं मूलबन्ध लगाते हैं। पहली बार अभ्यास करते समय इस स्थिति में कुछ ही क्षण रहें। फिर मूलबन्ध छोड़कर जालन्धर बन्ध को छोड़ें। पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात 1:4:2 होता है। प्रारम्भ में 1:3:2 भी हो सकता है। फिर जालन्धर और मूलबन्ध का अभ्यास करते हैं। नाक को छोड़ते नहीं हैं। चार के अनुपात में कुम्भक के पश्चात् पहले मूलबन्ध छोड़ते हैं, फिर जालन्धर बन्ध। सिर को सीधा करते हैं और दाहिनी नासिका से ही श्वास बाहर करते हैं। यह एक आवृत्ति होती है।

अवधि– प्रारम्भ में इस अभ्यास की 10 आवृत्तियाँ पर्याप्त हैं। किन्तु धीरे-धीरे जब यह अभ्यास सरलता एवं सहजता से होने लगे तो अवधि को 10-15 मिनट तक बढ़ाया जा सकता है। धीरे-धीरे कुछ महीनों में कुम्भक की लम्बाई बढ़ायें। प्रारम्भ में अनुपात 1:1:1, तत्पश्चात् 1:2:2 तथा इसमें पूर्णता प्राप्त होने पर अनुपात 1:4:2 हो सकता है।

सावधानियाँ– सूर्यभेद प्राणायाम का अभ्यास भोजन के पश्चात् कभी न करें, क्योंकि यह पाचन से सम्बद्ध ऊर्जा के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा डालेगा। यदि 30 मिनट से अधिक देर तक इसका अभ्यास किया जाए तो यह श्वसन-चक्र में असन्तुलन उत्पन्न कर सकता है। सूर्यभेद एक शक्तिशाली प्राणायाम है, इसका अभ्यास कुशल मार्गदर्शन में ही करना चाहिए।

हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, मिर्गी से ग्रस्त व्यक्तियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– राजा को सम्बोधित करके महर्षि घेरण्ड उनका ध्यान इस प्राणायाम के लाभों की ओर आकृष्ट करते हैं। यह प्राणायाम बुढ़ापे एवं मृत्यु को दूर रखता है। कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करता है। शरीर की अग्नि या ताप को उत्तेजित करता है।

यह देखा गया है कि इस प्राणायाम के अभ्यास से शरीर के भीतर गरमी बहुत बढ़ जाती है। ठण्ढ के दिनों में इसका अभ्यास करके इस तथ्य का अनुभव कर सकते हैं। साथ-ही-साथ जो लोग निराशा की स्थिति में या अन्तर्मुखी रहते हैं, उनकी चेतना को बहिर्मुखी बनाने के लिए यह प्राणायाम बहुत उपयोगी है।

योगियों और योग वैज्ञानिकों का मत है कि दाहिनी नासिका का सम्बन्ध अनुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र से है। जब दाहिनी नासिका से हम एक ही क्रिया को बार-बार करते हैं, तब हमारे शरीर की अनुकम्पी-क्रियाशीलता और चयापचय की दर में वृद्धि होती है, जिसके कारण शरीर में इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं।

यह वात दोष का निवारण करता है। पिंगला नाड़ी को क्रियाशील बनाकर प्राण ऊर्जा को जाग्रत करता है। बहिर्मुखता तथा गत्यात्मकता को बढ़ाकर यह शारीरिक गतिविधियों को अधिक दक्षता से सम्पन्न करने में सक्षम बनाता है तथा निराशा को दूर करने में सहायक होता है। इस अभ्यास का सुझाव विशेषकर उन लोगों को दिया जाता है जो सुस्त एवं आलसी हैं या जो बाह्य जगत् से व्यवहार में कठिनाई का अनुभव करते हैं। यह मन को अधिक सतर्क एवं अनुभूतिक्षम बनाता है। यह ध्यान के पूर्व का बहुत अच्छा अभ्यास है। यह निम्न रक्तचाप, बाँझपन तथा कृमि के उपचार के लिए भी उपयोगी है।

इसके बाद एक और प्राणायाम का अभ्यास होता है, जिसका वर्णन महर्षि ने यहाँ पर नहीं किया है, वह है चन्द्रभेद प्राणायाम। इसकी विधि सूर्यभेद के समान ही है। अन्तर मात्र इतना है कि दाहिनी के बदले बायीं नासिका से अभ्यास किया जाता है। अनुभव के द्वारा यह देखा गया है कि जो व्यक्ति अति क्रियाशील होते हैं, उन्हें यदि चन्द्रभेद कराया जाये तो उनकी खोपड़ी ठण्ढी हो जाती है, उत्तेजना समाप्त हो जाती है।

3. उज्जायी प्राणायाम

नासाभ्यां वायुमाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य वायुं वक्त्रे च धारयेत् ॥70॥
मुखं प्रक्षाल्य सम्वन्द्य कुर्याज्जालन्धरं ततः।
आशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः॥71॥
उज्जायी कुम्भकं श्र्त्वा सर्वकार्याणिसाधयेत् ।
न भवेत्कफरोगश्च क्रूरवायुरजीर्णकम् ॥72॥
आमवातः क्षयः कासो ज्वरः प्लीहा न विद्यते ।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः॥73॥

अर्थ

बाह्य वायु को दोनों नासिका छिद्रों से खींचकर, आन्तरिक वायु को हृदय एवं कण्ठ से खींचें और कुम्भक द्वारा धारण करें। फिर मुख का प्रक्षालन कर जालन्धर बन्ध लगा कर विघ्नरहित विधि से यथाशक्ति वायु को धारण करें। यह उज्जायी कुम्भक कहलाता है। इससे सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। कफ रोग, क्रूर वायु और अजीर्ण की उत्पत्ति नहीं होती। आम वात, क्षय, कास, ज्वर, प्लीहा रोग नहीं रहते। यदि उज्जायी कुभक को सिद्ध कर लें, तो जरा-मरण भी नष्ट हो जाते हैं ॥70-73॥

व्याख्या

विधि– उज्जायी प्राणायाम की विधि का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि दोनों नासिकाओं से पूरक करते हुए श्वास को अन्दर खींचना है और वायु को मुँह में ही रखना है। इसके बाद कण्ठ को संकुचित कर सूक्ष्म ध्वनि उत्पन्न करते हुए हृदय एवं गले से वायु को खींचना है और इस वायु का योग पूरक के द्वारा खींची गयी वायु से करना है। अब प्रश्न उठता है कि हृदय एवं गले से श्वास को कैसे खींचा जाये, क्योंकि जब आप नासिका से श्वसन कर रहे हैं, तब श्वास तो पूरी अन्दर जा रही है। उसके मुँह में रुकने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

लेकिन इस विधि में जो संकुचन की क्रिया है, जिसमें कण्ठ को संकुचित किया जाता है और एक सूक्ष्म ध्वनि उत्पन्न करते हुए श्वास को भीतर लिया

जाता है, उसे ही उन्होंने हृदय और कण्ठ से श्वास लेना कह दिया। वे सीधा यह भी लिख सकते थे, *'कण्ठ संकोचनं कृत्वा'* कण्ठ को संकुचित करके श्वास को अन्दर खींचो, लेकिन उन्होंने नहीं लिखा। अनुमान लगाया जा सकता है कि संकुचन की विधि को ठीक तरह से समझाने के लिए उन्होंने ऐसा वर्णन किया है।

जब हम कण्ठ को संकुचित करते हैं तब श्वसन नली का छिद्र छोटा हो जाता है और जब वायु उस छोटे छिद्र से प्रवेश करती है तब बच्चे के कोमल खर्राटे के सदृश आवाज उत्पन्न होती है। यदि सही विधि से इसका अभ्यास किया जाए तो साथ-साथ पेट का भी संकुचन होता है। यह अपने आप, बिना किसी प्रयास के होता है। श्वास की आवाज बहुत ऊँची नहीं होनी चाहिए। वह केवल अभ्यासी का सुनाई दे, अन्य व्यक्तियों को नहीं।

इस प्रकार पूर्ण उज्जायी श्वास लेकर, फिर अन्तरंग कुम्भक और जालन्धर बन्ध का अभ्यास करना है। इसके पश्चात् उसी मार्ग में वैसी ही ध्वनि करते हुए रेचक के द्वारा धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाल दिया जाता है। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि यह गहरी श्वास लेने की क्रिया है।

सामान्य रूप से प्राणायाम के विभिन्न अभ्यासों के साथ इस क्रिया को जोड़ा जाता है। कई बार नाड़ी शोधन के अभ्यास में भी उज्जायी श्वसन करते हैं। यह एक अलग प्राणायाम नहीं है, लेकिन इसका अभ्यास अलग से किया जा सकता है। खेचरी मुद्रा के द्वारा जिह्वा को मोड़कर तालू मूल के पास ले जाने से गले में सूखापन नहीं आता। इसलिये अन्य योग ग्रन्थों में उज्जायी प्राणायाम के साथ खेचरी का अभ्यास भी जोड़ा गया है। योगियों का मत है कि इस अभ्यास से अजपाजप सिद्ध होता है।

अवधि– 10 से 20 मिनट तक अभ्यास करें।

सावधानियाँ– जो व्यक्ति स्वभाव से बहुत अधिक अन्तर्मुखी होते हैं, उन्हें यह अभ्यास नहीं करना चाहिए। हृदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों को उज्जायी के साथ बन्धों एवं कुम्भक का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ– उज्जायी प्राणायाम शान्ति प्रदायक माना जाता है तथा साथ ही यह शरीर के तापमान में वृद्धि भी करता है। योगोपचार में इसका उपयोग तन्त्रिका-तन्त्र को स्वस्थ बनाने तथा मन को शान्त करने के लिए किया जाता है। मानसिक स्तर पर इसका बहुत शिथिलीकारक प्रभाव होता है। यह अनिद्रा को दूर करने में सहायक है। निद्रा के पूर्व शवासन में इसका अभ्यास किया जा सकता है।

जब कुम्भक एवं बन्धों के बिना इसका अभ्यास किया जाता है तो यह हृदय गति को मन्द बनाता है तथा उच्च रक्तचाप से पीड़ित व्यक्तियों के लिए भी सहायक होता है। यह शरीर की सप्त धातुओं रक्त, अस्थि, मज्जा, वसा, वीर्य, त्वचा एवं मांस के दोषों का निवारण करता है। उज्जायी के अभ्यास से साधक को कफ, कब्ज, आँव, आँत का फोड़ा, जुकाम, बुखार और यकृत आदि के रोग नहीं होते। मृत्यु एवं बुढ़ापे का भय भाग जाता है। सामान्य रूप से देखा गया है कि प्रत्याहार के अभ्यास में उज्जायी विशेष लाभप्रद है।

टिप्पणी–उज्जायी प्राणायाम का अभ्यास किसी भी आसन में खड़े होकर, बैठकर या लेटकर किया जा सकता है। स्लिपडिस्क या कशेरुका सन्धि शोथ से पीड़ित व्यक्ति उज्जायी का अभ्यास वज्रासन या मकरासन में कर सकते हैं। बहुत से व्यक्ति उज्जायी का अभ्यास करते समय चेहरे की मांसपेशियों को कुन्चित कर लेते है। यह अनावश्यक है। चेहरे को यथासम्भव शिथिल रखने का प्रयास करें।

4. शीतली प्राणायाम

जिह्वया वायुमाकृष्य चोदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत्पुनः ॥74॥
सर्वदा साधयेद्योगी शीतलीकुम्भकं शुभम् ।
अजीर्णं कफपित्तं च नैव तस्य प्रजायते ॥75॥

अर्थ

जिह्वा के द्वारा वायु को खींचकर उदर को परिपूर्ण करें। फिर कुछ काल तक कुम्भक द्वारा वायु को धारण कर दोनों नासिका छिद्रों से निकाल दें। यह शीतली प्राणायाम कहलाता है। इसका साधन सदैव करना चाहिए। इससे अजीर्ण तथा कफ-पित्त के विकार उत्पन्न नहीं होते ॥74-75॥

व्याख्या

विधि– महर्षि घेरण्ड शीतली प्राणायाम की विधि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जीभ को बाहर निकाल कर उसे एक नली के सदृश बनाना और उस नली के माध्यम से गहरी श्वास खींचकर उदर को वायु से भर देना है तथा कुछ क्षणों के लिए ही कुम्भक का अभ्यास करना है।

यहाँ पर यह निर्देश नहीं दिया गया है कि यथासम्भव कुम्भक का अभ्यास हो। कहा गया है कि पूरक और रेचक के बीच क्षणमात्र का अन्तराल होना चाहिए। तो क्षणभर कुम्भक के दौरान जीभ को अन्दर खींचा जाता है, मुँह को



बन्द किया जाता है और फिर नासिका से श्वास बाहर निकाली जाती है। यह एक आवृत्ति होती है।

लाभ– महर्षि कहते हैं कि यह अभ्यास सरल है, किन्तु अत्यन्त लाभप्रद है। योगियों को सदैव इसका अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि इसके अभ्यास से अजीर्ण, कफ और पित्त की बीमारी नहीं होती। यह जैव-प्रेरण एवं तापमान नियमन से सम्बद्ध मस्तिष्क केन्द्रों को प्रभावित करता है। सामान्य रूप से यह भी देखा गया है कि शारीरिक गरमी को कम करने के लिए इसका अभ्यास लाभप्रद है, साथ-ही यह मन को शान्त करता है। यह मानसिक एवं भावनात्मक उत्तेजनाओं को शान्त करता तथा पूरे शरीर में प्राण के प्रवाह को निर्बाध बनाता है। इससे मांसपेशियों में शिथिलता आती तथा मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसका उपयोग रात्रि में निद्रा के पूर्व प्रशान्तक के रूप में किया जा सकता है।

इससे भूख-प्यास पर नियन्त्रण प्राप्त होता है और तुष्टि की भावना उत्पन्न होती है। गरमी के दिनों में पसीना छूटता है, या अधिक प्यास लगती है, या शरीर में बहुत गरमी और बेचैनी का अनुभव होता है, तो इनका निराकरण इस प्राणायाम से सम्भव है। जो व्यक्ति शीतली प्राणायाम को सिद्ध कर लेता है उसे प्यास अधिक नहीं लगती, प्यास पर उसका नियन्त्रण हो जाता है। गरम-से-गरम वातावरण में भी वह ठण्ढा रहता है। उसके शरीर का आन्तरिक तापमान नहीं बढ़ता। चयापचय की गति मन्द हो जाती है। अधिक श्रम से शरीर में थकान अधिक देर तक नहीं रहती, वरन् आन्तरिक विश्राम की अवस्था अधिक देर तक बनी रहती है। यह रक्तचाप एवं पेट की अम्लीयता को कम करने में सहायक होता है।

5. भस्त्रिका प्राणायाम

भस्त्रिका लोहकाराणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत् ।
तथा वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ॥76॥
एवं विंशतिवारं च श्र्वा कुर्याच्च कुम्भकम् ।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि ॥77॥
त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकाकुम्भकं सुधीः।
न च रोगो न च क्लेश आरोग्यं च दिने दिने ॥78॥

अर्थ

लोहार द्वारा धौंकनी से वायु भरने के समान नासिका द्वारा वायु से उदर को पूरित करें और उदर में ही धीरे-धीरे चलायें। इस प्रकार बीस बार करके कुम्भक द्वारा वायु धारण करें। तत्पश्चात् लोहार की धौंकनी से वायु निकलने के समान नासिका द्वारा वायु निकाल दें। विद्वानों ने इसे भस्त्रिका कुम्भक कहा है। इस प्रकार तीन बार करना चाहिए। इससे किसी प्रकार के रोग नहीं होते और दिनों-दिन आरोग्य की वृद्धि होती है ॥76-78॥

व्याख्या

विधि– इस प्राणायाम में लोहार की धौंकनी की भाँति समान अन्तर से नासिका द्वारा बार-बार पूरक एवं रेचक की क्रिया की जाती है। नासिका से लययुक्त श्वास लेने और छोड़ने की क्रिया जल्दी-जल्दी की जाती है।

यहाँ एक नासिका से अभ्यास करने का निर्देश नहीं दिया गया है, लेकिन व्यावहारिक रूप से यही सिखलाया जाता है कि एक नासिका से 20 बार जल्दी-जल्दी श्वास को लेना और छोड़ना है और इसके पश्चात् इक्कीसवीं श्वास खींचकर कुम्भक लगाना है। तत्पश्चात् जितनी देर तक कुम्भक लगा सकते हैं, लगाइये। अन्य ग्रन्थों में इसके साथ जालन्धर और मूलबन्ध का भी प्रयोग बतलाया गया है।

फिर जब श्वास को अन्दर और नहीं रोक सकते तब उसी नासिका से श्वास को धीरे-धीरे बाहर किया जाता है। इसके बाद दूसरी नासिका से जल्दी-जल्दी लययुक्त श्वास लेनी और छोड़नी है। इस नासिका से भी उक्त विधि को दुहराना है। फिर दोनों नासिकाओं से एक साथ इस अभ्यास को दुहराना है।

अवधि– ज्ञानी पुरुष भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास प्रतिदिन तीन बार करते हैं।

आवृत्तियों के मध्य विश्राम– भस्त्रिका एक गतिशील अभ्यास है, जिससे अत्यधिक शारीरिक शक्ति व्यय होती है। नये अभ्यासियों को उदर की मांसपेशियों के प्रयोग का अभ्यास न होने के कारण उन पर इसका अधिक तीव्र प्रभाव पड़ता है। अत: स्वयं को अधिक थकाना नहीं चाहिए। एक आवृत्ति के पश्चात् अल्प समय के लिए विश्राम कर सकते हैं।

क्रम और समय– भस्त्रिका प्राणायाम के लिए सर्वोत्तम समय प्रात: आसनों के पश्चात् और ध्यान के ठीक पहले है। यह जागरूकता एवं शान्त मन:स्थिति लाता है। भस्त्रिका का अभ्यास भोजन के बाद नहीं करना चाहिए।

सजगता– श्वास, पेट की गति तथा मानसिक गणना पर केन्द्रित रखें।

सावधानियाँ– यदि मूर्च्छा, चक्कर या अत्यधिक पसीना आने लगे या वमन की इच्छा होने लगे तो इसका अर्थ है कि अभ्यास सही ढंग से नहीं किया जा रहा है। बलपूर्वक श्वसन न करें, श्वास की गति नियन्त्रित होनी चाहिए। चेहरे में विकृति न आने दें और शरीर को बहुत अधिक न हिलायें। यदि इनमें से कोई लक्षण परिलक्षित हो तो योग शिक्षक से सलाह लेनी चाहिए। भस्त्रिका रक्तशुद्धि एवं स्वरूप-दोष निवारण हेतु एक आदर्श अभ्यास है, तथापि यह शुद्धि क्रमिक रूप से होनी चाहिए। भस्त्रिका के अभ्यास के लिए बहुत अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। प्रारम्भिक अभ्यासियों को प्रत्येक आवृत्ति के बाद कुछ देर विश्राम करना चाहिए।

उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, हर्निया, गेस्ट्रिक अल्सर, मिर्गी या भ्रमि से पीड़ित व्यक्तियों को भस्त्रिका का अभ्यास नहीं करना चाहिए। फेफड़ों से सम्बन्धित रोगों, जैसे, दमा, दीर्घकालिक ब्रोंकाइटिस आदि से पीड़ित व्यक्तियों तथा उन व्यक्तियों को जो यक्ष्मा से स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं, यह अभ्यास कुशल मार्गदर्शन में ही करना चाहिए। एक निर्देश यह भी दिया जाता है कि गरमी के दिनों में भस्त्रिका का अभ्यास कम करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस प्राणायाम से शरीर के तापमान में वृद्धि होती है। अत: देश और काल का ख्याल रखते हुए साधक को अभ्यास करना चाहिए।

यदि भस्त्रिका का अधिक अभ्यास करेंगे तो रक्त की गन्दगी तीव्र गति से बाहर आयेगी और शरीर में फोड़े-फुन्सी, घाव एवं चर्म रोग इत्यादि की

शिकायत होने लगेगी। अतः धैर्यपूर्वक अभ्यास में आगे बढ़ें। अशुद्धियों का निष्कासन धीरे-धीरे होने दें, जिससे किसी बीमारी से ग्रस्त होने की ज्यादा सम्भावना न रहे।

लाभ– यह अभ्यास विषाक्त तत्त्वों को दग्ध करता है तथा वात, पित्त एवं कफ दोषों का निवारण करता है। फेफड़ों के वायुकोशों को खोलता है। अधिकतर लोग उचित रूप से श्वास नहीं लेते हैं। उथली और अपूर्ण श्वसन क्रिया से फेफड़ों का व्यायाम और उपयोग पूर्ण रूप से नहीं होता और फेफड़ों के निम्न भाग के वायुकोश स्थायी रूप से विलग रहते हैं, इससे कफ बनने लगता है, जो कीटाणुओं और बीमारियों की वृद्धि में सहायक होता है। वायुकोशों के स्थायी रूप से बन्द हो जाने से रक्त को ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलती। सामान्य अवस्था में फेफड़ों के खुले भागों में ऑक्सीजन और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का आदान-प्रदान सही रूप से होता है, लेकिन बन्द या अवरुद्ध भागों में यह असम्भव हो जाता है। इससे फेफड़ों का कार्य असन्तुलित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप शरीर के ऊतकों में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है तथा कमजोरी का अनुभव होता है। भस्त्रिका बन्द वायुकोशों को खोलता है तथा कीटाणुओं, दोषयुक्त कफ और दूषित वायु को फेफड़ों से विसर्जित करता है। ऊपर से नीचे तक सभी वायुकोशों की सफाई और पुनर्संशोधन होने से वे शक्तिशाली हो जाते हैं। फेफड़ों में वायु के तीव्र विनिमय के कारण रक्त प्रवाह में मिलने वाली ऑक्सीजन तथा बाहर निकलने वाली कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के विनिमय में वृद्धि होती है। इससे चयापचय की गति बढ़ जाती है, ताप उत्पन्न होता है तथा मल एवं विषाक्त तत्त्वों का निष्कासन होता है। मध्यपट की तीव्र लयबद्ध गति आन्त्रिक अंगों की भी मालिश करती एवं उन्हें उद्दीप्त करती है, पाचन-संस्थान को स्वस्थ बनाती है। रक्त संचार सुव्यवस्थित होता है। चर्म रोग को दूर करने और शरीर के घावों, फोड़ों इत्यादि को ठीक करने हेतु उच्चकोटि का अभ्यास माना जाता है। इसका अभ्यास सम्पूर्ण शरीर में प्राण-संचार को बढ़ाता है, जिससे उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करने तथा रोगों को सूक्ष्म स्तरों से निकाल बाहर करने में मदद मिलती है। यह प्राणिक शरीर को सामर्थ्यशाली बनाता है।

अधिकतर लोग श्वास लेने में पेट का उपयोग नहीं करते अथवा उसका उपयोग करना नहीं जानते। भस्त्रिका शरीर के नाड़ी-संस्थान को पूर्ण प्रशिक्षण देने का उत्तम अभ्यास है, जिससे दिन भर चलने वाली सामान्य श्वसन क्रिया

में अभ्यासी अपने उदर की मांसपेशियों का उपयोग करता है। गहरी या दीर्घ श्वास लेने का अर्थ यह है कि आप श्वास की कम संख्या से ही अधिकतम ऑक्सीजन की प्राप्ति करते है। अर्थात् आप ऑक्सीजन के रूप में अधिक पौष्टिक तत्त्व अल्प शक्ति द्वारा ही प्राप्त कर लेते हैं। उससे उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

कुछ महीनों की तैयारी के पश्चात् यह अभ्यास महिलाओं को प्रसव-पीड़ा में उपयोगी सिद्ध होता है। भस्त्रिका फेफड़ों में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा को घटाता है। यह दमा एवं फेफड़ों से सम्बन्धित अन्य रोगों के उपचार के लिए उत्तम अभ्यास है। यह गले की सूजन तथा जमा कफ को दूर करता है। तन्त्रिका-तन्त्र को सन्तुलित एवं शक्तिशाली बनाता है, मानसिक शान्ति एवं एकाग्रता लाकर ध्यान के लिए तैयार बनाता है।

यह अभ्यास शरीर, प्राण और मन को अधिक स्फूर्ति प्रदान करता है। अभ्यासी का व्यक्तित्व अत्यधिक संवेदनशील हो जाता है और वह उच्च, दिव्य एवं सूक्ष्म तरंगों के प्रति अधिक ग्रहणशील होने लगता है। इस अभ्यास से दिन-प्रतिदिन स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त होता है और किसी प्रकार के रोग नहीं होते।

टिप्पणी–दोनों नासिकायें खुली होनी चाहिए तथा उनमें श्वास प्रवाह स्वतन्त्र रूप से होना चाहिए। नाक में जमे श्लेष्मा को नेति के अभ्यास से दूर किया जा सकता है।

6. भ्रामरी प्राणायाम

अर्द्धरात्रे गते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते ।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात्पूरककुम्भकम् ॥79॥
श्रृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम् ।
प्रथमं झिल्लिकानादं वंशीनादं ततः परम् ॥80॥
मेघझर्झरभ्रमरी घण्टा कास्यं ततः परम् ।
तुरीभेरीमृदङ्गदिनिनादानेकदुन्दुभिः ॥81॥
एवं नानाविधो नादो जायते नित्यमभ्यसात् ।
अनाहतस्य शब्दस्थ तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ॥82॥
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
एवं भ्रामरीसंसिद्धिः समाधिसिद्धिमाप्नुयात् ॥83॥
जपादष्ट गुणं ध्यानं ध्यानादष्टगुणं तपः।
तपसोऽष्टगुणं गानं गानात्परतरं नहि ॥84॥

अर्थ

अर्द्ध-रात्रि व्यतीत होने पर जब किसी जीव-जन्तु का शब्द सुनायी न दे, तब एकान्त स्थान में जाकर योगी को अपने हाथों से दोनों कानों को बन्द करके पूरक-कुम्भक करना चाहिए। इसमें साधक को दायें कान में अनेक प्रकार की ध्वनियाँ सुनायी देती हैं। प्रथम झींगुर की ध्वनि, फिर बंशी की ध्वनि, फिर मेघ गर्जन का शब्द, फिर बाजे बजने का झर्झर शब्द, फिर भौंरों का गुँजन, घण्टा, घड़ियाल, तुरही, भेरी, मृदंग, दुंदुभी आदि का निनाद सुनायी देता है। इस प्रकार नित्य अभ्यास करने से अनेक प्रकार के नादों के श्रवण का अनुभव होता है और अनाहत में शब्द की ध्वनि होती है। निमीलित नेत्रों से हृदय में बारह दल के कमल की प्रतिध्वनि के मध्य जो ज्योति दिखायी देती है, वही ब्रह्म है। इसमें मन का विलय होकर विष्णु भगवान् के परम पद की प्राप्ति होती है। इस प्रकार भ्रामरी कुम्भक सिद्ध होने पर समाधि की सिद्धि हो जाती है। जप से आठ गुना उत्तम ध्यान है, ध्यान से आठ गुना तप है तथा तप से आठ गुना संगीत है। संगीत से बढ़कर कुछ नहीं है ॥79-84॥

व्याख्या

यहाँ पर भ्रामरी प्राणायाम के अन्तर्गत नादयोग की स्थिति की चर्चा की जा रही है। भ्रामरी प्राणायाम की व्यावहारिक विधि थोड़ी भिन्न है और उसे प्रारम्भिक अवस्था मानते हैं। यह मन को सन्तुलित करने एवं सजगता को अन्तर्मुखी बनाने की विधि है।

प्रारम्भिक अवस्था–ध्यान के किसी सुविधाजनक आसन में बैठते हैं। मेरुदण्ड एवं सिर को सीधा रखते हैं। दोनों हाथ चिन् या ज्ञानमुद्रा में घुटनों के ऊपर रखते हैं। इस अभ्यास के लिए आदर्श आसन पद्मासन या सिद्धासन/सिद्धयोनि आसन है। नाद योग में प्रयुक्त होने वाले नादानुसन्धान आसन में भी बैठ सकते हैं, जिसकी विधि इस प्रकार है कम्बल को बेलनाकार मोड़कर उसके ऊपर इस प्रकार बैठते हैं कि एड़ियाँ नितम्बों के पास रहें, तलवे जमीन पर, घुटने ऊपर उठे रहते हैं और केहुनियों को घुटनों के ऊपर रखते हैं। आँखों को बन्द कर पूरे शरीर को शिथिल बनाते हैं। पूरे अभ्यास के समय दाँतों को परस्पर अलग रखते तथा मुँह को बन्द रखते हैं, इससे कम्पन को स्पष्ट सुना जा सकेगा तथा उसको मस्तिष्क में अनुभव भी किया जा सकेगा। जबड़ों को ढीला रखें।

हाथों को बगल में कन्धों के समानान्तर फैलाते हैं। फिर केहुनियों से मोड़कर हाथों को कानों के पास लाते हुए तर्जनी या मध्यमा अंगुलियों से कानों को बन्द करते हैं। यदि नादानुसन्धान के आसन में बैठते हैं तो कानों को अँगूठों से बन्द कर शेष चार अंगुलियों को सिर के ऊपर रखें, ताकि बाहर की आवाजें प्रवेश न करें। इसके बाद अपनी सजगता को मस्तिष्क के केन्द्र पर एकाग्र करें, जहाँ आज्ञा चक्र स्थित है। सम्पूर्ण शरीर को पूर्णतया स्थिर रखें। नासिका से पूरक कर, रेचक के समय भ्रमर के गुँजन के समान आवाज करें। गुँजन की ध्वनि पूरे रेचक में स्थिर, गहरी, सम और अखण्ड होनी चाहिए। रेचक पूर्ण रूप से नियन्त्रित हो तथा उसकी गति मन्द हो। यह एक आवृत्ति हुई। रेचक पूर्ण होने पर गहरी श्वास लें और अभ्यास की पुनरावृत्ति करें।

आवाज कोमल एवं मृदु होनी चाहिए, जिससे खोपड़ी गुंजायमान हो जाए। ध्वनि का स्वर उच्च होना आवश्यक नहीं है, परन्तु महत्त्वपूर्ण यह है कि मस्तिष्क में ध्वनि तरंगों की अनुभूति होनी चाहिए। यह अभ्यास चेतना को अन्तर्मुखी बनाने के लिए सर्वोत्तम माना गया है।



दूसरी अवस्था– इस अभ्यास की अगली अवस्था में कानों को बन्द रखते हुए चुपचाप सामान्य श्वास लेते बैठे रहते हैं और धीरे-धीरे अपनी सजगता को अन्तर्मुखी एवं सूक्ष्म बनाते हुए भीतर में उत्पन्न ध्वनियों को सुनने का प्रयास करते हैं। आरम्भ में श्वास की आवाज सुनायी पड़ती है। जैसे ही एक ध्वनि के प्रति सजग होते हैं, वैसे ही अन्य ध्वनियों को छोड़कर केवल उस ध्वनि के प्रति सतत् सजग रहने का प्रयत्न करते हैं। कुछ दिनों या सप्ताहों के नियमित अभ्यास से आपको ऐसा प्रतीत होगा कि वह ध्वनि अधिक स्पष्ट और तीव्र होती जा रही है। पूर्ण सजगता से उस ध्वनि को सुनते जायें। केवल उस ध्वनि की ओर अपनी सजगता को प्रवाहित होने दें तथा अन्य सभी ध्वनियों एवं विचारों को भूल जायें। इसके लगातार अभ्यास द्वारा आपकी संवेदनशीलता में वृद्धि होगी।

और गहरे जाने पर दिल की धड़कन सुनायी देगी, और गहरे जायें तो नसों में जो रक्त संचार हो रहा है, उसकी आवाज सुनाई देगी, और भी गहरे जाएँ तो कोई बोली सुनायी देगी, जैसे भीतर कोई बोल रहा हो, दूर, बहुत दूर, झींगुर, चिड़ियों की ध्वनि और संगीत की आवाज सुनायी देगी। इस तरह धीरे-धीरे आपकी बोध क्षमता अधिक तीक्ष्ण और संवेदनशील होती जायेगी।

ये सभी आवाजें इस अवस्था में कानों को बन्द करने से सुनायी पड़ती हैं। यह सत्य है कि ये ध्वनियाँ भीतर में सहज रूप से उत्पन्न होती हैं। कुछ ध्वनियों की उत्पत्ति स्मृति से होती है और जब हम स्मृति के क्षेत्र को, चित्त के क्षेत्र को पार कर जाते हैं तब स्थूल नहीं, सूक्ष्म आवाज सुनायी देती है और जब सूक्ष्म

आवाज को भी हम पार कर जाते हैं, तभी हमें नाद सुनायी पड़ता है, जिसे अनहद् नाद कहते हैं।

नाद या ध्वनि तरंग का सम्बन्ध ज्योति से है, प्रकाश से है। प्रकाश मन से सम्बन्धित है। जब मन या नाद से पूर्ण योग हो जाता है, तब ईश्वर की अनुभूति होती है। अत: भ्रामरी से समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है। महर्षि यह भी स्पष्ट कहते हैं कि संगीत का महत्त्व ध्यान एवं तप से भी अधिक है। ध्यान में मन को जप से आठ गुना अधिक आनन्द मिलता है, परन्तु संगीत या नाद में तप की अपेक्षा भी आठ गुना अधिक आनन्द प्राप्त होता है। नाद से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है।

यहाँ पर उन्होंने एक बहुत सुन्दर बात कही है कि ध्वनि का सम्बन्ध ज्योति या प्रकाश के साथ है, प्रकाश का सम्बन्ध मन के साथ है और मन का सम्बन्ध नाद या ध्वनि के साथ है। अर्थात् यहाँ पर एक चक्र बनाया गया है नाद, प्रकाश, मन और नाद। यहाँ पर जिस नाद की चर्चा की जा रही है। वह 'परानाद' है। धीरे-धीरे हम विभिन्न अवस्थाओं को पार करके, स्थूल ध्वनियों को सुनकर, नाद को सुनकर, सूक्ष्म में प्रवेश करते हैं। सूक्ष्म नाद को सुनते हैं, अनुभव करते हैं, उसके बाद 'परानाद' में प्रविष्ट होते हैं।

'परा' की स्थिति ही प्रकाश या बोध की स्थिति है। यह ज्ञान या बोध की जो स्थिति है, वह हमारे मन को प्रभावित करती है और जब इस अनुभव से मन ओत-प्रोत या परिपूर्ण हो जाता है, तब नाद ही सुनायी देता है। ऊपर-नीचे, दायें-बायें, सामने-पीछे, चारों तरफ नाद-ही-नाद सुनायी देता है। इसी 'परानाद' में फिर ईश्वर की अनुभूति होती है। यह भ्रामरी की अन्तिम स्थिति है। इसके लिए धैर्य और प्रयास अत्यावश्यक है। यदि आप अभ्यास हेतु दृढ़ प्रतिज्ञ हों तो आश्यर्चजनक परिणामों की प्राप्ति होगी।

अवधि–प्रारम्भ में 5 से 10 आवृत्तियाँ पर्याप्त हैं। फिर धीरे-धीरे अभ्यास की अवधि को 10-15 मिनट तक बढ़ायें। अत्यधिक मानसिक तनाव या चिन्ता हो, या उपचार प्रक्रिया के रूप में इसे प्रयुक्त कर रहे हों तो 30 मिनट तक अभ्यास करें।

समय–अभ्यास का सर्वोत्तम समय प्रात:काल या मध्य रात्रि है, क्योंकि उस समय आन्तरिक अनुभूति में बाधा डालने वाली बाह्य ध्वनियाँ बहुत कम होती हैं। इस समय अभ्यास करने पर आत्मिक संवेदनशीलता जाग्रत होती है। किन्तु मानसिक तनाव को दूर करने के लिए भ्रामरी का अभ्यास किसी भी समय किया जा सकता है। आस-पास का वातावरण शान्त होना चाहिए।

सावधानियाँ–भ्रामरी का अभ्यास लेटकर नहीं करना चाहिए। कानों में संक्रमण होने पर इसका अभ्यास न करें जब तक संक्रमण दूर न हो जाए। हृदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों को बिना कुम्भक के यह अभ्यास करना चाहिए।

लाभ–भ्रामरी क्रोध, चिन्ता एवं अनिद्रा का निवारण कर तथा रक्तचाप को घटाकर प्रमस्तिष्कीय तनाव एवं परेशानी को दूर करता है। यह शरीर के ऊतकों के स्वस्थ होने की गति को बढ़ाता है तथा शल्य-क्रिया के पश्चात् इसका अभ्यास किया जा सकता है। यह आवाज को सुधारता एवं मजबूत बनाता है तथा गले के रोगों का निवारण करता है।

7. मूर्च्छा प्राणायाम

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम् ।
सन्त्यज्य विषयान्सर्वान्मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम् ॥85॥

अर्थ

प्रथम सुखपूर्वक पूर्वोक्त कुम्भक को करके, मन को विषयों से हटाकर भौंहों के मध्य में स्थित

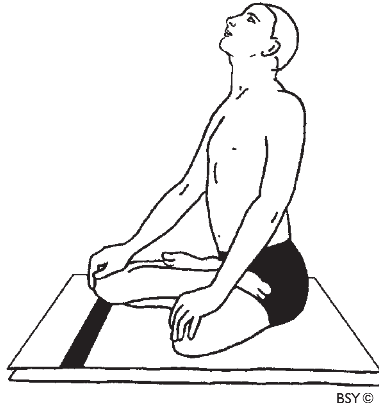
आज्ञा चक्र में लगायें और इस पद्म में विद्यमान परमात्मा में लीन कर दें। यह मूर्च्छा कुम्भक कहलाता है। इस कुम्भक की सिद्धि से आनन्द की प्राप्ति होती है। यह सत्य है ॥85॥

व्याख्या

मूर्च्छा का अर्थ होता है बेहोश हो जाना। इस प्राणायाम के द्वारा साधक विषय-जगत् की चेतना से मूर्च्छित हो जाता है। इसके अभ्यास से चेतना की एक दूसरी अवस्था की प्राप्ति होती है। साधक की दृश्य जगत् के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है, उसका देहाभास मिटने लगता है और मन में शान्ति आती है।

विधि– मूर्च्छा प्राणायाम का अभ्यास किसी भी आरामदायक आसन में कर सकते हैं। इसके लिए सबसे अत्तम आसन है पद्मासन, सिद्धासन, सिद्धयोनि आसन, स्वस्तिकासन और अर्द्ध पद्मासन। वज्रासन और सुखासन में भी बैठ सकते हैं। सिर एवं मेरुदण्ड को एकदम सीधा रखते हैं। सम्पूर्ण शरीर को शिथिल बनाते हैं। आँखें बन्द कर, श्वास अन्दर खींचते हैं। फिर धीरे-धीरे सिर को ऊपर उठाया जाता है। एकदम छत की तरफ नहीं, वरन् पैंतालीस अंश का कोण बनाते हुए। सिर को उठाते हुए आँखों को धीरे-धीरे खोलते हैं। पैतालीस अंश के कोण तक सिर के पहुँचते-पहुँचते आँखें पूरी खुल जाती हैं और शाम्भवी दृष्टि का अभ्यास होता है। शाम्भवी दृष्टि में कुम्भक लगाया जाता है।

हाथों से घुटनों पर दबाव डालते हुए केहुनियों को सीधा रखते हैं। जब तक कुम्भक लगा सकते हैं, तब तक शाम्भवी दृष्टि का अभ्यास भी करते जाइये। जब और देर तक कुम्भक न लगा सकते हों, तब धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए



सिर को नीचे लाइये और आँखों को सामने लाकर उन्हें बन्द कर लीजिये। भुजाओं को शिथिल कीजिए। सामान्य श्वास लेते हुए, सम्पूर्ण मन में प्रकाश और शान्ति फैलने का अनुभव करें, खोपड़ी में जो हलकेपन का अनुभव हो रहा है, उसे देखते रहिए। यह मूर्च्छा प्राणायाम है।

कुम्भक के अभ्यास से मस्तिष्क में ऑक्सीजन की आपूर्ति कम हो जाती है। इसकी अनुभूति विशेष रूप से दीर्घ कुम्भक करने पर होती है। मस्तिष्क अल्पसंवादित हो जाता है और मूर्च्छा की स्थिति आने लगती है।

अवधि– मूर्च्छा प्राणायाम से अधिकाधिक लाभ पाने हेतु इसका अभ्यास दीर्घ काल तक किया जाना चाहिए, जैसे दिन में एक घण्टा या उससे भी अधिक। तथापि कुछ ही मिनटों के अभ्यास से जो लाभ होगा, वह आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं। प्रारम्भ में लगभग 10 मिनट का अभ्यास पर्याप्त है। अपने दैनिक अभ्यास के साथ-साथ इसकी अवधि भी धीरे-धीरे बढ़ायें। प्रत्येक आवृत्ति अधिक से अधिक समय तक करें, लेकिन तनाव और दबाव उत्पन्न न होने दें। जब मूर्च्छा या बेहोशी का अनुभव होने लगे तो अभ्यास बन्द कर दें।

इस क्रिया के अभ्यास में जितना दीर्घ कुम्भक रहेगा, उतना ही अधिक लाभ होगा। श्वास रोकने का प्रत्यक्ष प्रभाव प्राणमय शरीर द्वारा मन पर पड़ता है, जिससे विचार अपने आप रुक जाते हैं। मूर्च्छा प्राणायाम में कुम्भक ही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

शुद्ध एवं अनुकूल वातावरण में पूर्णरूपेण आत्मशुद्धिकरण और उपयुक्त आहार इत्यादि से लम्बे समय तक कुम्भक करना कठिन नहीं है। किन्तु बिना आवश्यक तैयारी के दीर्घ कुम्भक का अभ्यास न करें, अन्यथा इससे हानि हो सकती है।

सावधानियाँ– मूर्च्छा प्राणायाम का अभ्यास उच्च रक्तचाप, सिर में चक्कर आना या मस्तिष्क में चोट लगना और हृदय या फेफड़े के रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को नहीं करना चाहिए।

अभ्यासी को चेतावनी दी जाती है कि मूर्च्छा प्राणायाम का अभ्यास इतना अधिक न करें कि बेहोश हो जायें। इसके अभ्यास का उद्देश्य इतना ही है कि अभ्यासी भौतिक जगत् एवं मन के विक्षेपों से अपनी चेतना का सम्बन्ध विच्छेद कर दें, देहाभास से ऊपर उठ जायें। ऐसी स्थिति अर्द्ध बेहोशी की होती है, पूर्ण बेहोशी की नहीं। अत: आपको जैसे ही कुछ मूर्च्छा का अनुभव होने लगे तो तुरंत अभ्यास बन्द कर दें।

क्रम– मूर्च्छा प्राणायाम का उत्तम समय आसनों के पश्चात् और ध्यानाभ्यास के पहले है।

लाभ– मूर्च्छा प्राणायाम एक शक्तिशाली अभ्यास है। महर्षि कहते हैं कि जो व्यक्ति इस अभ्यास को सिद्ध कर लेता है, वह आत्मानन्द की अनुभूति करता है। इसमें जैसे-जैसे कुम्भक की अवधि बढ़ती है, वैसे-वैसे आनन्द में वृद्धि होती है। इसके अभ्यास से सम्पूर्ण शरीर और मस्तिष्क को विश्राम मिलता है। व्यक्ति का बहिर्मुखी मन स्वत: अन्तर्मुखी होने लगता है। इस अभ्यास में हलकेपन का जो अनुभव होता है, उस अनुभव में यदि सब प्रकार की चिन्ताओं को भुला दिया जाये, विषय आसक्ति का त्याग कर दिया जाये, अर्थात् बाह्य अगत् के अनुभवों, जैसे गन्ध, स्पर्श, शब्द इत्यादि की संवेदनाओं से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाए, तो तुरन्त मनोनिग्रह होकर शून्य अवस्था की प्राप्ति होती है। इसलिए ध्यान के पूर्व मूर्च्छा प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है।

8. केवली प्राणायाम

हङ्कारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत्पुनः।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्रण्येकविंशतिः।
अजपां नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा ॥86॥
मूलाधारे यथा हंसस्तथा हि हृदि पङ्कजे ।
तथा नासापुटद्वन्द्वे त्रिभिर्हंससमागमः॥87॥
षण्णवत्यङ्गुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम् ।
देहाद्बहिर्गतो वायुः स्वभावात् द्वादशाङ्गुलिः॥88॥
गायने षोडशाङ्गुल्यो भोजने विंशतिस्तथा ।
चतुर्विंशाङ्गुलि पन्थे निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तंव्यायामे च ततोऽधिकम् ॥89॥
स्वभावेऽस्य गतेर्न्यूने परमायुः प्रवर्द्धते ।
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुतेचान्तराद्गते ॥90॥
तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते ।
वायुना घटसम्बन्धे भवेत्केवलकुम्भकः॥91॥
यावज्जीवं जपेन्मन्त्रमजपासंख्यकेवलम् ।
अद्यावधि धृतं संख्याविभ्रमं केवली कृते ॥92॥
अत एव हि कर्त्तव्यः केवलीकुम्भको नरैः।
केवली चाजपासंख्या द्विगुणा च मनोन्मनी ॥93॥
नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत् ।
एकादिकचतुःषष्टिं धारयेत्प्रथमे दिने ॥94॥
केवलीमष्टधा कुर्याद्यामे यामे दिने दिने ।
अथ वा पञ्चधा कुर्याद्यथा तत्कथयामि ते ॥95॥
प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्यरात्रे चतुर्थके ।
त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात्सममाने दिने दिने ॥96॥
पञ्चवारं दिने वृद्धिर्वारैकं च दिने तथा ।
अजपापरिणामं च यावत्सिद्धिः प्रजायते ॥97॥
प्राणायामं केवलीं च तदा वदति योगवित् ।
केवलीकुम्भके सिद्धे किं न सिध्यति भूतले ॥98॥

अर्थ

प्रत्येक पूरक क्रिया के साथ हर जीव की आत्मा 'सो' एवं रेचक के साथ 'हं' मन्त्र का जप करती है। प्रत्येक जीव 24 घण्टे में इक्कीस हजार छः सौ श्वास लेता है। यह दिन-रात में श्वासों की संख्या है। इसे 'हं सो' अथवा विलोम से 'सोऽहं' अजपा गायत्री कहते हैं। प्राणी इसे सदा जपता रहता है। मूलाधार, हृदय कमल और नासापुट, इन तीनों स्थानों में वायु का आवागमन होता है। स्थूल शरीर छियानवे अंगुल परिणाम का है और स्वाभाविक बहिर्गत वायु की गति द्वादश अंगुल होती है। यह गति गायन में सोलह अंगुल, भोजन में बीस अंगुल, मार्ग चलने में चौबीस अंगुल, निद्रा में तीस अंगुल, मैथुन में छत्तीस अंगुल और व्यायाम में और भी अधिक होती है ॥86-89॥

स्वाभाविक प्राण की गति बारह अंगुल है। यदि इससे न्यून गति हो जाये तो आयु वृद्धि होती है। बारह अंगुल से अधिक होने पर आयु का क्षय होता है। शरीर में जब तक प्राणवायु की स्थिति रहती है, तब तक मृत्यु नहीं होती। कुम्भक के अभ्यास से प्राणवायु को मुख्य समझें। जब तक शरीर स्थित रहे, तब तक केवली कुम्भक करता हुआ अजपा मन्त्र को जपता रहे। केवली करने, अर्थात् इक्कीस हजार छः सौ बार जप पूर्ण होने पर गति घट जाती है और आयु में वृद्धि होती है। इसलिए योगियों को इसे अवश्य करना चाहिए। अजपा की संख्या से दुगना जप करें तो मन में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हो जाता है ॥90-93॥

नासापुटों से वायु को खींचकर केवली संज्ञक इस कुम्भक को करें। प्रथम दिन साधना करने पर चौंसठ बार तक श्वास-प्रश्वास को धारण करें, केवली कुम्भक का नित्यप्रति आठ प्रहर में आठ बार अभ्यास करना चाहिए। प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल, तीनों समय समान संख्या में साधन करें। जब तक इस कुम्भक की सिद्धि न हो जाये तब तक अजपा गायत्री के साथ प्रमाण से पाँच-पाँच बार वृद्धि करते जायें ॥94-98॥

व्याख्या

विधि– केवली प्राणायाम वास्तव में अजपाजप है। अजपाजप में शरीर के तीन मुख्य केन्द्रों में श्वास की कल्पना की जाती है। जब श्वास लेते हैं, तब अनुभव करना है कि श्वास मूलाधार से ऊपर चढ़ रही है और अनाहत चक्र को पार करके नासिकाग्र तक पहुँच रही है। जब श्वास छोड़ते हैं, तब अनुभव करना है कि श्वास की चेतना नासिका के अग्रभाग से नीचे मूलाधार की ओर जा रही

है और क्रमश: जैसे-जैसे श्वास इन केन्द्रों से गुजरती है, इन पर ध्यान को केन्द्रित करना है।

इसी के साथ-साथ महर्षि इन मन्त्रों में स्वर योग का ज्ञान भी दे रहे हैं। कहते हैं, मनुष्य का दीर्घजीवी होना श्वास की संख्या और लम्बाई पर निर्भर है। अच्छे स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के लिए प्रति मिनट श्वास की संख्या तथा छोड़ी गयी श्वास की लम्बाई कम-से-कम होनी चाहिए। योग सिद्धान्त के अनुसार श्वास जितनी लम्बी और गहरी होगी, स्वास्थ्य उतना उत्तम होगा।

हाथी, कछुआ और सर्प धीरे-धीरे श्वास लेते हैं। इनकी प्रति मिनट श्वास संख्या सामान्य मनुष्य की अपेक्षा बहुत कम होती है। इनकी आयु अधिक पायी गयी है। जो जानवर जल्दी-जल्दी श्वास लेते हैं, जैसे कुत्ता, भेड़िया, शेर, चीता इत्यादि, उनकी आयु मनुष्य की आयु से कम होती है। इन जानवरों को देखकर तथा स्वयं पर शोध करके मनुष्य ने स्वर विज्ञान की खोज की। इस विज्ञान के अनुसार श्वास की गति शारीरिक क्रियाओं पर निर्भर है। अगर हम गत्यात्मक कार्य करते हैं तो श्वास की गति बढ़ जाती है। इसीलिये योगाभ्यासों में श्वास पर अधिक बल दिया गया है। निर्देश दिया जाता है कि अगर हँफनी होने लगे, तो अभ्यास बन्द कर दीजिये, अर्थात् किसी समय अपनी श्वास को अनियन्त्रित नहीं होने देना है।

इसी तथ्य के प्रकाश में महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि सामान्य श्वास की लम्बाई छ: अंगुल होती है। भावुकतापूर्ण कार्य करने में बारह अंगुल होती है। भावुकतापूर्ण कार्य का अर्थ है, किसी भावना का उमड़ना। जैसे, मान लीजिए हम जप-ध्यान कर रहे हैं और करते-करते भावावेश में आ गये, या कुछ ऐसा हुआ जिससे हमारे भीतर एक भावनात्मक परिवर्तन आया, तो उस समय श्वास की लम्बाई बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, जब किसी के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होता है, चाहे पत्नी के प्रति हो, चाहे गुरु के प्रति हो, तब श्वास की लम्बाई बढ़ जाती है। भोजन के समय बीस अंगुल, चलते समय तीस अंगुल और व्यायाम करते समय तीस अंगुल से भी ज्यादा होती है। वे कहते हैं कि जब तक शरीर में प्राण वायु है, मृत्यु पास नहीं आ सकती। जीवन का दीर्घ होना कुम्भक पर ही निर्भर है।

इसके बाद वे केवली प्राणायाम के बारे में साधनात्मक निर्देश देते हैं कि जब तक मनुष्य जीवित है, तब तक उसे प्रत्येक श्वास के साथ अजपा मन्त्र की पुनरावृत्ति करते रहना चाहिए। बहुत बार ध्यान हट जाता है, अर्थात् मन्त्र की

चेतना नहीं रहती और यह क्रिया स्वत: चलती रहती है। इस अवस्था को केवली नाम दिया गया है। जब मन्त्र की सजगता भी साथ में जुड़ जाती है तब इसका नाम हो जाता है अजपाजप। यह भेद महर्षि घेरण्ड ने यहाँ पर कर दिया है।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का एक मात्र कर्त्तव्य केवली का अभ्यास है। अन्त में वे कहते हैं कि इसका अभ्यास प्रात:काल, दोपहर, संध्या और मध्य रात्रि को करना प्रारम्भ में उचित है। इसका अभ्यास करने से मन्त्र के प्रति और अपनी आन्तरिक स्थिति के प्रति सजगता बनी रहती है। जो व्यक्ति के आत्म-निरीक्षण या आत्म-निरोध में सहायक सिद्ध हो सकती है, क्योंकि दिन के समय जब हम कार्य में भिड़ जाते हैं तब अपने आन्तरिक व्यक्तित्व से सम्पर्क टूट जाता है और हम मन के चक्रव्यूह में फँसकर अनेक आवेगों का सामना करते हैं। अनेक भावनाओं, इच्छाओं और कामनाओं को स्वार्थवश पूरा करना चाहते हैं। अत: अपनी मन:स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए और सजगता को बनाये रखने के लिये महर्षि घेरण्ड के मतानुसार कम-से-कम तीन बार इसका अभ्यास अवश्य होना चाहिए।

केवली प्राणायाम में पूर्णता प्राप्त व्यक्ति आत्म-विद्या का, योग विज्ञान का अधिकारी होता है और उसके लिए दुनिया में कुछ भी असम्भव नहीं रहता।

अध्याय 6

ध्यान प्रकरण

ध्यान

किसी विषय या वस्तु पर एकाग्रता या चिन्तन की क्रिया 'ध्यान' कहलाती है। पूर्व के मन्त्रों में ध्यान की परिभाषा देते हुए महर्षि घेरण्ड ने कहा था कि जब ध्यान में प्रत्यक्ष अनुभूति होने लग जाय तब उस अवस्था को वास्तविक ध्यान कहा जा सकता है। सप्त-साधन की चर्चा करते हुए उन्होंने प्रत्यक्ष की यह कह कर व्याख्या की थी कि जिस प्रकार हम अपनी आँखों के सामने एक पदार्थ को स्पष्ट देख सकते हैं, उसी प्रकार अगर हम अपने मन के सूक्ष्म अनुभवों को अन्तश्चक्षु के सामने, मनःदृष्टि के सामने स्पष्ट कर सकें, तो उसे ध्यान की स्थिति मान लेना चाहिए।

यहाँ पर एक बिन्दु पर अधिक बल दिया गया है, वह है सूक्ष्म अनुभव को मनःदृष्टि में स्पष्ट करना। यदि इस बात को समझ जाते हैं, तो ध्यान समझ में आ जायेगा। उदाहरण के लिए, जिस प्रकार योगनिद्रा के अभ्यास में पेड़, पौधों, वृक्षों, फलों, फूलों पदार्थों एवं वस्तुओं का नाम लिया जाता है और कल्पना के द्वारा प्रत्येक चीज को स्पष्ट करने के लिए कहा जाता है, तो प्रारम्भ में हमें कुछ दिखायी नहीं देता। प्रारम्भिक अवस्था मात्र काल्पनिक अवस्था होती है, हमें कुछ दिखायी नहीं दे रहा होता, लेकिन हम अपने मन में उस आकृति को बनाते रहते हैं। यदि खून कहा जाय तो वह तो दिखता नहीं, लेकिन मन में उसका एक प्रतिचित्र आ जाता है। इसको कहते हैं कल्पना या किसी कल्पित वस्तु को देखना।

जब कल्पना की स्थिति गहरी होती है और वह चीज एक प्रतिचित्र के रूप में स्पष्ट रूप से अन्दर दिखायी देने लगती है, तब वह ध्यान की स्थिति कहलाती है। इसे एक दृष्टान्त से समझने का प्रयास कीजिये।

एक बार मैंने कक्षा में विद्यार्थियों को बाहर के कमरों को बन्द आँखों से देखने के लिए कहा और अपनी घड़ी हाथ से उतार कर अलग रख दी। कमरे में घोर अन्धकार था और सबकी आँखें बन्द थीं। एक आदमी पीछे बैठा हुआ था, लेकिन उसने अपनी मन:दृष्टि से देखा कि मैंने अपनी घड़ी उतार कर सामने रखी है और एक-एक चीज का वर्णन उसने किया, जिन्हें बन्द आँखों से देखना सम्भव नहीं था। यह भी नहीं कह सकते कि उसने बेईमानी की, क्योंकि कमरे में प्रकाश ही नहीं था। मुझे अपना हाथ तक दिखायी नहीं दे रहा था, तो पीछे बैठा आदमी कैसे देखता? इस प्रकार की जो स्थिति आती है, इसको हम ध्यान की अनुभूति मानते हैं।

एक बार शुकदेव राजा जनक के दरबार में जाते हैं और कहते हैं कि लोग तुम्हें देहमुक्त कहते हैं, लेकिन तुम राजा हो। राजा होने के कारण तुम्हें सभी प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं दण्ड देना पड़ता है; न्याय करना पड़ता है; सम्पत्ति जुटानी पड़ती है; दान करना पड़ता है; प्रजा की रक्षा करनी पड़ती है। इन सब कर्त्तव्यों के बावजूद तुम जीवनमुक्त कैसे हो सकते हो? यह सम्भव नहीं है। इस पर राजा जनक ने कहा ठीक है, हम तुम्हें व्यावहारिक रूप से इसका उत्तर देंगे। उस समय नगर में एक बड़ा पर्व मनाया जा रहा था। उन्होंने शुकदेव जी के हाथ में तेल से लबालब भरा हुआ एक पात्र रख दिया और कहा कि तुम इसे हाथ में रखकर पूरा नगर घूमो। शुकदेव कहते हैं इतनी सी बात! मैं एक तो क्या, तीन चक्कर लगा लूँगा। राजा ने कहा मेरे अंगरक्षक तुम्हारे साथ जायेंगे। अगर एक बूँद भी तेल छलका तो ये तुम्हारी गरदन उड़ा देंगे।

बहुत सावधानी से, सजगता के साथ, सन्तुलन का ख्याल रखते हुए एक-एक कदम चलते हैं कि ठोकर न लगे, चोट न लगे और तेल छलके नहीं। पूर्ण एकाग्रता के साथ पूरे नगर का चक्कर लगाते और वापस आते हैं। राजा पूछते हैं नगर की सजावट कैसी है? शुकदेव जी कहते हैं महाराज! कौन-सी सजावट? राजा कहते हैं अरे! तुम इतना घूमे और नगर की सजावट नहीं देखी। वे कहते हैं मैं देखता कैसे, मेरे हाथ में तेल का पात्र जो था? राजा कहते हैं ठीक ऐसे ही मैं रहता हूँ।

राजा उन्हें पास बुलाते हैं और कहते हैं ऊपर देखो। शुकदेव जी ऊपर देखते हैं कि एक भारी भरकम बर्छा घोड़े के बाल द्वारा टंगा है। राजा कहते हैं कि इसी के नीचे बैठकर मैं राज-काज करता हूँ। पता नहीं कब ये मेरे ऊपर गिर जाये और मेरी मृत्यु हो जाये। जब मैं सिंहासन में बैठता हूँ, यही सोचता

हूँ कि यह अन्तिम बार है, यह मेरा अन्तिम क्षण है। हर क्षण मेरे लिए अन्तिम है, इसलिये मेरा ध्यान हमेशा वहाँ रहता है, यहाँ नहीं।

यह जो स्थिति शुकदेव ने अनुभव की, यह भी ध्यान की स्थिति थी। अन्तर केवल इतना है कि शुकदेव के मन में भय था कि अगर एक बूँद तेल छलका तो मेरी गरदन धड़ से अलग हो जायेगी। उनके मन में जो भय था, उसने उनकी एकाग्रता को बनाये रखा। जब यही एकाग्रता सहज रूप से व्यक्ति धारण करता है, तब यह ध्यान की स्थिति में परिणत हो जाती है और ध्यान की इस अवस्था में मनुष्य जो कुछ सोचे या कल्पना करे, वह स्पष्ट दिखायी देने लगता है। कुछ भी सोचे या कल्पना करे, वह फलीभूत होती है, प्रत्यक्ष हो जाती है। इसी को योग की भाषा में कहते हैं, 'कल्पवृक्ष'।

ध्यानाभ्यास में एकाग्रता के कारण मन इतना शक्तिशाली हो जाता है कि इस अवस्था में वह कल्पवृक्ष का रूप धारण कर लेता है। जो इच्छा रखोगे, सो पूरी होगी। ध्यान में चेतना का प्रवाह तैल-धारावत् होता है, उसमें कहीं रुकावट नहीं आती। प्रत्याहार में आन्तरिक चेतना होती है। अभी हम कुछ कर रहे हैं, मन भटक गया, पुनः उसको खींच कर लाये, फिर लगा दिया। जब तक, दो-तीन मिनट तक ख्याल रहेगा, मन वहीं लगा रहेगा। जैसे ही ख्याल हटेगा, वैसे ही मन चक्कर लगाने लगेगा। इस प्रकार प्रत्याहार में सजगता और चेतना का आना-जाना लगा रहता है। धारणा में इस क्रिया की गति कम हो जाती है और स्वेच्छानुसार व्यक्ति अपने आपको एकाग्र या बहिर्मुखी बना सकता है। लेकिन ध्यान में स्वयं का प्रयास कार्य नहीं करता।

ध्यान अभ्यास नहीं है। ध्यान एक स्थिति है, बिना किसी अवरोध के अनवरत गतिमान चेतना की स्थिति। इसीलिये कहा जाता है कि ध्यान का अभ्यास नहीं होता, बल्कि ध्यान की स्थिति को प्राप्त किया जाता है, ध्यान की स्थिति का अनुभव होता है। जिस प्रकार तेल को एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डालने पर बिना रुकावट के मोटी धारा निकलती है और जब वह दूसरे बर्तन में गिरती है तब पानी की तरह छलकती नहीं, एक समान स्तर से भरनी शुरू होती है। जहाँ पर धार गिर रही होती है, केवल वहीं पर आपको हलचल मालूम पड़ती है। ठीक उसी प्रकार ध्यान की स्थिति भी है। जहाँ पर छलके, वहाँ प्रत्याहार और धारणा की स्थिति है, लेकिन जब मन छलके नहीं, बहिर्मुखी अवस्था से अन्तर्मुखी अवस्था में प्रवेश करते समय विक्षेप न हो, तब वह अन्तिम स्थिति है ध्यान की।

मनुष्य संरचना के तीन मुख्य तत्त्व होते हैं शरीर, मन और आत्मा। इन तीनों में अलग-अलग ध्यान की स्थिति का अनुभव होता है और उस अनुभव को तीव्र एवं गहरा बनाने के लिए अलग-अलग प्रक्रियाओं को अपनाना पड़ता है। ध्यान की स्थिति में अनुभव को आगे बढ़ाने के लिये जब हम शारीरिक प्रक्रिया को अपनाते हैं, तब यह प्रक्रिया कहलाती है 'स्थूल ध्यान' और जब हम आत्मा के अनुभव को प्राप्त करना चाहते हैं, तब वह प्रक्रिया कहलाती है 'सूक्ष्म ध्यान'। महर्षि घेरण्ड इन्हीं तीन अवस्थाओं की चर्चा करते हुए कहते हैं

स्थूलं ज्योतिस्थासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा ।
सूक्ष्मं, विन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता ॥1॥

अर्थ

स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान के भेद से ध्यान तीन प्रकार का होता है। स्थूल ध्यान वह कहलाता है, जिसमें मूर्तिमय इष्टदेव का ध्यान हो, ज्योतिर्मय ध्यान वह है, जिसमें तेजोमय ज्योतिरूप ब्रह्म का चिन्तन हो तथा सूक्ष्म ध्यान उसे कहते हैं, जिसमें बिन्दुमय ब्रह्म कुण्डलिनी शक्ति का चिन्तन किया जाय ॥1॥

1. स्थूल ध्यान

स्थूल ध्यान की दो विधियों का वर्णन महर्षि घेरण्ड ने किया है। पहली विधि है हृदय स्थान या अनाहत चक्र पर ध्यान। दूसरी विधि है ब्रह्मरन्ध्र या सहस्रार चक्र पर ध्यान।

(अ) हृदय में 'गुरु' के स्थूल रूप पर ध्यान

स्वकीयहृदये ध्यायेत्सुधासागरमुत्तमम् ।
तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुररत्नवालुकामयम् ॥2॥
चतुर्दिक्षु नीपतरुं बहुपुष्पसमन्वितम् ।
निपोपवनसंकुलैर्वेष्टितं परिखा इव ॥3॥
मालतीमल्लिकाजातीकैसरैश्चम्पकैस्तथा ।
पारिजातैः स्थलपद्मैर्गन्धामोदितदिङ्मुखैः ॥4॥
तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम् ।
चतुःशाखाचतुर्वेदं नित्यपुष्पफलान्वितम् ॥5॥
भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुञ्जन्ति निगदन्ति च ।
ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामाणिक्यमण्डपम् ॥6॥
तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरम् ।
तत्रेष्टदेवतां ध्यायेद्यद्ध्यानं गुरुभाषितम् ॥7॥
यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः ॥8॥

अर्थ

अपने हृदय पर ध्यान कीजिये। कल्पना कीजिये कि वहाँ एक बड़ा सागर अमृत से भरा हुआ है। उसके बीच में एक द्वीप है, जो रत्नों से भरा हुआ है और वहाँ की बालू भी रत्न चूर्णों की है। इस द्वीप में फलों से लदे अनेक वृक्ष हैं, जो द्वीप की शोभा बढ़ा रहे हैं। ये पुष्प द्वीप की खाइयों की भाँति प्रतीत होते हैं। अनेकानेक सुगन्धित पुष्प, मालती, मल्लिका, चमेली, केशर, चम्पा, पारिजात, स्थल पद्म आदि बिखरे हुए हैं। द्वीप के कोने-कोने में इन पुष्पों की सुगन्ध फैली हुई है ॥2-4॥

इस द्वीप के मध्य में कल्पवृक्ष नामक पेड़ है। इसकी चार शाखायें चारों वेदों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह वृक्ष सुन्दर फल-फूलों से लदा हुआ है। सम्पूर्ण द्वीप में कोयल पक्षी की मधुर बोली एवं भ्रमर के गुञ्जन की ध्वनि सुनायी दे रही है। इस द्वीप में एक चबूतरा है। यह चबूतरा हीरे, नीलम आदि अनेक प्रकार के रत्नों से सजा हुआ है। पुन: कल्पना कीजिये कि उस चबूतरे पर आपके इष्ट देव बैठे हुए हैं। गुरु द्वारा बतायी गयी विधि के अनुसार इष्ट पर 'ध्यान' कीजिये ॥5-7॥

इष्ट देव यदि गुरु हैं, तो उनके स्वरूप को देखिये। उन्होंने शरीर में जो वस्तुएँ धारण की हुई हैं, जैसे वस्त्र, माला इत्यादि, उन पर अपनी एकाग्रता को केन्द्रित कीजिये। इस विधि से विद्वान् व्यक्ति अपने गुरु के स्थूल रूप पर ध्यान करते हैं ॥8॥

व्याख्या

इन मन्त्रों को कुछ बिन्दुओं के आधार पर समझना होगा। इनसे कुछ सन्देह या प्रश्न उत्पन्न होते हैं। पहले हमने आपको कहा कि ध्यान की स्थिति प्राप्त होती है, इसका अभ्यास नहीं किया जाता। अगर ध्यान की स्थिति प्राप्त होती है, तो यहाँ पर इस विधि का वर्णन क्यों किया गया?

इस विधि से हृदय में ध्यान करने का निर्देश दिया गया है। उपनिषदों में कहा गया है कि हृदय या हृदयाकाश में प्रभु का निवास होता है। उपनिषद् ही नहीं, बहुत-से सन्त-महात्मा भी कहते हैं, अपने दिल में खोजो। दिल में किसको खोजें? कौन प्रभु है? जो आसमान में क्षीर सागर रूपी समुद्र में बैठा हुआ है नारायण। अब अनाहत चक्र को समझ लें। अनाहत चक्र आकाश तत्त्व और अनहद् नाद का प्रतिनिधित्व करता हैं। अनहद् नाद को 'ॐ' की ध्वनि के रूप में सुना जाता है। ॐ की ध्वनि का बाह्य रूप भ्रमर का गुञ्जन है। भ्रमर का गुंजन यहाँ उत्पन्न हो रहा है, और उस नाद से परिपूर्ण द्वीप में, जो कि रत्नों से बना है, प्रभु का वास है। ये रत्न क्या हैं? ये मनुष्य के गुण हैं।

अत: वह स्थान जो पूर्णरूपेण शुद्ध और पवित्र है, जहाँ पर किसी प्रकार का प्रपञ्च और मल नहीं है, उस स्थान की कल्पना यहाँ पर अनाहत के रूप में की गयी है और कहा गया है कि अनाहत में प्रभु का वास है। उन्होंने ईश्वर का रूप बतलाने के लिए जल की कल्पना की है। क्षीर सागर में ही तुम्हारे इष्ट देवता, जिससे तुम उत्पन्न हुए हो, गुरु जिन्होंने तुमको ज्ञान दिया है, बैठे हैं।

समुद्र अनन्त का भी प्रतिनिधि होता है। तत्त्व और समुद्र, इन दोनों में भेद नहीं माना गया है। जल तत्त्व में अन्तर है, लेकिन समुद्र और आकाश एक असीम तत्त्व को इंगित करते हैं।

जब प्रत्याहार और धारणा के बाद हम ध्यान की स्थिति में प्रवेश करते हैं और हमारी चेतना बिना किसी अवरोध के अनवरत गतिमान होती है, तब इसका यही अर्थ हुआ कि हम कुछ मानसिक अवस्थाओं को पार कर गये हैं। पार करने के बाद ही हमें यह नैरन्तर्य प्राप्त हुआ है। यदि यह न कहा जा सके कि हमने पार कर लिया है, फिर भी इतना अवश्य कह सकते हैं कि अब हमारी सजगता निरन्तर हो गयी है। अत: वेग की जो स्थितियाँ थीं, या प्रत्यय की जो अवस्था थी, जिसके प्रभाव से हम अपनी एकाग्रता के केन्द्र से हट जाते थे, वे अब समाप्त हो गयी हैं। जब एक बिन्दु पर पूर्णरूपेण एकाग्र होकर हम उस स्थिति का अनुभव करने लगते हैं तब भ्रमर के गुंजन के रूप में अनहद् नाद का अनुभव होने लगता है। हमारे ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं और ज्ञानचक्षु खुलने से कल्प वृक्ष, जिसकी चार शाखायें हैं, दिखायी देने लगता है। कल्प वृक्ष की चार शाखायें हैं, चार 'वेद' ॠग्वेद, सामवेद यर्जुवेद और अथर्व वेद। समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान का समावेश इन चार वेदों में है।

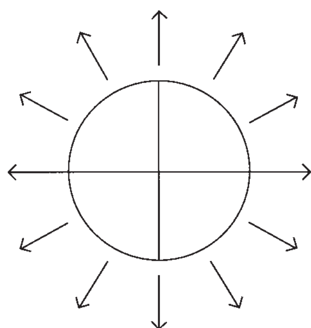
जब हम अपने मुक्त स्वभाव को पहचानने लगते हैं, अपने गुणों को देखने लगते हैं, तब वह ज्ञान, वह बोध या वह सजगता ज्ञान चक्षु को जाग्रत करती है, जिसमें भूत, भविष्य, वर्तमान कुछ छिपा नहीं है। समस्त ज्ञान स्पष्ट रूप से वेदों के रूप में, अर्थात् प्रत्यक्ष दिखायी देने लगता है। इस अवस्था में ईश्वर या गुरु के रूप अथवा मूर्ति पर ध्यान करना चाहिए, क्योंकि स्थूल ध्यान का लक्ष्य है मूर्ति। यह बात यहाँ विशेष प्रयोजन से कही गयी है कि इस स्थिति में पहुँच कर कहीं ऐसा न हो कि 'मैंने प्राप्त कर लिया है' का ज्ञान हो जाने से अहंकार की वृद्धि हो। इसलिये गुरु रूपी ईश्वर तत्त्व पर या ईश्वर तत्त्व के एक रूप अथवा मूर्ति पर ध्यान करना चाहिए, ताकि यह ज्ञान बना रहे कि यह इनकी देन है। *'नाहं कर्त्ता हरि: कर्त्ता। हरि कर्त्ता हि केवलम्।'* अत: अहंकार को पुन: पनपने न देने के लिए, अहम् कर्त्ता की भावना को पुन: जाग्रत न होने देने के लिए इष्ट या गुरु पर ध्यान को केन्द्रित करना आवश्यक माना गया है।

यहाँ पर फिर एक बात सामने आती है कि ध्यान की इस स्थिति में भी, जहाँ अनहद् नाद जैसे परानाद की अनुभूति हो रही है, मनुष्य अपनी बुद्धि से मुक्त नहीं हुआ है, चूँकि अन्ततोगत्वा उस स्थिति का विश्लेषण बुद्धि से ही

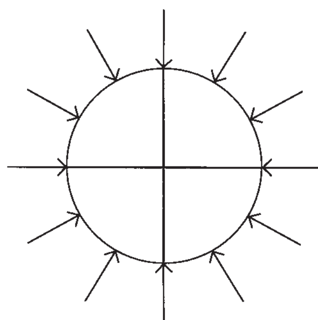
होगा। बुद्धि से पुन: कोई नकारात्मक तत्त्व न पनपे, वह पुन: हमें नीचे खींचकर संसार के विषयों की ओर न ले जाये, इस कारण बुद्धि को निर्मूल करने के लिए ईश्वर तत्त्व पर चिन्तन करने का निर्देश दिया गया है, क्योंकि साधना-मार्ग में पतन के रास्ते बहुत होते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति अन्तिम अवस्था की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे निम्न प्रवृत्तियाँ प्रबल होती जाती हैं। यह क्या, यह आदमी तो मेरे चंगुल से भाग रहा है, पकड़ो इसे। पहले कपड़े को पकड़ती हैं, कपड़े से अगर आप पकड़ में नहीं आते तो हाथ पकड़ती हैं। हाथ भी पकड़ में नहीं आता तो अन्त में गला पकड़ती हैं।

भौतिकता और आध्यात्मिकता का अन्त में जो संघर्ष होता है, वह दुर्जेय है। बुद्ध के जीवन में यह संघर्ष हुआ था। बोधि वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने न जाने कितने दानवों से संघर्ष किया था। मार नाम के दानव ने आकर उनकी तपस्या को भंग करने का प्रयास किया था। ऐसी घटना आपको प्रत्येक महात्मा के जीवन में दिखायी देगी।

महर्षि घेरण्ड ने ऊपर वर्णित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्थूल ध्यान के प्रथम चरण का वर्णन किया है। ध्यान की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए चेतना की सामान्य स्थिति और एकाग्र अवस्था को इन चित्रों की सहायता से समझने का प्रयत्न कीजिए।



चित्र (1) चेतना या सजगता का बाहर की ओर झुकाव



चित्र (2) चेतना या सजगता को अन्तर्मुखी बनाना

चित्र में दर्शाये गये गोले को हम अनेक नामों से पुकार सकते हैं, मन का क्षेत्र कहें, चेतना का क्षेत्र कहें या जीव के अनुभव का क्षेत्र कहें। अपनी समझ के अनुसार हम इसे चाहे जो नाम देना चाहें, दे सकते हैं। अभी हम इसे चेतना

का क्षेत्र कहेंगे, क्योंकि अगर मन कहेंगे तो इससे विभक्ति आ जायेगी मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की। अगर जीवात्मा के अनुभव का क्षेत्र कहते हैं तो इसमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि के अनुभव आ जायेंगे। इसलिये अभी हम द्वन्द्वात्मक विचारों से हटकर इसे चेतना का क्षेत्र कहेंगे, जिसमें हम सब कुछ सम्मिलित कर सकें।

इस 'गोल क्षेत्र' के द्वारा संसार के साथ हमारा सम्बन्ध है। लेकिन क्या चेतना संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ती है? नहीं। उदाहरण के लिए, अगर यह कहा जाये कि मेरे मन में विचार आते हैं, तो क्या ये विचार चेतना के क्षेत्र में उत्पन्न हो रहे हैं? नहीं, ये चेतना की एक स्थिति से उत्पन्न हो रहे हैं, चेतना के क्षेत्र या स्वरूप से नहीं। अगर हम कोई कर्म करते हैं, तो इसकी प्रेरणा हमें कहाँ से मिलती है? चेतना से मिलती है? नहीं। परिस्थिति और अनुभव के अनुसार बुद्धि से निर्णय के पश्चात् क्रिया होती है। अत: यहाँ पर चेतना का रूप एक स्थिति का रूप है। जैसे बल्ब में प्रकाश उत्पन्न होता है, लेकिन उसकी अनुभूति पूरे कमरे में होती है। चेतना एक बल्ब के समान है। उसकी जो क्रियाएँ, प्रतिक्रियायें या परिणाम होते हैं, उनके प्रभाव को हम अपने जीवन में स्वयं के साथ, परिवार के साथ, समाज के साथ जुड़ा हुआ अनुभव करते हैं। यहाँ पर बल्ब और उसके प्रकाश में भेद किया जा रहा है। प्रकाश के दिखायी देने का अर्थ है किसी सम्बन्ध का सकारात्मक या नकारात्मक परिणाम। जीव को जो अनुभव होते हैं, वे चेतना द्वारा प्रेरित माने जाते हैं।

गोले से जो लकीर बाहर निकल रही है, वह है परिणाम। ये परिणाम तभी होते हैं जब संसार से जीव का सम्बन्ध होता है। जन्म लेने के पहले भी तो संसार था और मरने के बाद भी रहेगा, लेकिन हम अपने जीवन काल में स्वयं को संसार में अनिवार्य मान लेते हैं कि मेरे बिना काम हो ही नहीं सकता। काम तो पहले भी हो रहा था और बाद में भी होगा। लेकिन पहले हम एक स्थिति, रूप या शरीर में नहीं थे, इसलिये व्यक्त के साथ हमारा सम्पर्क नहीं था। व्यक्त रूप में हमारी आवश्यकता नहीं थी, लेकिन जब हम व्यक्त रूप में आते हैं और देखते हैं कि मैं यह व्यक्ति हूँ, मेरा ऐसा सोचना, रहना और करना है, तब इसे हम नाम दे सकते हैं विषय सजगता। इस सजगता को गोले से बाहर निकलती हुई रेखा द्वारा दर्शाया गया है।

ध्यान को समझने के लिए विषय-सजगता को जानना जरूरी है। हम चेतना रहित नहीं हैं। चेतना हमारे भीतर है, लेकिन इस क्षण चेतना का आभास हमें

नहीं हो रहा है। जैसे-जैसे एक विषय का अनुभव शक्तिशाली होता जाता है, वैसे-वैसे चेतना का स्थानान्तरण होता है। अगर मन में भोग का विचार आ जाये और यह विचार मन में छा जाये तो उस समय कुछ दूसरी चीज सुनायी नहीं देगी। उदाहरण के लिए, अगर कोई व्यक्ति फल का डब्बा लेकर कमरे के अन्दर प्रवेश करे तो सबकी दृष्टि उधर घूम जायेगी, क्योंकि नयी घटना घटी और चेतना या सजगता का तुरन्त वहाँ स्थानान्तरण हो गया।

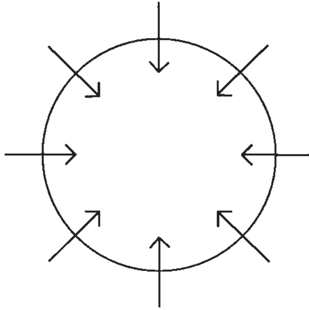
विषय-भोग के पीछे भागना, विषय की सजगता या विषय में चेतना का स्थानान्तरण, यह हमारी सामान्य स्थिति है। जीवनपर्यन्त इसे कोई नहीं बदल पाता। हाँ, कुछ महान् लोग होते हैं जो बदल देते हैं, लेकिन सामान्य लोग नहीं कर पाते।

अब इसके बाद दूसरी स्थिति आती है। इसमें बाहर न जाकर अन्दर की ओर अभिमुख होते हैं। अन्दर जाने की इस प्रक्रिया को हम प्रत्याहार का नाम देते हैं।

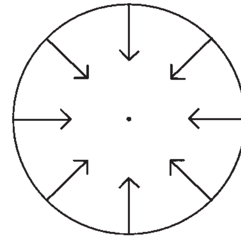
यहाँ पर एक ही परिवर्तन है कि हम बाहरी विषयों से अपनी सजगता को अब हटा रहे हैं। यह प्रत्याहार की प्रारम्भिक अवस्था ही है। मन के क्षेत्र में अभी हमने प्रवेश नहीं किया है। चित्र 2 में आप देख सकते हैं कि जो पहले बाहर जा रहे थे, उनका चेहरा अन्दर की ओर हो गया है, लेकिन स्थान वही है। कहने का तात्पर्य है कि विषयों के पीछे जो हमारी सजगता भागती है, उसे वहाँ से हटाकर मन या चेतना के क्षेत्र में समाहित करने का प्रयत्न शुरू कर रहे हैं। यह प्रत्याहार की स्थिति है।

प्रत्याहार की अवस्था में व्यक्ति मन में प्रवेश नहीं करता, मन अन्तर्मुखी नहीं होता। योग सूत्रों तथा अन्य स्थानों पर समझाने के लिए लिखा गया है कि मन अन्तर्मुखी हो जाता है, लेकिन वास्तविक प्रक्रिया है सजगता को विषयों से हटाना। इसके बाद स्थिति आती है जब हम चेतना के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। जब हम चेतना के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और विषयों से हमारा मन या हमारी सजगता हट जाती है तब यह धारणा की स्थिति कहलाती है।

पहले हम सामान्य अवस्था में हैं, जिसमें सब बाहर जा रहे हैं (चित्र 1)। प्रत्याहार में सब अन्दर की ओर जा रहे हैं और धारणा में अन्दर प्रवेश करते हैं। यहीं पर द्वन्द्व उठता है कि धारणा के अभ्यास को हम ध्यान मानें, या अन्य कोई स्थिति मानें? लेकिन जब हम चेतना के क्षेत्र के अन्दर की स्थितियाँ देखेंगे तो यह द्वन्द्व समाप्त हो जायेगा। जब हम चेतना के क्षेत्र के भीतर ही अधिक गहराई तक प्रवेश करते हैं तब वह ध्यान की स्थिति कहलाती है।

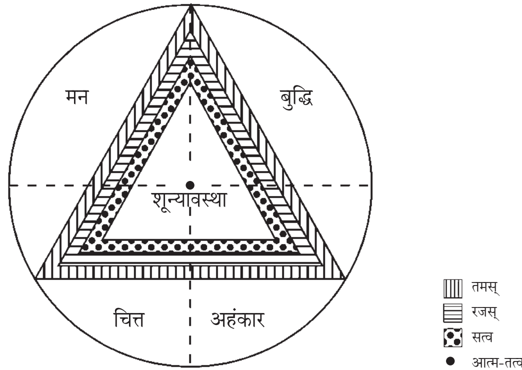


चित्र (3) चेतना या मन की अवस्था में प्रवेश करना



चित्र (4) बाहर से सम्बन्ध विच्छेद, चेतना का और गहरे उतरना

अब हम चेतना के क्षेत्र के भीतर की स्थिति देखेंगे। चित्र 4 में जो काली लाईन है, वह चेतना का क्षेत्र है तथा तीन त्रिकोण तीन गुणों के परिचायक हैं सात्विक, राजसिक और तामसिक। तामसिक का अर्थ होता है स्थिति स्वभाव, राजसिक का क्रियाशीलत्व और सात्विक का होता है प्रकाश स्वभाव, प्रकाश शीलत्व। ये गुणों के मूल रूप हैं।



त्रिभुजों के मध्य एक बिन्दु है, जिसको हम परमात्मा या आत्मा या जो नाम देना चाहें, दे सकते हैं। बिन्दु और त्रिकोण के बीच का जो स्थान है, वह शून्य-अवस्था है। मन, बुद्धि, चित्त के रूप में जो चीज दिखलायी दे रही है, वह वास्तव में कला या प्रकृति है। इस प्रकार यह चित्र कला, गुण और बिन्दु को प्रदर्शित करता है।

कहा जाता है कि बिन्दु से नाद या ध्वनि उत्पन्न होती है। बिन्दु बाह्य व्यक्त चेतना का मूल आधार है, उसे चाहे आप ईश्वर कहें या परमात्मा कहें या मात्र बिन्दु ही कहें। वेदों में उसी को परमात्मा शब्द से सम्बोधित किया गया है, क्योंकि सबकी उत्पत्ति और विलय का केन्द्र वही है। अन्त में सब उसी में समाहित हो जाते हैं और वहाँ से ध्वनि उत्पन्न होती है, जिसको अनहद् नाद या परा नाद कहते हैं। परानाद का अर्थ होता है जो अपर नहीं पर है, जो व्यक्त नहीं अव्यक्त है, जो परिणाम नहीं मूल क्रिया है; जो प्रतिक्रिया नहीं क्रिया है। अनहद् का भी यही अर्थ होता है, जिसे सुना न जाये, जिसको कोई बजाने वाला नहीं है।

यदि हम किसी ध्वनि को सुनते हैं तो उसके लिये गुणों और अन्त:करण का होना आवश्यक है। चाहे स्थूल ध्वनि हो, चाहे सूक्ष्म ध्वनि हो। लेकिन कहा गया है कि यह उस अवस्था के भी परे है। अत: अनहद् नाद और परानाद में कोई अन्तर नहीं है। जैसे-जैसे हम चेतना के क्षेत्र के भीतर ध्यान की स्थिति में प्रवेश करते हैं, वैसे-वैसे विभिन्न सीमाओं से गुजरते हैं, पहली ही बार में शून्यावस्था को प्राप्त नहीं करते। जैसे पुराने जमाने में किले में दुश्मनों के हमलों को रोकने के लिए अनेक दरवाजे रहते थे। अगर एक दरवाजा टूट जाता, तो वे दूसरे पर मोर्चा बाँधते थे। दूसरा टूट जाता तो तीसरे में बाँधते थे।

यहाँ पर सब सजगता के ऊपर निर्भर है। जब तक हम सजग रहते और सतर्कतापूर्वक देखते एवं अनुभव करते हैं, तब तक हम विभिन्न अवरोधों को देखते हैं, लेकिन जब कभी हम अपने आपको यों ही छोड़ देते हैं, तब हमारे मन की सजगता इन अवरोधों को पार कर जाती है और क्षणिक रूप से कुछ विशेष आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होती हैं। जब सजगता इस अनुभव को विषय के रूप में बदल कर उधर केन्द्रित होने लगती है, तब एकत्व स्थापित हो जाता है। चूँकि उस अनुभव को यदि हम विषय के रूप में ग्रहण करते हैं तो इसका अर्थ है कि हम उस असीम अनुभव को विषय के रूप में वर्णित करके सीमित कर रहे हैं।

जब हम विशेष प्रकार के विश्राम की स्थिति में चले जाते हैं, योगनिद्रा की स्थिति में या रात्रि को सोते-सोते हम बहुत विश्रान्त हो जाते हैं, तब बाहर के संसार से हमारा मन हट जाता है, लेकिन अन्दर जागृति रहती है। स्वप्न देखते हैं तो मालूम रहता है कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। लेकिन हर समय उस सजगता को बनाये रखना कठिन है। योगनिद्रा करते समय अगर कुछ अनुभव होता है, तो मालूम रहता है कि ऐसा हो रहा है, लेकिन जब मैं बाहर निकलता हूँ तो उसकी याददाश्त नहीं रहती।

ध्यान के समय एक अच्छी अनुभूति होती है, लेकिन मैं बाहर निकलता हूँ तो उसको पुनः नहीं ला सकता, वह स्मृति में छिप जाती है। यदि आप इस अनुभव को एक भोग या आकर्षण के रूप में न देखें तो यह कुछ देर के लिए रहेगा। इसलिए योगनिद्रा के अभ्यास के समय निर्देश दिया जाता है कि बौद्धिक विश्लेषण नहीं करना है, केवल सजग रहो। जहाँ विश्लेषण होने लगे कि ऐसा हो रहा है, वैसा हो रहा है, वह योगनिद्रा नहीं रह जाती। यह निर्देश केवल योगनिद्रा के सम्बन्ध में नहीं है, वरन् किसी भी ध्यान की अवस्था में, किसी भी प्रकार की आन्तरिक क्रिया में इस निर्देश का पूर्णरूपेण पालन होना चाहिए।

अभी तक हमने चित्र के माध्यम से ध्यान की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करते हुए मन, बुद्धि और चित्त को समझा। अब अहंकार को समझने का प्रयास करेंगे। जब बिन्दु से उत्पन्न नाद का सम्पर्क त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों सत्त्व, रज और तम से होता है, तब अहम् कर्त्ता का भाव आता है; मैं करने वाला हूँ। जब तमस् से इनका सम्पर्क होता है तब घमण्ड के रूप में अहम् की अनुभूति होती है। इसके पश्चात् जब इन तीन गुणों का सम्बन्ध मन, बुद्धि और चित्त से होता है, तब वह एक व्यक्ति का आकार धारण करता है और अहंकार कहलाता है।

परमात्मा को जानने का श्रेष्ठ साधन ध्यान ही है। जो लोग ध्येय के आकार को महत्त्व नहीं देते, उन्हें भी यह मानना ही होगा कि ध्यान के लिए कोई आकार, कोई रूप अवश्य चाहिए।

(ब) सहस्त्रार में गुरु के स्थूल रूप पर ध्यान

सहस्त्रारे महापद्मे कर्णिकायां विचिन्तयेत् ।
विलग्नसहितं पद्मं दलैर्द्वादशभिर्युतम् ॥9॥
शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशैर्बीजभाषितम् ।
ह स क्ष म ल व र युं ह स ख फ्रें यथाक्रमम् ॥10॥
तन्मध्ये कर्णिकायां तु अकथादिरेखात्रयम् ।
ह ल क्ष कोण संयुक्तं प्रणवं तत्र वर्त्तते ॥11॥
नादबिन्दुमयं पीठं ध्यायेतत्र मनोहरम् ।
तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्तते ॥12॥
ध्यायेत्तत्र गुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम् ।
श्वेताम्बरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनम् ॥13॥

शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम् ।
एवंविधगुरुध्यानात्स्थूल ध्यानं प्रसिध्यति ॥14॥
स्थूलध्यानं तु कथितं तेजोध्यानं श्रृणुष्व मे ।
यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च ॥15॥

अर्थ

सहस्रार प्रदेश में महापद्म है, जिसके एक हजार दल हैं और उसके मध्यवर्ती प्रदेश में बारह दलों वाला एक छोटा-सा कमल है। इन दलों का रंग सफेद और तेज पूर्ण है। इन बारह दलों की शोभा बढ़ाने वाले बीज मन्त्र हैं "ह, स, क्ष, म, ल, व, र, यू, ह, ख और फ्रें।" कमल के केन्द्रीय भाग में तीन रेखायें 'अ, क, थ' वर्ण सहित हैं। ये तीन रेखायें मिलकर एक त्रिशूल की रचना करती हैं।

इस त्रिभुज के कोणों का सांकेतिक शब्द 'हं, थं और लं' हैं। त्रिभुज के मध्य में प्रणव मन्त्र ॐ स्थित है। ध्यान के समय सहस्रार में यह देखने का प्रयास कीजिये कि सहस्र दल कमल के मध्य में ध्वनि और प्रकाश के प्रतीकात्मक रूप में हंसों का एक जोड़ा बैठा है। हंसों का यह जोड़ा गुरु पादुकाओं का प्रतीक है। श्वेत पद्म में बैठे हुए गुरु के दो हाथ और तीन नेत्र हैं। वे श्वेत वस्त्र तथा श्वेत पुष्पों से बनी माला पहने हुए हैं और उनके वाम भाग में लाल वस्त्र धारण किये उनकी शक्ति सुशोभित हैं। इस प्रकार गुरु का ध्यान करने से स्थूल ध्यान की सिद्धि होती है ॥9-15॥

व्याख्या

यह सहस्रार में स्थूल-सूक्ष्म ध्यान का वर्णन है। इसकी विशेषता है सहस्र दल कमल। इसके पश्चात् बारह दलों वाला कमल, जिसके प्रत्येक दल पर बीज मन्त्र लिखा है। नाद और बिन्दु का प्रतीक, दो हंस और गुरु एवं उनकी शक्ति।

अनाहत ध्यान के पश्चात् जब चेतना सूक्ष्म होती है और उस नाद की अनुभूति भीतर में उत्पन्न होती है, तब चेतना में परिवर्तन होता है। जिस अवस्था को यहाँ पर सहस्र दल कमल के रूप में बताया गया है, वह है चेतना के विभिन्न प्रत्ययों की अवस्था, क्योंकि जब तक चेतना पूर्ण रूप से शुद्ध और एक रूप नहीं होती, जब तक समाधि या मोक्ष की अवस्था प्राप्त नहीं होती, ये प्रत्यय वहाँ पर बने रहते हैं। ये प्रत्यय बीज रूप में हैं आदि इच्छा, आदि क्रिया या आदि संकल्प का रूप।

कारण रूप में विद्यमान रहने के कारण प्रत्ययों को कोई नहीं जानता, लेकिन इनकी पकड़ बहुत जबरदस्त होती है। अगर हम यह मान लें कि हमारे भीतर एक प्रत्यय है और उसका रूप तामसिक है। हम ध्यान की अवस्था में बैठते हैं, अनन्त तक पहुँचते हैं, लेकिन उस तामसिक प्रत्यय के कारण हम त्रिगुणात्मक प्रकृति के परे नहीं जा पायेंगे। यहाँ पर किसी-न-किसी रूप में कोई संस्कार या कोई कर्म या कोई वासना प्रकट हो जायेगी और उनका निराकरण फिर हर समय करना पड़ेगा। इससे बचने के लिए एक ही उपाय है कि सूक्ष्म में जाने के पूर्व प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के द्वारा जहाँ तक सम्भव हो, अपने भीतर उत्पन्न अनुभवों और अवस्थाओं को पहचान लेना चाहिए। जब पहले से ही हम क्षय का कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, तब अन्त में हमारा कार्य-क्षेत्र बहुत कम हो जाता है।

अत: सहस्रार के जो सहस्र दल हैं, वे कारण अवस्था के बीज रूपी प्रत्ययों के प्रतीक हैं। योगियों का मत है कि मन्त्र के अभ्यास द्वारा अन्य प्रत्ययों को निर्मूल किया जा सकता है। इसी कारण उन्होंने सहस्रार में भी हजार मन्त्रों को लिखा है। उन्हें कुछ तो अनुभव हुआ होगा, जिसके आधार पर उन्होंने इनके निराकरण का एक मार्ग खोजा। सहस्र दल के बीच में पुन: बारह दल का कमल है। ये बारह दल जाग्रत, स्वप्न और तुरीय की तीन विभिन्न अवस्थाओं को प्रदर्शित करते हैं। जाग्रत-स्वप्न, जाग्रत-निद्रा, जाग्रत-तुरीया, स्वप्न-निद्रा, स्वप्न-तुरीया, स्वप्न-जाग्रत, निद्रा-तुरीया, निद्रा-जाग्रत, निद्रा-स्वप्न, तुरीया-जाग्रत, तुरीया-स्वप्न और तुरीया-निद्रा, ये बारह अवस्थायें हैं। योगियों का मत है कि प्रत्येक अवस्था में, चाहे वह जाग्रत हो, चाहे निद्रा हो, अगर आन्तरिक जागरूकता रहे, आन्तरिक सजगता रहे तो हम इन चारों अवस्थाओं का अनुभव कर सकते हैं। विज्ञान भी इस सन्दर्भ में धीरे-धीरे इस निष्कर्ष पर पहुँच रहा है।

वह केन्द्र जहाँ पर जाग्रत, स्वप्न और निद्रा की स्थिति में आप चारों अवस्थाओं का अनुभव कर सकते हैं, वहाँ पर नाद और बिन्दु रूपी दो हंसों की कल्पना की जाती है। बिन्दु एक सूक्ष्म ब्रह्माण्डीय केन्द्र है, जिससे सूक्ष्म ब्रह्माण्डीय परिणति होती है और अन्त में वही परिणाम सूक्ष्म ब्रह्माण्डीय सत्ता में विलीन हो जाता है। इस स्थिति को रूप देने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह है नाद। ये दोनों शुद्ध तत्त्व माने गये हैं और इनकी तुलना हंस के जोड़े के साथ की गयी है। पौराणिक कथाओं में कहा जाता है कि हंस जल और दूध को अलग कर सकता है।

शुद्ध एवं अशुद्ध तत्त्वों को वही मनुष्य अलग कर सकता है, जो उस प्रकार की प्रतिभा, उस प्रकार के बोध या ज्ञान को प्राप्त कर चुका हो। यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ पर शिव और शक्ति दोनों तत्त्व मनुष्य के भीतर पूर्ण रूप से जाग्रत रहते हैं और वह दोनों का अवलोकन करता है। साथ-ही कहा गया है कि इन हंसों की तुलना गुरु-पादुकाओं से भी की जा सकती है। अब गुरु-पादुका से तुलना, यह एक भावनात्मक बिन्दु है यहाँ पर।

जब हम शुद्ध अवस्था में पहुँच गये हैं, तब भेद किसका? जब समस्त सृष्टि ही आत्ममय दिखायी देती है, जब समस्त सृष्टि ही ईश्वर का रूप दिखायी देती है, तब यहाँ पर भेद किसका? जब हम खुद उसका अनुभव करते हैं तब भेद किसका? लेकिन हम अनुभव कर रहे हैं, इसलिए यहाँ पर 'मैं' का थोड़ा-बहुत अन्तर रहता ही है। परन्तु जब मैं शुद्ध तत्त्व को देखता हूँ और वहाँ पर पहुँच चुका हूँ, तब मेरे भीतर के सभी विकार, व्यवधान और अवरोध मिट चुके होते हैं और मैं समर्पण की अवस्था में रहता हूँ। मैं उस रूप में अपने आपको नहीं देखता। मैं उस रूप से मिलना चाहता हूँ।

यहाँ पर भक्ति मार्ग का अंश जोड़ा गया है। मैं राम नहीं हूँ; कृष्ण नहीं हूँ; मैं उनसे एक होना चाहता हूँ। यदि मैं अपने आपको राम या कृष्ण मानने लगूँ तो फिर एक होने का प्रश्न ही कहाँ? यह समर्पण की जो भावना है, पादुका में दिखलायी देती है शुद्ध तत्त्व को आत्मा की आहुति कि 'मैं' फिर 'मैं' न रहूँ।

कहा गया है कि इसी पद्म में तीन रेखायें मिलती हैं, जो एक त्रिभुज बनाती हैं। इस त्रिभुज के तीनों कोणों में मन्त्र लिखे हैं हं, लं और क्षं। 'लं' पृथ्वी तत्त्व या मूलाधार चक्र का मन्त्र है। 'हं' और 'क्षं' आज्ञा चक्र के मन्त्र हैं। सहस्रार एक ऐसा केन्द्र है जिसने सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी तत्त्व को एक त्रिकोण में जोड़ा है। यह अधोमुखी त्रिकोण शक्ति तत्त्व को दर्शाता है। इस अधोमुखी त्रिकोण में नाद और बिन्दु रूपी हंसों का जोड़ा है और वहाँ गुरु श्वेत वस्त्र धारण किये, श्वेत माला पहने बैठे है। श्वेत तो निर्मल, शुद्ध, पवित्र और प्रकाश-शीलत्व का प्रतीक है, अर्थात् जो शुद्ध है, विकार रहित है, प्रकाशित है, वह है गुरु या ईश्वर। उनके बाजू में लाल वस्त्र धारण किये शक्ति बैठी है। कमलात्मिका शक्ति को सहस्रार (जहाँ से विकास होता है) की देवी माना गया है, जो चेतना के विकास की प्रतीक है। इस प्रकार नाद, बिन्दु और विकास की शक्ति एक साथ त्रिभुज में बैठे हैं। इस प्रकार के ध्यानाभ्यास को स्थूल ध्यान कहते हैं।

जिस ध्यान की चर्चा कर रहे हैं, उसका सम्बन्ध मन और उसकी विभिन्न अवस्थाओं से है। ध्यान का अभ्यास आन्तरिक शान्ति और उच्च अनुभवों को प्राप्त करने के लिये नहीं किया जाता। ये तो परिणाम हैं। ध्यान का अभ्यास किया जाता है स्वयं को देखने और समझने के लिए। स्वयं को समझने की जो कला है, यह अपने आप में एक विज्ञान है, मनोविज्ञान या आत्म-विज्ञान है। यह आत्म-विज्ञान ध्यान की विभिन्न विधियों का प्रयोग करता है।

मनुष्य का जीवन बहुस्तरीय है। इस जीवन काल में हम अनुभव तो अवश्य करते हैं कि हम विपरीत अवस्थाओं से गुजर रहे हैं, लेकिन इन अवस्थाओं का सामना कैसे किया जाये? परिस्थितियों का सामना कैसे किया जाये? यहीं पर कभी-कभी स्वयं के साथ संघर्ष होता है, क्योंकि इस बहु-स्तरीय जीवन में सबसे बड़ी समस्या है हमारे मन की विवेक शक्ति।

हर मन के भीतर समझ की एक स्थिति रहती है और उस अवस्था या स्थिति से स्वयं को हटाने में हम अक्षम अनुभव करते हैं, क्योंकि जब हम यह प्रयास करते हैं तब हमारा आधार हिल जाता है, असन्तुलित हो जाता है। जीवन में इस असन्तुलित अवस्था से गुजरना मनुष्य की सबसे बड़ी कठिनाई है। ऐसा न हो तो व्यक्ति काम कर सकता है। सम्पत्ति जमा कर सकता है। शरीर में रोग हो तो उसके निराकरण के लिए प्रयत्न कर सकता है।

लेकिन हमारा प्रेरणा केन्द्र या इच्छा केन्द्र है मन। अगर वही निराधार हो जाये तो हम सहारा खोज नहीं पाते और दूसरों से वह सहारा मिल भी नहीं पाता। यह सामान्य अवस्था है समाज में, जिसके कारण मनुष्य अपने जीवन, परिवार और समाज में अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करता है। यही अशान्ति का मुख्य कारण भी है। लेकिन जब विवेकशक्ति जाग्रत होती है और मनुष्य निष्पक्ष भाव से अपने जीवन के सभी स्तरों को देख सकता है और अपनी कमियों को पहचान सकता है, तब उसके जीवन में किसी प्रकार की समस्या उत्पन्न हो ही नहीं सकती।

यहाँ पर जिस-जिस चीज की चर्चा की गयी है, चाहे वह अनाहत में ध्यान के समय हो या सहस्रार में, सब उस ध्यान में प्राप्त अनुभवों की चर्चायें हैं। यह नहीं बताया गया है कि इस अनुभव को प्राप्त करने के पहले किस अवस्था से गुजरना पड़ेगा या इसकी प्रारम्भिक क्रियाएँ क्या हो सकती हैं। प्रारम्भिक अवस्था को समझने के लिए अलग-अलग व्यक्तित्व, मानसिकता, व्यवहार और विचारधारा के अनुसार अलग-अलग अवस्थाओं से, स्थितियों से गुजरना

पड़ता है। विभिन्न परिस्थितियों में हमारी मानसिकता का अलग-अलग रूप सामने आता है। बहुत बार लोग हमसे प्रश्न करते हैं कि स्वामीजी, आश्रम में आकर तो हमें बहुत अच्छा लगता है। अच्छे-अच्छे आभास होते हैं, लेकिन घर में हमें कुछ नहीं होता। उन्हें यह समझाना कठिन हो जाता है कि जब मनुष्य किसी विशेष परिसर या वातावरण में रहता है और वह वातावरण उसके अनुकूल होता है, तब वह उसके व्यक्तित्व से एक प्रकार की भावना, विचार, व्यवहार एवं कर्म को उभारकर सामने लाता है।

महर्षि घेरण्ड ने ध्यान की स्थिति का नहीं, वरन् परिणाम का वर्णन किया है। अन्तिम लक्ष्य की चर्चा की है, प्रक्रिया की नहीं। प्रक्रिया व्यक्ति को खुद समझनी पड़ती है। यह तभी सम्भव है जब विवेक शक्ति, समझने की क्षमता, सही और व्यापक दृष्टिकोण से देखने की क्षमता प्राप्त हो, अन्यथा नहीं। यही अन्तर है एक योगी और भोगी में कि योगी एक व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयत्न करता है और भोगी एक संकीर्ण वातावरण में रहकर उससे प्रभावित हो जाता है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि हम अपने आपको भोग प्रवृत्ति से निवृत्त कर किस प्रकार अपने भीतर योग प्रवृत्ति को जाग्रत करें। एक अवस्था को सिद्ध करने के लिए, एक अवस्था में पूर्णता प्राप्त करने के लिए परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है और परिश्रम तभी सम्भव है जब व्यक्ति का मन अपने नियन्त्रण में हो। हमारा मन हमेशा नये-नये विषयों के पीछे भागता है। कभी वह एक विषय की ओर आकृष्ट होता है तो कभी दूसरे। कभी-कभी बहुत-से विषय एक साथ अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और जब मन बहुत-से विषयों की ओर एक ही समय में आकृष्ट हो जाता है, तब हम मानसिक विक्षिप्तता एवं चंचलता का अनुभव करते हैं।

योग सूत्रों में भी कहा गया है कि किसी वस्तु पर मन को केन्द्रित करने का प्रयास किया जाये। पहले एक तत्त्व धारणा के द्वारा; यदि उससे नहीं होता तो प्राणायाम के अभ्यास द्वारा; यदि इससे नहीं होता तो एक गुण के द्वारा और यदि इससे भी नहीं होता तो फिर किसी दूसरे तरीके से। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति तथा पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं में एक ही विधि काम करती है, एक ही रहस्य है बहु-स्तरीय मन को व्यापक सजगता से देखना। जो इस बात को समझ ले, उसे योग की आवश्यकता नहीं, अध्यात्म की आवश्यकता नहीं, ईश्वरवादी या निरीश्वरवादी बनने की

आवश्यकता नहीं, आस्तिक या नास्तिक बनने की आवश्यकता नहीं, वह पूर्ण मानव अवश्य बन जायेगा।

अन्त में जब हम स्वयं को जानकर, समझकर, अपनी विभिन्न अवस्थाओं को देखकर, अनुभवों को प्राप्त कर आगे बढ़ते हैं तब व्यक्तित्व के मूल में पहुँचकर अपने भीतर के गुणों से हमारा सामना होता है। गुणों का सामना होने तक जो अवस्था रहती है, उसे महर्षि घेरण्ड ने स्थूल ध्यान की संज्ञा दी है।

जब गुणों को पार किया जाता है, तब एक स्थिति आती है जिसे सामान्य भाषा में कहते हैं शून्यावस्था। लेकिन वह शून्यावस्था सात्त्विक अर्थ में शून्य अवस्था नहीं है। वहाँ पर भी क्रिया हो रही है, वहाँ पर भी स्पन्दन है, नाद है, एक अनुभव है। शून्य इसलिये कहा गया है कि अभी तक अपनी जानकारी के अनुसार व्यक्तित्व के जो विभिन्न आयाम हैं, उन्हें हमने पार कर लिया है। गुण तक जानते हैं, गुणों को हम पार कर गये हैं।

अब इसके बाद जिस क्षेत्र में पहुँचते हैं, वह है अज्ञात क्षेत्र। चूँकि उसका वर्णन कहीं नहीं किया गया है, और न ही कोई कर सकता है। वह केवल अनुभव की वस्तु है, इसलिये उसे शून्य अवस्था का नाम दिया गया है। लेकिन योग कहता है कि वह शून्य नहीं, वहाँ पर भी स्पन्दन है। वहाँ पर भी क्रिया है। वहाँ पर भी अनुभव है। वहाँ पर भी प्रकाश है। जब शून्य अवस्था में ध्यान किया जाता है, तब उसे तेजोध्यान या ज्योति ध्यान कहते हैं। महर्षि घेरण्ड ने बहुत सुन्दर शब्दों में इसका वर्णन किया है।

2. ज्योति ध्यान

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजंगाकाररूपिणी ।
तत्र तिष्ठति जीवात्मा प्रदीपकलिकाकृतिः ।
ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानं परात्परम् ॥16॥
भ्रूवोर्मध्ये मनऊर्ध्वे यत्तेजः प्रणवात्मकम् ।
ध्यायेज्जवालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि ॥17॥

अर्थ

मूलाधार में सर्पाकार रूपिणी कुण्डलिनी है। यहीं दीपक की लौ के रूप में आत्मा का निवास है। यहाँ तेजोमय परात्पर ब्रह्म का ध्यान करना ही तेजोध्यान, अर्थात् ज्योति ध्यान है। भौंहों के मध्य और मन के ऊर्ध्व भाग में जो प्रणवात्मक ज्योति है, उस ज्वालावली युक्त ज्योति का ध्यान ही ज्योतिर्ध्यान कहलाता है ॥16-17॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि प्रकाश से पूर्ण असीम सत्ता, ब्रह्म, परमात्मा या आत्मा पर जो ध्यान किया जाता है, उसे तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। उनके अनुसार मूलाधार में सर्प आकृति में कुण्डलिनी शक्ति सोयी पड़ी है और उसी स्थान में दीपक की लौ के रूप में मनुष्य की आत्मा का निवास है। मूलाधार में आत्मा के इस रूप का ध्यान कीजिये।

तात्त्विक दृष्टिकोण से देखने पर मूलाधार चक्र पृथ्वी तत्त्व का प्रतीक है और पृथ्वी तत्त्व सृष्टि की अन्तिम परिणति, अन्तिम अवस्था है। हम पृथ्वी तत्त्व के आकर्षण के भीतर अपना जीवनयापन करते हैं। पृथ्वी तत्त्व यह भूमि या ग्रह नहीं है और न मिट्‌टी, बालू, कंकड़ इत्यादि है। पृथ्वी तत्त्व है स्व-पारिभाषित पदार्थ या ऊर्जा। सम्पूर्ण सृष्टि का रूप पृथ्वी तत्त्व का रूप होता है, चाहे आप उसे कुछ भी कहें। सभी प्रकार के जीवन, जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ या कला की उत्पत्ति पृथ्वी तत्त्व से होती है। वह चेतना जिसे लोग जीवात्मा कहते हैं, अन्ततोगत्वा पृथ्वी तत्त्व से ही प्रस्फुटित होती है। तो, पृथ्वी तत्त्व में स्वयं की आत्मा के प्रकाश पर ध्यान, अर्थात् सृष्टि की अन्तिम स्थिति में आत्मा का ध्यान तेजोध्यान कहलाता है।

जिस प्रकार बल्ब और बल्ब के प्रकाश तथा सूर्य और सूर्य के प्रकाश में अन्तर है, ठीक उसी प्रकार आत्मा और आत्मा की अनुभूति में भी अन्तर है। सूर्य तो एक केन्द्र है, और वह प्रकाश जो सूर्य से निकलता है, चारों तरफ व्याप्त है। बल्ब से बिजली के प्रकाश की उत्पत्ति होती है, लेकिन वह प्रकाश पूरे कमरे में व्याप्त होता है, केवल बल्ब तक सीमित नहीं रहता। हैं तो दोनों अभिन्न, बिना बल्ब के प्रकाश नहीं और बिना प्रकाश के बल्ब नहीं, लेकिन फिर भी एक अन्तर उनमें दिखायी देता है। केन्द्र एक जगह है, लेकिन उसका प्रकाश चारों तरफ है। अत: वह जो प्रसार या व्यापकता है और उस व्यापकता में जो स्थूल और सूक्ष्म अनुभव होता है, उनका अनुभव करना, उन्हें देखना और उन अनुभवों में आत्मा के ही रूप को देखना ज्योतिर्ध्यान कहलाता है। यह एक तरीका है।

ज्योतिर्ध्यान का दूसरा तरीका है *'भ्रूवोर्मध्ये मनउर्ध्वे च यत्तेज: प्रणवात्मकम्'* भ्रूमध्य में मस्तिष्क से परे प्रकाश से परिपूर्ण प्रणव स्थित है। *'ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि'* यह प्रणव आत्मा का प्रतीक है। इस चमकीले प्रकाश पर किये गये ध्यान को प्रणव ध्यान कहते हैं।

पहले कहा गया कि मूलाधार में आत्मा का निवास है। फिर कहते हैं कि भ्रूमध्य में आत्मा का निवास है। दो जगह कैसे हो सकता है? अगर हम महर्षि घेरण्ड की परिभाषा के अनुसार चलें तो यह कहा जा सकता है कि आत्मा के भी दो रूप होते हैं एक होता है बाह्य व्यक्त रूप, जो पृथ्वी तत्त्व में है। दूसरा होता है अव्यक्त रूप, जो भ्रूमध्य में है, आज्ञा में। आज्ञा चक्र शुद्ध अवस्था, शुद्ध प्रकृति या शुद्ध चेतना का प्रतीक है। उसके बाद ही विभिन्न तत्त्वों और भूतों का अनुभव होता है।

अत: जो आत्मा मूलाधार में है, वह व्यक्त है। वह भी एक केन्द्र है जहाँ पर हम आत्मा के प्रकाश का अनुभव कर सकते हैं और जो आत्मा शुद्ध तत्त्व के रूप में है, अव्यक्त है, और आज्ञा में जिसका निवास है, वह भी एक स्थिति है, जहाँ पर हम परा क्षेत्र में आत्मा का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ पर परा और अपरा दोनों की चर्चा की जा रही है। ये दोनों लोक, दोनों अवस्थायें आत्मा के प्रकाश से परिपूर्ण हैं।

मूलाधार में जो आत्मा है, वह कुण्डलिनी के रूप में है और भ्रूमध्य में आत्मा का जो रूप है, वह प्रणव रूप है। इन दोनों पर जब ध्यान किया जाता है, तब इस प्रकार के ध्यान से योग-विज्ञान में पूर्णता प्राप्त होती है। शून्यावस्था में जब

हम पदार्थ और विषय को न देखकर मात्र आत्म-प्रकाश का अनुभव करते हैं, तब स्पन्दन या नाद की अनुभूति होती है।

जब हम परा नाद की पहुँच के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तब वह प्रकाश या ज्योति का क्षेत्र कहलाता है और जैसे-जैसे हम शीर्ष के नजदीक आते हैं, मूल स्पन्दन को सुनने में सक्षम हो जाते हैं।

3. सूक्ष्म ध्यान

तेजोध्यानं श्रुतं चण्ड सूक्ष्मध्यानं श्रृणुष्व मे ।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जाग्रती भवेत् ॥18॥
आत्मना सह योगेन नेत्ररन्ध्राद्विनिर्गता ।
विहरेद्राजमार्गे च चंचलत्वान्न दृश्यते ॥19॥
शाम्भवी मुद्रया योगो ध्यानयोगेन सिध्यति ।
सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ॥20॥
स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते ।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम् ॥21॥
इति ते कथितं चण्ड ध्यानयोगं सुदुर्लभम् ।
आत्मसाक्षाद्भवेद्यस्मात्तस्माद्ध्यानं विशिष्यते ॥22॥

अर्थ

हे चण्ड! तुमने तेजोध्यान (ज्योति ध्यान) का श्रवण किया, अब मैं सूक्ष्म ध्यान का वर्णन करता हूँ। बहुत भाग्य से ही योगी की कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। वह आत्मा के साथ संयुक्त होकर और नेत्र-रन्ध्र से निर्गत होकर ऊर्ध्व भाग में स्थित राजमार्ग नामक स्थान में विचरण करती है, परन्तु सूक्ष्मत्व और चंचलत्व के कारण वह दिखायी नहीं देती। शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करता हुआ योगी कुण्डलिनी का ध्यान करे, यही सूक्ष्म ध्यान कहलाता है, जो कि अत्यन्त गोपनीय और देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। स्थूल ध्यान से ज्योति ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ है और ज्योति ध्यान से सूक्ष्म ध्यान लाख गुना विशिष्ट है। हे चण्ड! यह अत्यन्त दुर्लभ ध्यान योग मैंने तुमसे कहा है। इससे विशिष्टि ध्यान की सिद्धि होने पर आत्म-साक्षात्कार होता है ॥18-22॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड सूक्ष्म ध्यान की विधि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यदि साधक का सौभाग्य रहा तो इस ध्यान के द्वारा आत्मा से एक होना सम्भव है। कुण्डलिनी की जागृति होने पर असीम सत्ता के साथ मनुष्य की चेतना का योग

होता है, तब वह स्वयं आत्मामय बन जाता है। आत्मा में और उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं रहता।

यहाँ पर सूक्ष्म का अर्थ सामान्यत: लगाया जाने वाला अर्थ नहीं है। सूक्ष्म ध्यान का यहाँ पर अर्थ होता है वास्तविक ध्यान। अब किसी प्रकार के अन्तराल में हम नहीं हैं। अब कोई दूरी नहीं है। अब मैं प्रकाश पर ध्यान नहीं कर रहा हूँ, वरन् जिस केन्द्र से उसकी उत्पत्ति होती है, उसे मैं प्राप्त कर चुका हूँ। जब मैं उस केन्द्र को प्राप्त कर लेता हूँ, तब मोक्ष और ज्ञान की प्राप्ति होती है।

इस ध्यान का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि व्यक्ति जब उस अवस्था में पहुँच जायेगा, तब वर्णन की आवश्यकता क्या है? इस ध्यान के विषय में मात्र इतना कहते हैं कि वहाँ पहुँचना, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार होना है। आत्म-तत्त्व से एक हो जाना है।

अध्याय 7

समाधि प्रकरण

समाधि- चित्त की उत्कृष्ट अवस्था

यह सच है कि इस अवस्था का वर्णन कोई नहीं कर पाता, लेकिन फिर भी अपने अनुभव के आधार पर मनीषियों ने कुछ पथ प्रदर्शक सिद्धान्त दिये हैं। योग सूत्र, हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता तथा अन्य ग्रन्थों में इसका अलग-अलग प्रकार से वर्णन है, लेकिन सभी मनीषी और चिन्तक एक बिन्दु पर सहमत हैं कि समाधि एक स्थिति है, जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

एक बार चर्चा के क्रम में पूज्यपाद गुरुदेव ने समाधि के विषय में कुछ वाक्य कहे थे, जिनमें से एक वाक्य था कि समाधि की स्थिति में जीवात्मा परमात्मा के साथ एकाकार हो जाती है। दूसरा वाक्य उन्होंने कहा था कि समाधि की स्थिति में आत्म-ज्ञान या आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति हो सकती है। अगर हम इन्हीं दो वाक्यों को लें, तो पहले वाक्य में वे कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा एकाकार हो जाते हैं। अर्थात् यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ पर जीवात्मा, अर्थात् 'मैं' और परमात्मा, वह असीम सत्ता एक हो जाते हैं। 'मैं', एक सीमित सत्ता और 'परमात्मा' एक असीम सत्ता, दोनों के एक हो जाने से मेरी सीमितता समाप्त हो जाती है और परमात्मा की असीमता मुझमें व्याप्त हो जाती है।

अब जब वे कहते हैं कि समाधि की स्थिति में मनुष्य आत्म-ज्ञान या आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करता है, तब उसका भी यही अर्थ होता है कि अन्त तक, ध्यानावस्था तक केवल अपने भीतर के अशुद्ध तत्त्वों को शुद्ध करने तथा कर्मों को निर्मूल करने का प्रयास चल रहा है और इस प्रयास के क्रम में जब हम ऐसी अवस्था को प्राप्त करते हैं जहाँ पर मनुष्य द्वारा सम्भव सभी कार्यों को हम देख चुके हैं और कुछ शेष नहीं रहा, तब ज्ञान की प्राप्ति या आत्म-साक्षात्कार होता है।

हम पुनः अनुमान लगा सकते हैं कि जहाँ आत्म-साक्षात्कार या आत्म-ज्ञान की स्थिति प्राप्त हो रही है, वहाँ कुछ प्रक्रियायें या विधियाँ अवश्य होंगी, क्योंकि मनुष्य द्वारा जाने गये कर्म को हम ध्यान की अवस्था में निर्मूल करते हैं। अर्थात् हम इतना आत्म-विश्लेषण कर सकते हैं कि मेरे भीतर ये त्रुटियाँ हैं, दोष हैं, गुण हैं, इत्यादि। जहाँ तक मेरी समझ है, मैं उन्हें निर्मूल करने का प्रयास करता हूँ। तब ही मुझे ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब ज्ञान की प्राप्ति होती है, तब भी कुछ ऐसी अवस्थायें होती हैं जिनका आभास मुझे पहले नहीं हुआ था और जब उनका आभास होता है तब उस समय हम जो कर्म करते हैं, वे समाधि की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में हमारे सामने आते हैं, वे कर्म नहीं रहते। कहने का तात्पर्य यह कि आप मनुष्य द्वारा जाने गये क्षेत्र को पार कर गये हैं।

जब हम मानवीय सीमा को पार कर लेते हैं, तब जो आगे का क्षेत्र है, उसका ज्ञान हमें होता है। इस प्रकार हम अलग-अलग अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। ये अवस्थायें अलग-अलग समाधि के नाम से जानी जाती हैं। अतः एकाकार होना या आत्म-साक्षात्कार होना चेतना की शुद्ध अवस्था की प्राप्ति का परिणाम है। जब तक हमारे भीतर किसी प्रकार की विकृतियाँ विद्यमान हैं, तब तक वे हमेशा एक बाधा के रूप में सामने आती रहेंगी। यह पहला विचार बिन्दु है।

दूसरा विचार बिन्दु है कि जीवन की सभी परिस्थितियों, कर्मों, व्यवहार और जीवन-पद्धति को मनीषियों ने दो भागों में विभक्त किया है प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग स्वयं को भुलाने का मार्ग है और निवृत्ति मार्ग स्वयं को पहचानने का मार्ग है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार जैसे-जैसे हम विषयों में लिप्त होते हैं, भोग-मार्ग में आगे बढ़ते हैं, प्रवृत्ति मार्ग में आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे स्वयं की चेतना छोड़ते जाते हैं। यह अनुभव हम अपने जीवन के साधारण कार्यों में कर सकते हैं।

जब हम सामाजिक परिवेश में रहते हैं, तब तो हमेशा सम्पत्ति के लिए भाग-दौड़ मची रहती है, जिसको कहते हैं रोटी, कपड़ा और मकान। सबेरे उठते हैं, वही ख्याल दिमाग में रहता है; रात को सोते हैं, वही ख्याल दिमाग में रहता है। अपने क्रियाकलापों में हम स्वयं को इतना खो देते हैं कि स्वयं की शान्ति और आत्मतुष्टि के लिए हम कुछ कर्म नहीं कर पाते, जिसके कारण मानसिक एवं भावनात्मक विकार उत्पन्न होते हैं, क्लेश उत्पन्न होते हैं और जब

हम इस परिवेश से हटकर एक दूसरे परिवेश में जाकर एक मार्ग को अपनाते हैं, जो हमें अपनी आन्तरिक आवश्यकता को पहचानने में सहायक हो, तब उस समय हम सोचते हैं "पिछले पचीस साल तक मैं जीवन में यों ही भाग-दौड़ करता रहा। मैंने सम्पत्ति, पारिवारिक सुख, प्रतिष्ठा और अहंकार के लिए कोल्हू के बैल की तरह कार्य किया। रोज सबेरे ऑफिस दौड़ता था। मेरे भीतर यही सब चीजें तनाव उत्पन्न कर रही थीं।"

यहाँ एक सजगता आती है, ज्ञान आता है कि मैं पहले जो कर्म किया करता था, वे प्रवृत्ति मार्ग के कर्म थे। उनसे मुझे आत्मतुष्टि नहीं मिल पा रही है। तो अब मैं खोजना शुरू करता हूँ कि किस प्रकार से मुझे आत्मतुष्टि मिले, और फिर मैं अपने लिए एक मार्ग अपनाता हूँ, चाहे वह किसी प्रकार का धार्मिक कार्य हो, चाहे साधनात्मक कार्य हो, भक्ति-मार्ग का कार्य हो, चाहे पूजा-पाठ, श्रद्धा-दान, तीर्थ-पुण्य इत्यादि हों, चाहे स्वयं को गुरु के प्रति समर्पित करने का मार्ग हो। फिर उस जीवन में हम देखते हैं कि धीरे-धीरे मेरी आन्तरिक आवश्यकतायें पूर्ण हो रही हैं। जब मुझे समझ आने लगती है; मैं स्वयं को देखने लगता हूँ; स्वयं को पहचानने लगता हूँ, तब कुछ पूर्ति होती है; मेरे भीतर कुछ प्राप्ति होती है और वह प्राप्ति फिर मुझे निवृत्ति मार्ग में बढ़ने के लिए प्रेरित करती है, जिसको कहते हैं अन्तिम निर्णय कि हाँ, जो कार्य मुझे समाज में करना था, मैं कर चुका हूँ। अब मुझे अपने लिए, अपने जीवन के लिए कुछ नहीं करना है। निवृत्ति मार्ग में, स्वयं को पहचानने के मार्ग में जब हम बढ़ते हैं और आत्म-निरीक्षण एवं सजगता के द्वारा विषयों से दूर हटते या उन्हें दूर हटाते हैं, तब हमारे भीतर बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास होता है; एक आन्तरिक सन्तुलन की स्थिति कायम होती है, तब मैं अपने वास्तविक रूप को धीरे-धीरे पहचानने लगता हूँ और उस मार्ग में आगे बढ़ते-बढ़ते पूर्णाहुति होती है समाधि की स्थिति में।

वह पूर्णाहुति जिसे समाधि कहते हैं, उसे प्राप्त करने के लिए हम विभिन्न अभ्यासों, पद्धतियों या साधनाओं को माध्यम बनाते हैं योग को माध्यम बनाते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से, दूसरे विचार बिन्दु से देखा जाय तो निवृत्ति-मार्ग की अन्तिम परिणति समाधि है, जहाँ पर स्वयं को जाना जाता है।

समाधि की परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि सभी ने इसका वर्णन करते समय अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया हैं। महर्षि पतंजलि ने जिन अवस्थाओं को निर्बीज-सबीज इत्यादि कहा है, उन्हीं को महर्षि घेरण्ड ने दूसरे नामों से

वर्णित किया है। किसी को लय-सिद्धि समाधि कहा है, तो किसी को रसानन्द समाधि। लेकिन अगर हम मनुष्य के मनोविज्ञान को देखते हुए चलें, तो यह अनुमान लगा सकते हैं कि इस अवस्था को, जो इसके बाद आती है, समाधि कहा जाता है।

सभी शास्त्रों और ग्रन्थों में जिस अवस्था को ब्रह्मज्ञान के नाम से जाना जाता है, वह स्वयं में समाधि की स्थिति है, क्योंकि ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति 'वृह्' धातु से होती है, जिसका अर्थ होता है विकसित होना। चेतना के विकास के क्रम में जिन नये आयामों की जानकारी और ज्ञान मनुष्य प्राप्त करता है, उसे ब्रह्मज्ञान कहते हैं। इसको समझने के लिए परा और अपरा में जाना पड़ेगा।

शास्त्रीय विश्लेषण के अनुसार पराज्ञान को ब्रह्मज्ञान कहते हैं। अपरा तक तो हम आते हैं ध्यान की स्थिति में, लेकिन जहाँ पर परा स्थिति में हमारा प्रवेश होता है, जिसमें नाम-रूप-विचार का कोई महत्त्व नहीं, चेतना को केवल एक आभास होता है, वहाँ पर जिन अवस्थाओं को हम देखते हैं, जिन अवस्थाओं का सामना करते हैं और जो बोध या ज्ञान हमें होता है, उसे कहते हैं पराज्ञान या ब्रह्मज्ञान। उसी को समाधि का क्षेत्र कहते हैं, क्योंकि वहाँ जाकर हम अधर में या शून्य में लटके नहीं रहते, वरन् प्रकाश की ओर बढ़ते रहते हैं। इसे महर्षि पतंजलि ने 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा है। जहाँ पर यह बोध होता है, वह ऋतम् की स्थिति है। अत: ब्रह्मज्ञान की स्थिति ही समाधि कहलाती है, यह तीसरा विचार बिन्दु रहा।

चौथा विचार बिन्दु आपको गीता में मिलेगा। गीता में भी समाधि की परिभाषा दी गयी है। जब अर्जुन पूछता है–

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधी: किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

तब समाधि की परिभाषा देते हुए भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि समाधि एक ऐसी स्थिति का नाम है जहाँ पर मनुष्य बन्धनमुक्त है। जहाँ पर राग-द्वेष, लोभ-मोह, छल-कपट, अविद्या इत्यादि सांसारिक बन्धन मनुष्य को प्रभावित नहीं करते और वह जीवन की हर परिस्थिति में समभाव धारण किये रहता है। उस समभाव में उसे बराबर की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, पुण्य कर्मों में भी और पाप कर्मों में भी। समाधि की वह स्थिति आत्मशुद्धि की स्थिति है।

रामचरित मानस और उपनिषदों में भी इसकी चर्चा की गयी है। ईशावास्योपनिषद् का शान्ति मन्त्र इसी भाव को व्यक्त करता है–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

"पूर्ण से पूर्ण को निकालने के पश्चात् भी पूर्ण ही शेष रहता है। वह अपूर्ण नहीं होता। यह भाव ब्रह्मावस्था का ही वर्णन करता है। जब मनुष्य जीवात्मा का रूप धारण करता है तब उस रूप में वह पूर्ण है, क्योंकि उसके भीतर अपने मूल वास्तविक स्वरूप को पहचानने की क्षमता रहती है और जब वह उसे पहचान जाता है, तब उस पूर्ण का बोध मनुष्य को होता है। जब बोध नहीं होता, वह अपने को नहीं पहचानता, तब भी पूर्ण मनुष्य ही रहता है।"

योग में समाधि को एक वृत्ति का रूप भी दिया गया है, जिसको कहते हैं ब्राह्मी वृत्ति। एक तरफ तो कहा जा रहा है कि जब सभी प्रकार की वृत्तियाँ और प्रत्यय समाप्त हो जाते हैं, तब मनुष्य समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है, लेकिन फिर समाधि की अवस्था को भी एक नाम दे दिया गया है ब्राह्मी वृत्ति। एक ऐसी वृत्ति, ऐसी अवस्था जो हमेशा ब्रह्म का अनुसरण करे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण में लिखा है–

गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो सब जानेऊ माया भाई ॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होई जाई ॥

एक दृष्टान्त है। एक मौलवी थे। उन्हें तीर लग गया। अब कैसे निकाला जाये? तो लोगों ने कहा कि जब ये ध्यान में बैठेंगे और समाधिष्ट हो जायेंगे, तब तीर निकाल लेंगे। जब वे नमाज में बैठे और समाधिष्ट हो गये, तब तीर को आसानी से निकाल लिया गया। एक अन्य छोटा-सा उदाहरण है। नमक की डली जब समुद्र में जाती है, तब लौटकर नहीं आती, वहीं अपने आपको भूल जाती है।

हेरत हेरत हे सखि गया कबीर हेराय ।
बूँद समानी समुन्द में यस कत हेरी जाय ॥

तुमको जानने के लिए जब जा रहा था, तब तुम्हारा ही हो गया। यह समाधि की स्थिति साधारण रूप से मेरी समझ में आती है। समाधि के विषय में महर्षि घेरण्ड कहते हैं–

> समाधिश्च परो योगो बहुभाग्येन लभ्यते ।
> गुरोः कृपाप्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तितः ॥1॥
> विद्याप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः।
> दिने दिने यस्य भवेत्स योगी सुशोभनाभ्यासमुपैति सद्यः ॥2॥
> घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा चैक्यं कुर्यात्परात्मनि ।
> समाधिं तं विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभिः ॥3॥
> अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
> सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान् ॥4॥

अर्थ

समाधि रूप परम योग बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। वह उन्हीं को प्राप्य है जो गुरुभक्त हैं और गुरु की जिन पर कृपा है। विद्या की प्रतीति, अपने गुरु की प्रतीति, आत्मा की प्रतीति और मन का प्रबोध जिसे दिनों-दिन बढ़ता है, उसी योगी को समाधि के अभ्यास का अधिकारी समझना चाहिए। शरीर से मन को भिन्न करके परमात्मा में लगा देने से योगी मुक्त होता है। मैं ब्रह्म से भिन्न नहीं, वरन् ब्रह्म ही हूँ। मैं शोकयुक्त नहीं, वरन् सच्चिदानन्द स्वरूप और नित्यमुक्त स्वभाव वाला हूँ ॥1-4॥

व्याख्या

वे कहते हैं कि समाधि सर्वोच्च योग है। यह साधारण क्रिया नहीं है। प्रत्येक साधक इस उच्च अवस्था तक नहीं पहुँच सकता। उसमें कुछ विशेष गुण रहने के कारण गुरु की कृपा और आशीर्वाद के परिणामस्वरूप उसे समाधि की प्राप्ति होती है।

इस वाक्य में उन्होंने कहा कि समाधि को प्राप्त करने के लिए विशेष गुण होना चाहिए। यह तो हर चीज के लिए आवश्यक है। यदि आपको योगी बनना है, तो योगी के गुण होने चाहिए। यदि आपको चोरी करनी है, तो चोर के गुण होने चाहिए। अहिंसक बनना है, तो अहिंसा का गुण होना चाहिए। ठीक इसी प्रकार समाधि के लिए भी साधक के जीवन में गुणों की आवश्यकता होती है

और जब तक गुरु उन गुणों को पहचान कर, उन्हें विकसित नहीं करते, तब तक समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वयं को और स्वयं के गुणों को नहीं जानता। समाधि के लिए कौन-से गुण आवश्यक हो सकते हैं, यह ज्ञान गुरु को ही होता है, जो व्यक्तित्व को पहचान कर, व्यक्ति की कमी और उपलब्धि को जानकर उसे दिशा-निर्देश दें।

अगले मन्त्र में वे कहते हैं कि साधक को योग विज्ञान के प्रति दृढ़ विश्वास होना चाहिए। गुरु के प्रति असीम श्रद्धा और पूर्ण समर्पण का भाव होना चाहिए। आत्मविश्वास होना भी आवश्यक है। उसकी मानसिक बोध की क्षमता तीव्र होनी चाहिए *'मनस: प्रबोध:'* ताकि वह आन्तरिक आवाज को सुनने और ग्रहण करने में सक्षम हो सके। इन परिस्थितियों में ही गुरु की विशेष कृपा से शिष्य को योग की उच्च समाधि की प्राप्ति हो सकती है।

यहाँ पर उन्होंने कुछ गुणों का निर्धारण कर दिया है कि ये आवश्यक हैं। जिनमें पहला है विधि के प्रति आस्था। जो विधि हम अपनायें, उसे आस्था और यत्नपूर्वक अभ्यास के रूप में निरन्तर करते रहें। यह नहीं कि आज किया, कल नहीं, परसों भूल गये और नरसों छोड़ दिया। एक महीने बाद फिर ख्याल आया, तो फिर अभ्यास शुरू किया।

यह तो योग का बहुत सामान्य नियम है कि नैरन्तर्य आवश्यक है। मनमर्जी नहीं, स्वेच्छा नहीं, बल्कि एक अनुशासन के रूप में सतत् प्रयत्न के द्वारा अभ्यास करना है। नैरन्तर्य या सतत् प्रयत्न तभी सम्भव है जब विधि के ऊपर हमारा विश्वास हो। इसलिए महर्षि घेरण्ड कहते हैं *'विद्या प्रतीति:'*, अर्थात् जो तरीका, विधि या विद्या है, उस पर विश्वास होना चाहिए।

इसके बाद कहते हैं, *'स्वगुरु प्रतीति:'* अपने गुरु के ऊपर विश्वास होना चाहिए, क्योंकि बहुत बार यह शिष्य के गुण पर निर्भर होता है कि गुरु उसे किस प्रकार का निर्देश देते हैं कि तुम्हें ऐसा करना है या वैसा करना है। हम अपनी मानसिकता के कारण उन निर्देशों को बौद्धिक स्तर पर समझने का प्रयत्न करते हैं और बहुत बार बौद्धिक स्तर पर उनका कोई औचित्य मालूम नहीं भी पड़ता, लेकिन भविष्य के लिए वे निर्देश बहुत काम के होते हैं। यदि हम बौद्धिक विश्लेषण और चिन्तन कर निर्देशों को अनसुना कर दें या उनके वास्तविक उद्देश्य को न समझ सकें, तो भी पतन होता है।

अत: जिस व्यक्ति ने संकल्प लिया है कि वह हमें कुछ सिखायेगा, कुछ उपलब्धि करायेगा और जिन पर हमारी आस्था है, उन पर इतना विश्वास तो

होना चाहिए कि हम उनके निर्देशों का श्रद्धापूर्वक पालन करें और यही भाव फिर सात्त्विक भाव जाग्रत करता है। समर्पण की स्थिति में अहम् भाव की नहीं, सात्त्विक भाव की जागृति होती है।

'आत्म प्रतीति:' अर्थात् स्वयं पर विश्वास होना बहुत जरूरी है। आत्मविश्वास की कमी कमजोर मन और व्यक्तित्व का लक्षण है। लेकिन जब भीतर में आत्मविश्वास हो तब मानसिक कमजोरी नहीं रहती। अत: स्वयं पर विश्वास रखना इसलिये आवश्यक है कि हमारा मन और व्यक्तित्व किसी प्रकार कमजोर न रहें। *'मनस: प्रबोध:'* मन को ग्रहणशील बनाना चाहिए। यहाँ मन का तात्पर्य अन्त:करण से है। जब तक अन्त:करण ग्रहणशील नहीं होगा, तब तक हम उच्च अवस्थाओं के अनुभवों को पहचान नहीं पायेंगे और न उनमें आगे बढ़ पायेंगे।

इस प्रकार उन्होंने चार गुणों की व्याख्या की है विधि या विद्या पर विश्वास, गुरु पर विश्वास, स्वयं पर विश्वास और अन्त:करण की ग्रहणशीलता में वृद्धि। जब यह परिस्थिति हमारे जीवन में उत्पन्न होती है, तभी गुरु हमें उचित निर्देश देकर समाधि तक पहुँचा सकता है।

'घटाद्भिन्नं मन: कृत्वा ऐक्यं कृत्वा परात्मनि' मन को घट से अलग करना, अर्थात् मन को शरीर से अलग कर देना। समाधि की अवस्था में आत्मा शरीर से अलग हो जाती है। शरीर, इन्द्रियों, विषय-भोगों, पदार्थों और नाम-रूप से आत्मा का तादात्म्य नहीं रहता। परमात्मा के साथ ऐक्य-भाव की उत्पत्ति होती है। असीम सत्ता अर्थात् ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ व्यक्तिगत या आण्विक चेतना का योग होता है। इसी अवस्था को समाधि कहते हैं।

'अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि' समाधि में यही भाव रहता है कि मैं ब्रह्म हूँ और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हूँ। मुझे किसी प्रकार का बन्धन, शोक और कष्ट नहीं है। मैं बन्धन मुक्त हूँ। सच्चिदानन्द रूप हूँ। सत्, चित् और आनन्द का स्वरूप, मैं दिव्य हूँ। हमेशा मुक्त हूँ और यही मेरी, अर्थात् आत्मा की प्रकृति है, स्वभाव है।

यहाँ पर जिस भाव को उन्होंने व्यक्त किया है, उसमें द्वैत सिद्धान्त नहीं है। अगर यह भाव पूर्णरूप से जीवन में जाग्रत हो जाये और आन्तरिक एकाग्रता के साथ हम इन भावों को अपने जीवन में अनुभव करने लगें तब वह अद्वैत की स्थिति अन्तर्जागृति की स्थिति या दिव्य स्थिति है। इस दिव्य स्थिति को ही उन्होंने परमात्मा का स्वभाव कहा है *'नित्यमुक्त: स्वभाववान्।'* इसके बाद महर्षि घेरण्ड ने समाधि की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया है–

शाम्भव्या चैव भ्रामर्या खेचर्य्या योनिमुद्रया ।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥5॥
पञ्चधा भक्ति योगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा ।
षड्विधोऽयं राजयोग: प्रत्येकमवधारयेत् ॥6॥

अर्थ

समाधि योग के छ: भेद हैं– ध्यानयोग, नादयोग, रसानन्द योग, लयसिद्धियोग, भक्तियोग और राजयोग। ध्यानयोग की समाधि शाम्भवी मुद्रा से, नादयोग की खेचरी मुद्रा से, रसानन्दयोग की भ्रामरी मुद्रा से, लयसिद्धियोग की योनि मुद्रा से, भक्तियोग की मनोमूर्च्छा से और राजयोग समाधि कुम्भक से सिद्ध होती है ॥5-6॥

व्याख्या

'समाधि' अवस्था प्राप्ति के लिए कुल छ: विधियाँ हैं प्रथम विधि में 'शाम्भवी मुद्रा' का अभ्यास किया जाता है। इसे 'ध्यानयोग समाधि' कहते हैं। द्वितीय है 'नादयोग समाधि'। इसमें भ्रामरी मुद्रा अनिवार्य है। तृतीय 'रसानन्द समाधि' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें खेचरी का अभ्यास किया जाता है। 'लयसिद्धि समाधि' चतुर्थ समाधि है। इसकी सफलता योनि मुद्रा में है। पंचम समाधि 'भक्तियोग समाधि' मानी गयी है। अन्तिम विधि को 'मनमूर्च्छा समाधि' कहते हैं।

उपर्युक्त छ: समाधियाँ राजयोग में सम्मिलित हैं। साधक को इनका अभ्यास क्रमश: करना चाहिए। इसी क्रम में उन्होंने सबसे पहले 'ध्यानयोग समाधि' का वर्णन किया है।

1. ध्यानयोग समाधि

शाम्भवीं मुद्रिका: कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत् ।
बिन्दु ब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत् ॥7॥
खमध्ये कुरुचात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बुध्यते ।
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नर: ॥8॥

अर्थ

शाम्भवी मुद्रा करके आत्मा को प्रत्यक्ष रूप में देखने का प्रयत्न करें, और फिर बिन्दुमय ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए मन को बिन्दु में लगा दें। तत्पश्चात् मस्तक में विद्यमान ब्रह्मलोकमय आकाश के मध्य में आत्मा को ले जायें और जीवात्मा में आकाश को लय करें तथा परमात्मा में जीवात्मा का लय करें। इससे योगी सदानन्दमय एवं समाधिस्थ हो जाता है ॥7-8॥

व्याख्या

प्रथम मन्त्र में उन्होंने शारीरिक एवं मानसिक पक्ष का वर्णन किया है कि इस तरह अभ्यास करना है। द्वितीय मन्त्र में कहते हैं *'खमध्ये कुरुचात्मानं आत्ममध्ये च खं कुरु'* 'ख' वर्ण का प्रयोग वेदों में बहुत हुआ है। 'खं' आकाश तत्त्व का प्रतीक है। 'खं ब्रह्म' अर्थात् आकाश ही ब्रह्म है। महर्षि कहते हैं कि आकाश तत्त्व के मध्य में अपनी आत्मा पर ध्यान करो और अपनी आत्मा के मध्य में आकाश तत्त्व का ध्यान करो।

'आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बुध्यते' स्वयं को आकाश तत्त्व में समाविष्ट देखो, स्वयं को आकाश तत्त्व से ओत-प्रोत देखो। यह भाव होना चाहिए कि आत्मा चारों ओर आकाश तत्त्व से लिपटी हुई है। इस प्रकार के भावों का अनुभव करना है।

'सदानन्दमयोभूत्वा समाधिस्थो भवेन्नर:' आन्तरिक आनन्द एवं समाधि की अनुभूति आपको होगी। यह अभ्यास शून्य-ध्यान के समान ही है, जिसमें कहा जाता है कि सबसे पहले बैठकर अपने शरीर को एकदम खाली कर दो। न मैं हड्डी हूँ, न मांस हूँ, न रक्त हूँ, न चर्म हूँ, इत्यादि। केवल एक खोखला

शरीर है। जिस प्रकार हवा से भरी हुई फुटबॉल होती है। वह अन्दर से खोखली होती है। उसके भीतर कोई ठोस पदार्थ नहीं होता।

शरीर की कल्पना भी एक खोखले ढाँचे के रूप में करनी है और उस खोखले ढाँचे के भीतर ज्योति के रूप में आत्मा पर ध्यान करना है।

इसी विधि का वर्णन यहाँ पर किया गया है। शरीर के खोखले होने का भाव रखना आवश्यक है, क्योंकि जब हम कल्पना करते हैं कि मैं केवल एक खोखली आकृति हूँ, तब हड्डी, मांस, मज्जा, रक्त, आन्तरिक अंग, सब जगह से हमारी चेतना हट जाती है। पूरे शरीर के भीतर हम आकाश तत्त्व को व्याप्त देखते हैं। उस आकाश तत्त्व में, चिदाकाश में अपने ध्यान को केन्द्रित करके एक प्रकाशित प्रतीक को देखना चाहिए। वह प्रतीक ज्योति की लौ हो सकती है, तारा हो सकता है, एक श्वेत बिन्दु हो सकता है, अर्थात् कोई ऐसा प्रतीक जिसमें चमक हो, प्रकाश हो। इस अभ्यास से धीरे-धीरे एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब शरीर खोखला भी दिखायी नहीं देता, पूरा शरीर प्रकाशमय दिखायी देने लगता है।

यह एक मनोभाव है। कहा जाये कि ब्राह्मी वृत्ति की शुरुआत है। शरीर को अब तक हम जिस दृष्टि से देखते आये हैं, उस दृष्टि से नहीं, वरन् एक भिन्न रूप में, आकाश और आत्मा के रूप में देखें, ताकि हमारी चेतना सूक्ष्म हो, सूक्ष्मतर हो, अतिसूक्ष्म हो और इस भाव से, इस जागृति से हम धीरे-धीरे अपने भीतर आत्म तत्त्व का अनुभव करने लगें।

जब आकाश तत्त्व की अनुभूति हम अपने शरीर के भीतर करने लगते हैं, तब वह तीव्र धारणा की स्थिति होती है, क्योंकि वहाँ पर मन सभी प्रकार की वासनाओं से हटकर, एक शून्य स्थिति में स्वयं को लाकर, आकाश तत्त्व में धारणा का अभ्यास करके आत्म-अवस्था के प्रति सजग बनता है।

आकाश तत्त्व एक ऐसा तत्त्व है, जिसका कोई रूप नहीं है। वह केवल एक स्थिति है। वायु के रूप, प्रवाह और स्पर्श का हम अनुभव कर सकते हैं, लेकिन आकाश तत्त्व का अनुभव नहीं हो सकता। उसका अनुभव कैसे किया जाये? केवल दृष्टि से? लेकिन दृष्टि मात्र ही आकाश तत्त्व का आधार नहीं है। आकाश तत्त्व स्वयं में सभी तत्त्वों का आधार माना गया है। सभी तत्त्व आकाश के भीतर ही स्वयं को प्रकाशित करने में सक्षम हो सकते हैं। आकाश तत्त्व को व्यक्त और अव्यक्त जगत् की सीमा रेखा माना गया है और उस अनन्त आकाश में ही शरीर और चेतना लीन हो जाते हैं। अपरा क्षेत्र में आगे बढ़कर परा क्षेत्र में प्रवेश करके मनुष्य को आत्मा का अनुभव होता है।

2. नादयोग समाधि

अनिलं मन्द वेगेन भ्रामरीकुम्भकं चरेत् ।
मन्दं मन्दं रेचयेद्वायुं भृङ्नादं ततो भवेत् ॥9॥
अन्त:स्थं भ्रमरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत् ।
समाधिजार्यते तत्र चानन्द: सोऽहमित्यत: ॥10॥

अर्थ

मन्द वेग से वायु लेकर भ्रामरी प्राणायाम करते हुए मन्द वेग से ही क्रमश: वायु को निकालें, अर्थात् रेचक करें। रेचक करते समय भौंरे के गुंजार के समान ध्वनि उत्पन्न होती है। यह नाद जहाँ हो रहा हो, वहीं पर मन को लगा दें। यह नाद समाधि है ॥9-10॥

व्याख्या

इस समाधि के लिए भ्रामरी प्राणायाम को माध्यम बनाया गया है। महर्षि कहते हैं कि दोनों कानों को तर्जनी अँगुलियों से बन्द कर भ्रामरी प्राणायाम का अभ्यास होना चाहिए। धीरे-धीरे श्वास खींचिये और श्वास छोड़ने के पूर्व अन्तर्कुम्भक का अभ्यास होना आवश्यक है। सहज भाव से जब तक अन्तर्कुम्भक लगा सकें, तब तक लगायें। उसके पश्चात् रेचक करते समय भ्रमर नाद उत्पन्न करना है और उसी आवाज पर अपने ध्यान को केन्द्रित करना है। वे कहते हैं कि आन्तरिक ध्वनि या भ्रमर नाद पर दीर्घ काल तक मन को केन्द्रित रखने से अन्त:करण समाधि की अवस्था में डूब जाता है। इसको नाद समाधि कहते हैं।

नाद समाधि में भ्रामरी प्राणायाम में जो गुंजन की क्रिया हो रही है, उसी में अपने अन्त:करण को पूर्ण रूप से केन्द्रित कर देना है। पूरे मानस क्षेत्र को उसी में लीन कर देना है। पहले तो हम स्थूल ध्वनि के प्रति सजग बनकर मन्त्र स्पन्दन की सजगता प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् अनहद नाद को सुनने का प्रयत्न करते हैं। जब हम शरीर को भूलकर, इन्द्रिय अनुभूतियों को भूलकर, सभी प्रकार की स्थूल, बौद्धिक, भावनात्मक और विचारात्मक प्रक्रियाओं को भूलकर एक नाद में स्वयं को केन्द्रित कर देते हैं, तब वह नाद पूरे व्यक्तित्व में

रम जाता है, फिर वह अजपा के समान एक क्रिया का रूप धारण करता है। जिस प्रकार अजपा क्रिया में अपने आप स्वाभाविक रूप से मन्त्र जप अनवरत चलता रहता है और उस पर किसी प्रकार का स्वैच्छिक नियन्त्रण नहीं रहता, हम अपनी इच्छा से उसे न शुरू कर सकते हैं, न रोक सकते हैं, ठीक उसी प्रकार की स्थिति नाद समाधि में होती है।

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि एक बार जब मन भ्रामरी नाद में लग जाये, तब वह सभी प्रकार के प्रत्ययों को भूलकर, सभी प्रकार के अनुभवों से मुक्त होकर, बाह्य अनुभवों को निर्मूल कर केवल अन्तर्ध्वनि में रम जाता है और वही ध्वनि पूरे शरीर में गुंजित होने लगती है, तब वह स्थिति नाद समाधि की है, जिसमें स्वस्फूर्त ढंग से सोऽहम् ध्वनि का ज्ञान होता है। जैसे-जैसे मन त्रिगुणात्मक अवस्था को पार कर नाद के क्षेत्र में प्रवेश करता है, वैसे-वैसे उसकी चेतना की स्थिति और अवस्था बिन्दु की ओर आकृष्ट होती हैं। जैसे-जैसे हमारी एकाग्रता प्रगाढ़ होती है और सभी प्रकार के विक्षेपों से हटकर चेतना एक बिन्दु में केन्द्रित होती है, वैसे-वैसे हमें नाद की जीवन्त अनुभूति होती है, सोऽहम् की स्वस्फूर्त्त ध्वनि सुनायी पड़ती है।

3. रसानन्द समाधि

खेचरीमुद्रासाधनात् रसनोर्ध्वगता यदा ।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम् ॥11॥

अर्थ

जब खेचरी मुद्रा लगायी जाती है और जिह्वा ऊपर की ओर मुड़ती है तब इस साधारण यौगिक क्रिया के अभ्यास से समाधि की सिद्धि होती है ॥11॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि खेचरी साधना से जीभ उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है और इस प्रकार समाधि की सिद्धि होती है।

खेचरी मुद्रा के प्रसंग में बताया गया है कि जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रवेश कराते हैं। जीभ को इसके लिये लम्बा होना चाहिए। जीभ को लम्बा बनाने के लिए उसके दोहन एवं छेदन की विधियों का वर्णन भी उसमें आता है।

अतः दीर्घ काल तक अभ्यास के पश्चात् जब जीभ इतनी लम्बी हो जाये कि वह कपालरन्ध्र में प्रवेश कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाय, तब यह समाधि सिद्ध होती है। कहते हैं कि सहस्रार से अमृत का स्राव होता है। जीभ की नोक जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है तो निश्चित रूप से उस क्षेत्र में स्पर्श के कारण उत्तेजना होती है, वहाँ पर जो नाड़ियों के छोर हैं, वे भी स्पन्दित एवं उत्तेजित हो जाते हैं। इस प्रकार उस क्षेत्र में इस स्पन्दन एवं उत्तेजना के फलस्वरूप सहस्रार से अमृत बूँद स्रावित होती है, जिसे जीभ की नोक ग्रहण करती है। उस अवस्था में जिस रस की अनुभूति होती है वह परम आनन्ददायी होती है। उस समय योगी उस आनन्द में इतना विभोर हो जाता है कि उसका देहाध्यास छूट जाता है और बाह्य अनुभूतियों से वह मुक्त हो जाता है। यही है उस अमृत रस से प्राप्त आनन्द की समाधि। इसे ही महर्षि ने रसानन्द समाधि की संज्ञा दी है।

4. लयसिद्धि समाधि

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत् ।
सुश्रृङ्गाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि ॥12॥
आनन्दमयः सम्भूत्वा एक्यं ब्रह्मणि संभवेत् ।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतसमाधिस्तेन जायते ॥13॥

अर्थ

योनिमुद्रा का साधन करके योगी स्वयं में शक्ति की भावना और परमात्मा में पुरुष की भावना करे। फिर यह भावना करे कि मुझमें और परमात्मा में शक्ति और पुरुष का विहार हो रहा है। तत्पश्चात् आनन्दमय ऐक्य स्थापित करता हुआ यह चिन्तन करे कि 'मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ।' इससे जो समाधि होती है, उसे लयसिद्धि योग समाधि कहते हैं ॥12-13॥

व्याख्या

लयसिद्धि का वर्णन करते हुए महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि सर्वप्रथम योनिमुद्रा का अभ्यास होना चाहिए और स्वयं को शक्ति रूप में देखना है, अर्थात् उस समय यह भाव छोड़ देना है कि मैं पुरुष हूँ या महिला। उसमें फिर किसी प्रकार का लिंगभेद नहीं रहता। चाहे बालक हो, युवक हो, युवती हो, वृद्ध हो या वृद्धा। स्वयं को इस भावना के साथ शक्ति रूप में देखना है कि संसार में पुरुष एक ही है, बाकी सब स्त्रियाँ हैं, शक्ति स्वरूप हैं।

एक बार मीराबाई किसी सन्त से मिलने के लिए गयीं। उन्होंने सन्त को सन्देश भिजवाया कि मीरा दर्शन के लिए आई है। तो सन्त ने कहलवा दिया कि मैं किसी महिला से नहीं मिलता। इस पर मीरा हँस पड़ी। उसने कहा कि आज मुझे मालूम हुआ कि संसार में दूसरा पुरुष भी है। अभी तक मैं सोचती थी कि संसार में एक ही पुरुष है। वह है कृष्ण, और बाकी सभी जीव उसके शक्तिरूप हैं। जैसे ही मीरा का ये हास्य सन्त के कानों में पड़ा, उनकी आँखें खुल गयीं और उन्होंने मीरा को अपना गुरु मान लिया। वही भाव, जो मीरा के जीवन में दिखलायी दिया था, यहाँ देखने में आता है।

यह तो सब स्वीकार करते हैं कि एक भक्त या साधक ईश्वर की उपासना किसी-न-किसी रूप में करता है। कोई साधक या भक्त ईश्वर को बालक के

रूप में पूजता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो *'ठुमक चलत रामचन्द्र बाजत पैजनियाँ'* के रूप पर ध्यान करते हैं। कुछ लोग ईश्वर को सखा रूप में देखते हैं, कुछ लोग गुरु रूप में देखते हैं और उसी भाव से पूजते हैं। कुछ लोग स्वयं को उनके दास के रूप में, सेवक के रूप में देखते हैं। ये सब अलग-अलग भाव हैं, जिनको भक्ति-भाव कहते हैं दास्य भाव, प्रेमी भाव, सख्य भाव इत्यादि। ये जितने भाव हैं, सब भक्ति को दृढ़ बनाते हैं। उदाहरण तो यहाँ कुछ दिये नहीं गये हैं, लेकिन हम जानते हैं कि सूरदास ने कृष्ण को बाल रूप में, उद्धव-सखा रूप में माना। तुलसीदास ने राम को स्वामी रूप में माना और स्वयं को दास रूप में। मीरा ने कृष्ण को प्रेमी के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार अलग-अलग सन्तों ने अपने-अपने भाव से ईश्वर के प्रति आस्था प्रकट की है। समाधि में भी इसी प्रकार की स्थिति आती है। कहते हैं *'सुश्रृङ्गार रसेनैव विहरेत परमात्मनी।'*

जिस प्रकार से हम किसी प्रिय वस्तु का श्रृंगार करते हैं, उसे एक अच्छे रूप में देखना चाहते हैं, बचपन में गुड्डे-गुड्डियों के साथ खेलते हैं; गुड़िया की कंघी करते हैं, कपड़े पहनाते हैं। एक दिन के बाद वे कपड़े निकाल कर दूसरे कपड़े पहनाते और मेरी गुड़िया, मेरी गुड़िया कहकर उसे झुलाते रहते हैं। हर रोज एक नया भाव रहता है नये कपड़े पहनाना, बालों को नये रूप से बाँधना, उसी प्रकार यहाँ श्रृंगार के भाव को जाग्रत किया जाता है कि मैं जिस रूप में चाहूँ अपने इष्ट का श्रृंगार करूँ।

हर व्यक्ति के मन में एक भाव रहता है। चाहे वह किसी कारण से प्रेरित हो, लेकिन जहाँ पर भक्ति भाव है, वहाँ पर आन्तरिक रूप से ईश्वर का श्रृंगार किया जाता है और उस श्रृंगार-रूप में ही हम स्वयं को भूल जाते हैं। जिस प्रकार एक प्रेमिका अपने प्रेमी के पीछे सब कुछ भूल जाती है, उसे पाने के लिए व्याकुल रहती है और उसी सच्चे प्रेम के कारण एक दिन उसे पाने में समर्थ होती है। साधक भी इन्हीं भावों के बल पर अन्त में असीम सत्ता से योग करता है। 'ब्रह्म' के सिवाय अन्य किसी का ज्ञान उसे नहीं रह जाता। वह आनन्द मग्न हो जाता है। यही लयसिद्धि समाधि की अवस्था है।

यह समाधि विधि उन्हीं साधकों के लिए उचित है जिन्होंने अपनी निम्न भावनाओं एवं इन्द्रियों को वश में कर लिया है।

5. भक्तियोग समाधि

स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूपकम् ।
चिन्तयेद्भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम् ॥14॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभाव: प्रजायते ।
समाधि: सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी ॥15॥

अर्थ

अपने हृदय में परम आह्लाद सहित भक्तियोग के द्वारा इष्टदेव के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। इससे आनन्द के आँसू बहने लगते और शरीर पुलकायमान होता है तथा मन में अचैतन्य और एकाग्रता आकर ब्रह्म से साक्षात्कार होता है। यह भक्तियोग समाधि कहलाती है ॥14-15॥

व्याख्या

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि अपने हृदय में इष्टदेव के स्वरूप पर ध्यान लगाना है और चिन्तन के द्वारा इष्टदेव के लिए पूर्ण श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और आनन्द मिश्रित समर्पण का भाव उत्पन्न करना है। जब इष्टदेव में ध्यान लग जाता है तब आनन्द के आँसू बहने लगते हैं और आनन्दातिरेक के परिणामस्वरूप शरीर काँपने लगता है। इस तन्मय अवस्था को प्राप्त कर साधक अपने इष्ट में लय हो जाता है। इस प्रकार उसे 'भक्तियोग समाधि' की प्राप्ति होती है।

मनुष्य-प्रकृति में भिन्नता के कारण साधकों को गुरु ध्यानावस्था के समय अलग-अलग निर्देश दिया करते हैं। जो भावुक या कोमल हृदय वाले व्यक्ति हैं, उनके लिए भक्तियोग सर्वोत्तम है। कभी-कभी सांसारिक जीवन में इस प्रकार की शुद्ध और कोमल भावना बाधा के रूप में सामने आती है। उदाहरण के लिए, यदि हम घर, परिवार, समाज और कार्यक्षेत्र में ही अत्यधिक भावुक जो/हो जायें, तो लोग हमें दूसरी दृष्टि से देखने लग जाते हैं कि इसे क्या हो गया। कहीं यह मानसिक रूप से असन्तुलित तो नहीं हो गया? यह असन्तुलन नहीं है, लेकिन यह भाव, चाहे संवेदनशीलता के कारण हो, चाहे हृदय की कोमलता के कारण हो या भावना में तीव्रता के कारण हो, संसार में जब प्रकट होता है तब उस समय कभी-कभी बाधा के रूप में दिखायी देने लगता है।

लेकिन योग में यह मान्यता है कि जब व्यक्ति की भावना को सही दिशा मिल जाती है, तब वह समाधि प्राप्ति का एक कारण बन सकती है। इसी भाव को धारण कर महर्षि घेरण्ड भक्तियोग समाधि की चर्चा कर रहे हैं। भक्तियोग समाधि में भावुक व्यक्तियों के लिए विधि बतायी गयी है। कहते हैं कि अनाहत चक्र में अपने इष्ट का ध्यान होना चाहिए। इष्ट देव पर जब हमारा ध्यान पूर्ण रूप से लग जाता है तब श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और आनन्द की अभिव्यक्ति हमारे जीवन में होती है। जब उसी भाव में व्यक्ति तन्मय हो जाता है, तब अपने इष्ट से एकाकार हो जाता है।

इस विषय में मुद्राओं के वर्णन के समय धारणा के अन्तर्गत पहले भी चर्चा हो चुकी है। विभिन्न विचारधाराओं में भी यह निर्देश दिया गया है कि एक चक्र पर अपने ध्यान को केन्द्रित करो। उस चक्र में ध्यान को केन्द्रित करते समय उस तत्त्व का ध्यान करो और तत्त्व ध्यान के साथ आत्मा या परमात्मा के एक रूप पर ध्यान को लगाना आवश्यक है।

इस बात को आप अच्छी तरह समझ लीजिये कि यहाँ चर्चा हो रही है समाधि की स्थिति की, समाधि की विभिन्न अवस्थाओं की, लेकिन जो निर्देश दिये गये हैं, वे हैं ध्यान के। ध्यान के विषय में यह कहा जा चुका है कि ध्यान करते समय चेतना का रूप तैल-धारावत् होना चाहिये, अर्थात् एक समान प्रवाह होना चाहिए। उसमें नैरन्तर्य होता है। उसमें अवरोध नहीं आ सकते; विक्षिप्त अवस्था या किसी प्रकार की मूढ़ अवस्था नहीं आ सकती। उसमें किसी समय मन दिग्भ्रमित नहीं हो सकता। जब प्रत्याहार और धारणा के अभ्यासों को सिद्ध कर लेने के पश्चात् ध्यान की स्थिति में प्रवेश करते हैं, तब उसी ध्यान की स्थिति को आगे बढ़ाने की क्रिया को समाधि की प्राप्ति कहा जाता है।

अत: यहाँ जिन विधियों का उल्लेख महर्षि घेरण्ड कर रहे हैं, वे समाधि की अवस्था की परिचायक नहीं हैं। वे यह दर्शाती हैं कि ध्यान की ही अवस्था में किस प्रकार आगे बढ़ा जाये और समाधि प्राप्त की जाय। पहली विधि में उन्होंने कहा कि शाम्भवी मुद्रा करो और अपने चित्त को आत्मा में केन्द्रित कर दो। दूसरी अवस्था में कहा कि नाद योग का अभ्यास करो। तीसरी में कहा कि खेचरी का अभ्यास करो, इत्यादि।

इस प्रकार बाह्य निर्देश दिये गये हैं, लेकिन महर्षि ने समाधि की अवस्था को परिभाषित नहीं किया है, फिर भी विचार बिन्दु यहाँ पर वही है कि ध्यान की स्थिति में चेतना को और प्रगाढ़ बना लेने का जो तरीका है, उसको अपना

लेने से हम समाधि की अवस्था में प्रवेश करते हैं और वहाँ पर अपनी प्रकृति, आसक्ति, आन्तरिक बन्धन और गुण के अनुसार हमें परिणाम प्राप्त होता है। लेकिन अन्त में इनका भी त्याग करना पड़ता है।

भक्तियोग समाधि के विषय में वे आगे कहते हैं कि जब इस प्रकार मनुष्य हृदय स्थान या अनाहत चक्र में अपने इष्ट का ध्यान करता है और उसमें अपने आपको पूर्ण रूप से भूल जाता है, भावना के आवेग में बह जाता है, तब उस समय उसके शरीर में कम्पन होने लगता है, प्रेमाश्रु बहने लगते हैं और वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है। इस अवस्था में वह अपने इष्ट के साथ एकाकार हो जाता है। यही भक्तियोग समाधि की स्थिति है।

6. मनमूर्च्छा समाधि

मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत् ।
परमात्मनः समायोगात्समाधिं समवाप्नुयात् ॥16॥

अर्थ

मनोमूर्च्छा कुम्भक करता हुआ योगी मन को एकाग्र करके ब्रह्म में लगाये। इस प्रकार परमात्मा के साथ समायोग होने को मनोमूर्च्छा या राजयोग समाधि कहते हैं ॥16॥

व्याख्या

मनोमूर्च्छा का अर्थ होता है मन का मूर्च्छित हो जाना, मन की बेहोशी। बेहाशी की अवस्था में क्या होता है? शरीर का ज्ञान नहीं रहता, विचार का ज्ञान नहीं रहता। व्यक्ति 'कोमा' की स्थिति में रहता है। तो जिस प्रकार से हम बाह्य रूप में 'कोमा' में प्रवेश करते हैं, ठीक उसी प्रकार जब मन मूर्च्छित हो जाता है तब सम्पूर्ण अन्तःकरण की क्रिया ही समाप्त हो जाती है। उस समय केवल प्राणशक्ति ही भीतर में जाग्रत रहती है। प्राणशक्ति के सहारे ही सभी क्रियाओं का, सभी कार्यों का सम्पादन होता है।

मन को मूर्च्छित करने के लिए, मन की गति को रोकने के लिए योग में प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है, और विशेष रूप से कुम्भक का अभ्यास होता है। सामान्य अवस्था में भी अगर हम जोर-जबरदस्ती के साथ कुम्भक करें तो यह अनुभव करेंगे के हलका-सा चक्कर आता है। सिर घूमने लगता है और हलका हो जाता है। उस अवस्था में मानसिक क्रियायें धीरे-धीरे कम होने लगती हैं, समाप्त होने लगती हैं। यह कुम्भक का अन्तिम परिणाम है।

इस अभ्यास के लिए आवश्यक है कि कुम्भक सिद्ध हो। जब कुम्भक सिद्ध हो जाता है तब उसके अभ्यास के समय मन स्थिर और अनुशासित हो जाता है। अन्तःकरण की यह जो नियन्त्रित, स्थिर और अनुशासित अवस्था है, इसी को यहाँ पर 'मनोमूर्च्छा' समाधि की संज्ञा दी गयी है। इस अवस्था में अन्तःकरण बाह्य विषयों की तरफ नहीं भागता, वरन् एक बिन्दु में केन्द्रित हो जाता है और उस समय बाह्य रूप से बेहोशी का अनुभव होता है।

इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद अपने मन को, अपनी अन्तश्चेतना को आत्मा के साथ जोड़ने का प्रयास होना चाहिये। जब उस परमात्मा के साथ योग की स्थिति उत्पन्न होती है तब वह स्थिति 'समाधि' है।

ध्यानावस्था में जिस विधि का पालन करने से हम अपने अन्त:करण को स्थिर और केन्द्रित कर सकते हैं, केवल उसी विधि का उल्लेख यहाँ पर किया गया है, जो कि कुम्भक है। मूर्च्छा समाधि में कौन-सी स्थिति उत्पन्न होती है, कौन-सी स्थिति का आभास होता है, यह नहीं बताया गया है। यदि हम किसी योग क्रिया के अन्तर्गत समझने का प्रयास करें तो यह कहा जा सकता है कि यह राजयोग की एक विधि है और इस अवस्था की प्राप्ति मन के नियन्त्रण द्वारा ही सम्भव है। इसलिए मन को, अर्थात् स्वयं को नियन्त्रित करने का प्रयास करना है। इसके बाद निष्कर्ष रूप में महर्षि घेरण्ड समाधि के विषय में कुछ बिन्दु बोलते हैं।

समाधि योग महात्म्य

इति ते कथितं चण्ड समाधिर्मुक्तिलक्षणम् ।
राजयोगः समाधिः स्यादेकात्मन्येव साधनम् ।
उन्मनी सहजावस्था सर्वे चैकात्मवाचकाः ॥17॥
जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥18॥
भूचराः खेचराश्चामी यावन्तो जीवजन्तवः।
वृक्षगुल्मलतावल्लीतृणाद्याः वारि पर्वताः।
सर्वं ब्रह्म विजानीयात्सर्वं पश्यति चात्मनि ॥19॥
आत्मा घटस्थचैतन्यमद्वैतं शाश्वतं परम् ।
घटाद्विभिन्नतो ज्ञात्वा वीतरागं विवासनम् ॥20॥
एवं मिथः समाधिः स्यात्सर्वसंकल्पवर्जितः।
स्वदेहे पुत्रदारादिबान्धवेषु धनादिषु ।
सर्वेषु निर्ममो भूत्वा समाधिं समवाप्नुयात् ॥21॥
तत्त्वं लयामृतं गोप्यं शिवोक्तं विविधानि च ।
तेषां संक्षेपमादाय कथितं मुक्तिलक्षणम् ।
वाचां संक्षेपमादाय कथितं मुक्ति लक्षणम् ॥22॥
इति ते कथितं चण्ड समाधि दुर्लभः परः।
यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म जायते भूमि मण्डले ॥23॥

अर्थ

हे चण्ड! इस प्रकार मैंने मुक्ति लक्षणरूपी समाधि का वर्णन किया है। वह राजयोग समाधि हैं। उन्मनी सहज अवस्था होने पर जो उपलब्धियाँ हों, उन्हें समाधि ही समझना चाहिए। जल में विष्णु, स्थल में विष्णु, पर्वत शिखर में विष्णु और ज्वालामाला में विष्णु, इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय ही है। चर-अचर जगत् के सब जीव-जन्तु, वृक्ष, पौधे, लता, तृण, पर्वत आदि ब्रह्ममय ही हैं। योगी पुरुष सबको आत्मा में तथा आत्मा को सबमें देखता है। शरीर में जो चैतन्य शाश्वत आत्मा है, उसे शरीर से भिन्न समझकर वीतराग एवं वासना-रहित हो जाता है ॥17-20॥

इस प्रकार अपने शरीर, पुत्र, स्त्री, आदि बान्धव तथा धनादि से ममता रहित होकर समाधि को प्राप्त करें। इस प्रकार सब संकल्पों को छोड़ देने पर समाधि होती है। यह लयामृत तत्त्व शिवजी द्वारा कहा गया है। इसे संक्षिप्त रूप में मुक्ति का लक्षण समझना चाहिए। हे चण्ड! मैंने यह जो दुर्लभ समाधि कही है, इसे जान लेने पर फिर जन्म नहीं होता ॥21-23॥

व्याख्या

समाधि विद्या का उपसंहार करते हुए महर्षि अपने शिष्य से कहते हैं कि उन्होंने समाधि-विज्ञान के विषय में उन सब विधियों का वर्णन किया है जिनके द्वारा ध्यान की अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यहाँ पर वे अपने रहस्य का उद्‌घाटन कर रहे हैं। कह रहे हैं कि समाधि अवस्था के वर्णन में मैंने केवल उन्हीं विधियों का वर्णन किया है, जिनका अभ्यास ध्यान के साथ जोड़ दिया जाय तो समाधि की प्राप्ति सम्भव है। इस उच्च ध्यान का अभ्यास सहज भाव से ही होना चाहिए, उन्मनी अवस्था में करना चाहिए।

उन्मनी एक मुद्रा है, जिससे एकाग्रता का भाव प्रकट होता है और उस एकाग्रता के भाव में कभी दिव्य भाव लक्षित होता है। अत: उन्मनी मुद्रा का अभ्यास करते हुए इस उच्च ध्यान की क्रिया को करना चाहिए। यदि यह सम्भव नहीं हो तो सहज अवस्था में ही, बिना किसी आडम्बर के अभ्यास होना चाहिए। जब यह सहज अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब किसी भी योगाभ्यास द्वारा अपनी आत्मा का परमात्मा के साथ योग करने से समाधि की प्राप्ति होती है।

उन्मनी के बारे में कहते हैं कि नासिकाग्र पर ध्यानस्थ हो जाना चाहिए। जब हम अपने ध्यान को नासिकाग्र पर केन्द्रित कर देते हैं, तब उन्मनी की अवस्था

आती है। कुण्डलिनी योग में नासिकाग्र का विशेष महत्त्व है। कुण्डलिनी योगियों का मत है कि नासिकाग्र में एक छोटा-सा शक्ति केन्द्र या उपचक्र है, जिसका सम्बन्ध मूलाधार और आज्ञा चक्र के साथ है। अत: जब हम नासिकाग्र पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित करते हैं, तब मूलाधार से आज्ञा तक जितने भी अनुभव चक्रों में निहित हैं, उन सभी को हम प्राप्त कर सकते हैं और कुण्डलिनी को जाग्रत कर सकते हैं। अत: इस अवस्था में, जिसे उन्मनी मुद्रा नाम दिया गया है, या सामान्य भाषा में नासिकाग्र दृष्टि कहा जाता है, चित्त की ग्रहणशीलता तीव्र हो जाती है, चेतना की संवेदनशीलता प्रबल हो जाती है और स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्म से कारण अवस्था में प्रवेश करना आसान होता है। चेतना की इस अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् ध्यान का अभ्यास होना चाहिए।

वे कहते हैं कि ध्यानावस्था में ही नहीं, वरन् जाग्रत अवस्था में भी सदैव इस बात का ख्याल रखना आवश्यक है कि आत्मा का योग ब्रह्म के साथ होना है। अर्थात् अपने लक्ष्य को भूलना नहीं। अगर लक्ष्य है आत्म-साक्षात्कार, तो केवल साधना के समय उसे सामने नहीं रखना है, वरन् चौबीसों घण्टे वह लक्ष्य सामने होना चाहिए। सामान्य जीवन में भी तो यही घटना घटती है। व्यक्ति कार्यालय जाता है, या और कहीं काम करने जाता है, लेकिन उसके मन में हमेशा एक ही विचार रहता है कि जो कार्य करूँ, उसका फल मुझे मिले।

अत: जिस प्रकार फल प्राप्ति की इच्छा हमेशा मन में रहती है, सामने रहती है, उसी प्रकार जीवन के उद्देश्य या आन्तरिक इच्छा को भी हमेशा सामने रखना चाहिए। ऐसा नहीं कि अभी सम्भव नहीं है, इसलिये मैं उस लक्ष्य को कुछ देर के लिए किनारे छोड़कर पन्द्रह-बीस साल मौज की जिन्दगी बिताऊँ। नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए। जाग्रत अवस्था में भी और सभी परिस्थितियों में अपने लक्ष्य को भूलना नहीं। कहते हैं कि इस बात का भी निरन्तर ख्याल रहे कि चर और अचर जगत् में सभी वस्तुओं में ईश्वर का वास है। अगला मन्त्र बहुत ही सुन्दर कहते हैं–

जले विष्णु: स्थले विष्णुर्विष्णु: पर्वतमस्तके ।
ज्वालामालाकुले विष्णु: सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

जल में, थल में, पर्वत पर, अग्नि में, जंगल में, हर प्राणी में, चर और अचर जगत् के सभी पदार्थों में उस शक्ति का आभास होना चाहिये, जो सम्पूर्ण

जगत् में व्याप्त है। जब उस शक्ति का आभास होने लगता है, तब लक्ष्य मन की दृष्टि से नहीं हटता। यह भी समझ लेना चाहिये कि सभी की आत्मा उस असीम ब्रह्म परमात्मा या ईश्वर का अंश है और कुछ नहीं। संसार की सभी सजीव वस्तुओं जीव-जन्तु, पक्षी, अन्य प्राणी, पेड़-पौधे, फल-फूल और निर्जीव वस्तुओं, जैसे जल, पर्वत, इत्यादि में उसी परमात्मा का वास है।

यहाँ पर उन्होंने विष्णु का नाम लिया है। हम जानते हैं कि ब्रह्मा निर्माण का कार्य करते हैं, विष्णु संचालन का कार्य करते हैं और महेश संहार का कार्य करते हैं। जितने छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े जीव-जन्तु हैं, सभी का पालन विष्णु के द्वारा होता है। उसी विष्णु को, जो पालक शक्ति है, जिसके द्वारा हम पाले जा रहे हैं और पाले जायेंगे, वह शक्ति जिस पर हम चर और अचर जगत् में अपनी स्थिति और अवस्था के लिए आश्रित हैं, समस्त संसार में व्याप्त देखने के लिए कहा गया है। हम ब्रह्मा के ऊपर आश्रित नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने तो हमारा निर्माण मात्र कर दिया है, एक कारखाने में। शिव के ऊपर आश्रित नहीं हैं, क्योंकि संहार बहुत देर बाद होने वाला है। आश्रित हैं विष्णु पर, क्योंकि प्रत्येक क्षण, उद्भव से अन्त तक, हमारे भीतर पालन-पोषण का जो कार्य हो रहा है, उसके पीछे वही शक्ति है। इसीलिये मन्त्र में विष्णु का नाम लिया गया है कि विश्व ही विष्णु है और विष्णु ही विश्व है।

यह भी कहा गया है कि विश्व की सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं। केवल एक सत्ता है, जिसका नाश नहीं होता और वह है हमारी आत्मा। आत्मा अजर-अमर है, शाश्वत है। शरीर क्षणभंगुर है। यदि हम स्थायी रूप से आत्मा के अमरत्व और शाश्वत स्वभाव को स्वीकार करते हैं, तो वह सत्य ज्ञान ही संसार की सभी इच्छाओं का त्याग कराता है और हमें बन्धनमुक्त कराता है, क्योंकि जब सभी चीजें नाशवान् हैं, तो आसक्ति फिर किससे रखना? नाशवान् वस्तु के प्रति मोह रखना अविद्या का सबसे बड़ा रूप है।

महर्षि लोमेश के बारे में एक कहानी आती है। एक बार देवराज इन्द्र को बहुत गर्व हो गया कि मैं अपने पुण्य के प्रताप से ही राजा बना हूँ। तो हरि ने सोचा कि इनका गर्व-मर्दन करना ही है। वे देवराज इन्द्र को बैकुण्ठ में बुलाते हैं। जब देवराज इन्द्र वहाँ बैठ कर बातचीत कर रहे थे, तो देखते हैं कि बैकुण्ठ के एक किनारे से चींटियों की कतार जा रही है। वे पूछते हैं कि भगवन्! आपके लोक में ये चींटियाँ कैसे आ गयीं? तो भगवान् कहते हैं कि ये जितनी चींटियाँ हैं, एक काल में ये भी इन्द्र थीं, लेकिन जब अपने ही सुख और पद के पीछे

इनका संचित पुण्य समाप्त हो गया, तब इनका पतन हुआ और इन्होंने दूसरा जन्म लिया है। इन्द्र ने कहा कि यह बात तो मेरी समझ में नहीं आयी कि पुण्य कैसे समाप्त हो जाते हैं। तो विष्णु उन्हें बतलाते हैं कि संचित पुण्यों का प्रताप ही मनुष्य के लिये स्वर्ग और मोक्ष का द्वार खोलता है।

पुण्य और पाप की सामान्य तथा यौगिक परिभाषा में अन्तर है। योग में पुण्य और पाप की परिभाषा वह नहीं जो हमारे दिमाग में बैठी है। दान देना, सत्कर्म करना पुण्य नहीं है। वह तो उसका एक बाह्य आचार है। पुण्य उसे कहते हैं जब तुम्हारे भीतर की सकारात्मक वृत्तियाँ जाग्रत हो जायें, लेकिन जब हम उन्हीं वृत्तियों में स्वयं को भूल जाते हैं और अपने नाम-यश-पद के पीछे भागने लगते हैं तो पुण्यों का ह्रास होता है। इस प्रकार उन्होंने इन्द्र को समझाया। इन्द्र समझे नहीं। तो भगवान् विष्णु ने कहा कि एक महर्षि लोमेश हैं (लोमेश का अर्थ होता है, जिसके शरीर में बहुत बाल हों।) तुम उनसे पूछो कि इसका क्या अर्थ होता है।

इन्द्र जब उनके पास गये तो देखा कि उनके हाथ में एक छोटा-सा स्थान है, जहाँ एक भी बाल नहीं है। वे अपना प्रश्न भूल गये और उन्होंने कहा कि महर्षि मेरे मन में एक जिज्ञासा है कि आपके पूरे शरीर में बाल हैं, केवल एक स्थान है, जहाँ बाल नहीं हैं, इसका क्या कारण है और आप इस प्रकार क्यों घूमा करते हैं? कहीं पर अपनी कुटिया बनाते, रहते और साधना करते तो आपका जीवन सफल हो जाता। महर्षि कहते हैं कि कुटिया बनाकर मैं करूँ क्या? चेलों को जमा करके मैं करूँ क्या? क्योंकि मेरा जीवन तो इतना छोटा है, मेरी आयु इतनी कम है कि मैं अपने आपको इस प्रकार के बन्धन और आसक्ति में डालूँ क्यों? इसीलिये मैंने आज तक घर नहीं बनाया और जहाँ तक मेरे बालों की बात है, उनके बारे में मैं बतलाता हूँ कि जब एक ब्रह्मा मरते हैं, तब मेरे शरीर से एक बाल झड़ता है, और जहाँ तक जितने बाल झड़े हैं, उतनी बार ब्रह्मा, विष्णु, महेश मरे हैं। तो इन्द्र को बहुत आश्चर्य हुआ कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी मरते हैं। वे दौड़कर फिर भगवान् के पास आते हैं कि यह क्या बात है। तो भगवान् उनको समझाते हैं कि जो आता है, वह तो जाता ही है। हम लोग भी मरते और जन्म लेते हैं।

बहुनि मे व्यतीतानि जन्मामि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥

हम अनेक बार जन्म लेते और मरते हैं और जब त्रिदेव का नाश होता है, तब न कोई इन्द्र रहता है, न अन्य कोई। केवल वही लोमेश्वर बचे रहते हैं। उन्हीं के बालों के आधार पर प्रकृति ने एक विधान बनाया है कि सृष्टि तब तक चलेगी, जब तक उनके शरीर में बाल हैं। यह सुनकर इन्द्र की आँखें खुलीं।

इस कहानी का निहितार्थ यह है कि महर्षि लोमेश स्वयं को सबसे कम आयु वाला व्यक्ति बतला रहे थे कि एक दिन तो मुझे मरना ही है तो मैं आसक्तियों में क्यों पड़ूँ? जबकि वास्तव में उनकी आयु ही सबसे अधिक थी, क्योंकि वे सैंकड़ों त्रिदेवों को जन्म लेते और मरते देख चुके थे और देखने भी वाले थे।

इसी बात को महर्षि घेरण्ड आगे भी कहते हैं कि समाधि के लिए अनासक्ति और वैराग्य भाव का होना आवश्यक है। वे ही व्यक्ति समाधि-अवस्था का अनुभव कर सकते हैं जिन्हें धन-दौलत, स्त्री-बच्चे, मित्र-बन्धु और स्वयं के शरीर एवं मन के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। जिनके भीतर वैराग्य-भाव होता है, और इस स्थिति में किसी प्रकार के मानसिक तनाव उनके भीतर नहीं रहते। सुख एवं दुःख रहित मन ब्रह्म में लीन हो जाता है। बिना वैराग्य के समाधि को प्राप्त करना ऐसा है मानो कोई हवा में महल बना रहा हो। इसी सत्य ज्ञान की शिक्षा महर्षि घेरण्ड अपने शिष्य राजा चण्डकापालि को प्रदान करते हैं।

'इति ते कथितं चण्ड समाधि दुर्लभः परः' हे चण्ड! मैंने तुम्हें समाधि विज्ञान के विषय में बतलाया है, जो कि दुर्लभ है और सभी को प्राप्य नहीं है।

'यज्ज्ञात्वा च पुर्नजन्म जायते भूमिमण्डले' इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के पश्चात् व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता है। पुनर्जन्म का कारण मनुष्य की इच्छा होती है और जब समाधि की अवस्था में इच्छा ही नहीं, मन ही नहीं, अन्तःकरण ही नहीं, अपने आपको लय कर दिया गया है, तब जन्म-मरण का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी बिन्दु पर व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। एक तरह से कहा जा सकता है कि यही योग विज्ञान का रहस्य है।

वहीं पर मन को लगा लें यह रसानन्द योग समाधि कहलाती है। इससे 'सोऽहं' का ज्ञान होकर योगी सदा आनन्दित रहता है ॥10-11॥

व्याख्या इस समाधि की प्राप्ति के लिए भ्रामरी प्राणायाम को माध्यम बनाया गया है। महर्षि कहते हैं कि दोनों कानों को अंगुलियों से बन्द करके भ्रामरी प्राणयाम का अभ्यास होना चाहिए। धीरे-धीरे लम्बी श्वास खींचिये और श्वास छोड़ने के पूर्व अन्तर्कुम्भक का अभ्यास होना आवश्यक है। सहज भाव से जब तक अन्तर्कुम्भक लगा सकें, तब तक लगायें। उसके पश्चात् रेचक करते

समय भ्रमर नाद उत्पन्न करना है और उसी आवाज पर अपने ध्यान को केन्द्रित करना है। वे कहते हैं कि आन्तरिक ध्वनि या भ्रमर नाद पर दीर्घ समय तक मन को केन्द्रित रखने से अन्तःकरण समाधि की अवस्था में डूब जाता है। इसको रसानन्द सामधि की उपमा दी गयी है।

नाद योग समाधि एवं रसानन्द समाधि में अन्तर मात्र इतना है कि पूर्व वर्णित समाधि में ध्यान के अभ्यास में चित्त या अन्तःकरण को धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म बनाया जाता है। पहले स्थूल ध्वनि के प्रति सजग बन कर मन्त्र स्पन्दन की सजगता प्राप्त करते हैं, तत्पश्चात् अनहद् नाद को सुनने का प्रयत्न करते हैं। और रसानन्द समाधि में, भ्रामरी प्राणायाम में जो गुंजन की क्रिया हो रही है, उसी में अपने अन्तःकरण को पूर्ण रूप से केन्द्रित कर देना है। पूरा मानस-क्षेत्र अपने आपको उसी में लीन कर दे।

जब हम शरीर को भूलकर, इन्द्रिय अनुभूतियों को भूल कर, सभी प्रकार की स्थूल, बौद्धिक, भावनात्मक और विचारात्मक प्रक्रियाओं को भूलकर एक नाद में स्वयं को केन्द्रित कर देते हैं, तब वह नाद पूरे शरीर, पूरे व्यक्तित्व में रम जाता है। फिर वह अजपा के समान एक क्रिया का रूप धारण करता है। जिस प्रकार अजपा क्रिया में अपने आप स्वाभाविक रूप से मन्त्र जप अनवरत चलता रहता है और उस पर किसी प्रकार का स्वैच्छिक नियन्त्रण नहीं रहता, हम अपनी इच्छा से उसे शुरू नहीं कर सकते और न रोक सकते हैं, ठीक उसी प्रकार की स्थिति रसानन्द समाधि की है।

महषि घेरण्ड कहते हैं कि एक बार जब मन उस भ्रामरी नाद में लग जाये, तब वह सभी प्रकार के प्रत्ययों को भूलकर, सभी प्रकार के अनुभवों का त्याग कर, बाह्य अनुभवों को निर्मूल कर, केवल ध्वनि में रम जाता है और वह ध्वनि जब पूरे शरीर को गुन्जित करने लगती है, तब वह स्थिति रसानन्द समाधि के नाम से जानी जाती है।

उक्त वर्णित दोनों समाधियों के वर्णन से स्पष्ट है कि इनमें हम नाद की बाह्य सीमा से भीतर की ओर जा रहे हैं, बिन्दु तक पहुँचने का प्रयास हो रहा है। जैसे-जैसे मन त्रिगुणात्मक अवस्था को पार कर नाद के क्षेत्र में प्रवेश करता है, वैसे-वैसे उसकी चेतना की स्थिति और अवस्था बिन्दु की ओर आकृष्ट होती है। जैसे-जैसे हमारी एकाग्रता प्रगाढ़ होती है, और जब सभी प्रकार की विक्षिप्त चेतन अवस्थायें एक बिन्दु में केन्द्रित होती हैं, तब हमें नाद की जीवन्त अनुभूति होती है। रसानन्द समाधि नादावस्था की अनुभूति दिलाती है।

योग का अतीन्द्रिय शरीर विज्ञान

योग के अभ्यासों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए किसी वस्तु पर एकाग्र होना आवश्यक है। मन को शरीर के क्षेत्र विशेष या श्वास पर केन्द्रित करने से अभ्यास का प्रभाव बढ़ जाता है। इस पुस्तक में वर्णित कुछ अभ्यासों में चक्रों को धारणा का केन्द्र बनाया गया है।

शारीरिक स्तर पर चक्र तन्त्रिका जालक एवं अन्त:स्रावी ग्रन्थियों से सम्बद्ध होते हैं। योग की भाषा में चक्र उन विशेष स्थानों को कहते हैं, जहाँ से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त प्राणों को नियन्त्रित किया जाता है। प्रत्येक चक्र एक 'स्विच' की भाँति है, जो मस्तिष्क के एक क्षेत्र विशेष को जाग्रत करता है। अधिकतर व्यक्तियों के भीतर ये चक्र सुषुप्त तथा निष्क्रिय रहते हैं। योगाभ्यास के समय चक्रों पर एकाग्रता का अभ्यास करने से चक्रों में प्राण का प्रवाह प्रेरित होता है और वे सक्रिय बनते हैं। इससे मस्तिष्क के सुषुप्त क्षेत्रों में जागृति आती है तथा सूक्ष्म एवं कारण शरीर में संगत शक्तियाँ जाग्रत होती हैं, जिससे व्यक्ति को चेतना के उन उच्च स्तरों का अनुभव होता है, जो सामान्य रूप से उसकी पहुँच के परे होते हैं।

सात मुख्य चक्र होते हैं, जो मेरुदण्ड के मध्य से गुजरने वाली सुषुम्ना नाड़ी में स्थित हैं। सुषुम्ना मूलाधार चक्र से आरम्भ होकर सिर के शीर्ष भाग तक जाती है। ये चक्र नाड़ियों से सम्बद्ध होते हैं, जो तन्त्रिकाओं के संगत, किन्तु उनसे अधिक सूक्ष्म होती हैं। चक्रों को प्रतीकात्मक रूप से कमल के फूल के रूप में दर्शाया जाता है। प्रत्येक चक्र में एक निश्चित संख्या में दल होते हैं और उनका विशेष रंग होता है। कमल का फूल प्रतीकात्मक रूप से यह चित्रित करता है कि आध्यात्मिक जीवन में साधक को तीन अवस्थाओं को पार

करना होता है अविद्या, जिज्ञासा एवं प्रबोधन। यह चेतना की निम्नतम अवस्था से उच्चतम अवस्था तक आध्यात्मिक विकास का चित्रण करता है।

कमल के दल, जिन पर बीज मन्त्र अंकित रहते हैं, चक्रों एवं उनसे जुड़ी नाड़ियों से सम्बद्ध अतीन्द्रिय ऊर्जा की विभिन्न अभिव्यक्तियों को दर्शाते हैं। प्रत्येक चक्र के भीतर एक यन्त्र होता है। यह यन्त्र उस चक्र से सम्बद्ध तत्त्व एवं बीज मन्त्रों से निर्मित एक ज्यामितीय आकृति है। प्रत्येक यन्त्र के भीतर अपने वाहन के साथ एक देवता होते हैं।

सप्त चक्रों का वर्णन

मूलाधार चक्र– यह पुरुष शरीर में मूलाधार पिण्ड में तथा स्त्री शरीर में गर्भाशय ग्रीवा में स्थित है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है मूल+आधार=मूलाधार। यह मूल केन्द्र माना जाता है। मूलाधार चक्र घ्राणेन्द्रिय से सम्बद्ध है। इसका प्रतीक है चार दल वाला गहरा लाल कमल। इसके केन्द्र में पृथ्वी तत्त्व का यन्त्र पीला वर्ग है और इसका बीज मन्त्र 'लं' है। वर्ग के केन्द्र में एक लाल त्रिभुज है, जिसका शीर्ष नीचे की ओर है, जो कि शक्ति का प्रतीक है। त्रिभुज के भीतर धूम्र वर्ण का स्वयंभू लिंग है, जो सूक्ष्म शक्ति का प्रतीक है। सुषुप्त कुण्डलिनी का प्रतीक लाल सर्प इस लिंग के चारों ओर साढ़े तीन बार लिपटा हुआ है। लाल त्रिभुज सात सूँड़ वाले एक हाथी पर टिका हुआ है। हाथी पृथ्वी तत्त्व की स्थिरता एवं एकात्मकता का प्रतीक है।

मूलाधार चक्र कुण्डलिनी का निवास स्थान है। सर्प के रूप में स्वयंभू लिंग के चारों ओर लिपटी हुई कुण्डलिनी गहन निद्रा में लीन है। यह मनुष्य एवं ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियों की स्रोत है, चाहे वह काम शक्ति हो, चाहे भावनात्मक, मानसिक, अतीन्द्रिय या आध्यात्मिक शक्ति हो। यद्यपि शक्ति एक ही है, तथापि जिस चक्र के माध्यम से यह व्यक्त होती है, उसके अनुसार विभिन्न गुणों एवं लक्षणों को धारण करती है। योग का उद्देश्य है आत्मशुद्धि एवं मानसिक एकाग्रता द्वारा सुषुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत करना तथा इसे विभिन्न चक्रों से होते हुए सहस्रार तक ले जाना, जहाँ इस शुद्ध शक्ति का योग शुद्ध चेतना, अर्थात् शिव के साथ होता है।

आन्तरिक स्थिरता एवं सन्तुलन को बढ़ाने के लिए, मूलाधार पर धारणा का अभ्यास करने हेतु अधोमुखी लाल त्रिभुज या पीले वर्ग का मानस दर्शन करें, जो कि शक्ति एवं दृढ़ता का प्रतीक हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र– मूलाधार चक्र से लगभग दो अंगुल ऊपर मेरुदण्ड में, जननेन्द्रिय के ठीक पीछे स्वाधिष्ठान चक्र स्थित है। स्वाधिष्ठान=स्व+अधिष्ठान। 'स्व' का अर्थ होता है अपना और 'अधिष्ठान' का अर्थ होता है निवास स्थान। इस प्रकार स्वाधिष्ठान का शाब्दिक अर्थ होता है 'अपना निवास स्थान'। इस चक्र को सिंदूरी रंग के षट्‌दलीय कमल पुष्प के रूप में चित्रित किया जाता है। इसके मध्य में आपस तत्त्व का यन्त्र, अर्द्धचन्द्र तथा बीज मन्त्र 'वं' एक मगर के ऊपर अंकित हैं, जो कि कर्मों की अन्तर्भौमिक गति का प्रतीक है।

स्वाधिष्ठान चक्र इन्द्रिय सुखोपभोग की अभिलाषा का प्रतीक है, अर्थात् चेतना के इस स्तर पर मनुष्य मुख्य रूप से सुखद संवेदनाओं की प्राप्ति हेतु प्रयासरत रहता है। मूलाधार में जहाँ भौतिक सुरक्षा का प्रयास होता है, वहीं स्वाधिष्ठान में इन्द्रियों के माध्यम से आहार, मद्य, मैथुन इत्यादि के रूप में व्यक्ति सुख प्राप्ति के नित्य प्रेरित होता रहता है। जब स्वाधिष्ठान चक्र जाग्रत होता है, तो इन वस्तुओं के प्रति अत्यधिक लालसा उत्पन्न हो सकती है। शारीरिक स्तर पर स्वाधिष्ठान चक्र उत्सर्जक एवं प्रजनन अंगों से सम्बद्ध है। इस चक्र का मानस दर्शन इन अंगों की कार्यप्रणाली में किसी प्रकार के दोष निवारण में सहायक हो सकता है। स्वाधिष्ठान की मुख्य वायु व्यान है, जो पूरे शरीर में व्याप्त है। स्वाधिष्ठान और मणिपुर चक्र प्राणमय कोश के निवास स्थान हैं।

गहन स्तर पर स्वाधिष्ठान चक्र व्यष्टि एवं समष्टि चेतना का वास स्थान है, यह सभी संस्कारों एवं भूतकाल की स्मृतियों का भण्डारगृह है। यह मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों का केन्द्र है। इस चक्र की शुद्धि से व्यक्ति पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठ जाता है।

इस चक्र पर धारणा का अभ्यास करने के लिए अन्धेरे आकाश के नीचे एक विशाल गहरे सागर और उसमें उठती हुई लहरों का मानस दर्शन करें। सागर में लहरों का उतार-चढ़ाव सजगता के क्रमश: क्षीण तथा प्रवाहित होने का परिचायक है।

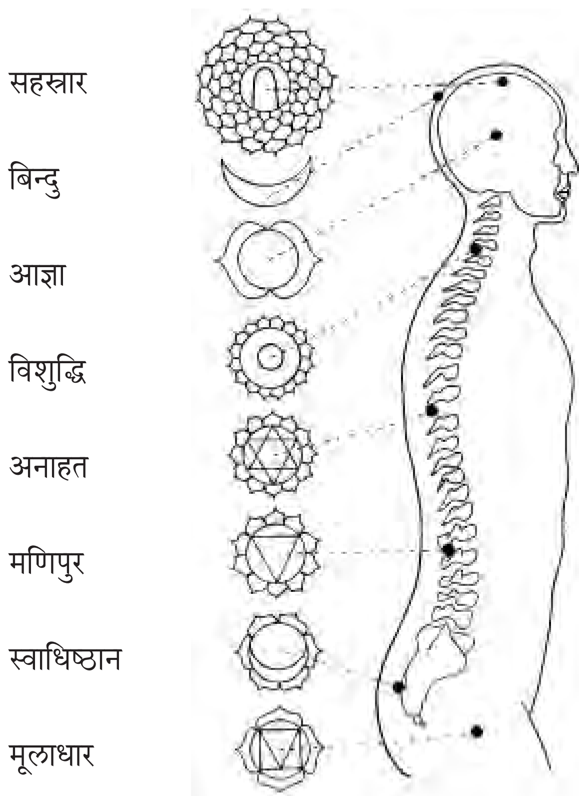
मणिपुर चक्र– यह नाभि के ठीक पीछे मेरुदण्ड में स्थित है। मणिपुर का शाब्दिक अर्थ होता है मणियों का नगर। अग्नि का केन्द्र होने के कारण यह मणि की भाँति जगमगाता है तथा प्राण एवं ऊर्जा से दीप्त है। इसी कारण इसे मणियों का नगर कहते हैं। इस चक्र को दस दलों वाले पीले कमल के रूप में चित्रित किया जाता है। कमल के मध्य में अग्नि तत्त्व का यन्त्र गहरे लाल

रंग का त्रिभुज है। इसका बीज मन्त्र 'रं' है। इस चक्र का वाहन भेड़ है, जो क्रियाशीलता एवं निश्चयात्मकता का प्रतीक है।

मणिपुर चक्र आत्म-निश्चय, क्रियाशीलता एवं प्रभुत्व का केन्द्र है। इसका सम्बन्ध महत्त्वाकांक्षा, इच्छाशक्ति तथा शासन करने की क्षमता से है। किन्तु नकारात्मक रूप में इसकी अभिव्यक्ति निरंकुशता के रूप में हो सकती है। व्यक्ति सभी चीजों और व्यक्तियों को अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र समझने लगता है।

सौर्य जालक भोजन के पाचन एवं चयापचय से सम्बद्ध मुख्य केन्द्र है। यह आमाशय की ग्रन्थियों, अग्नाशय, पित्ताशय तथा आमाशय के अन्य अंगों के कार्यों का संचालन करता है, जो पाचन एवं पोषक तत्त्वों के अधिग्रहण के लिए

चक्रों की अवस्थिति



आवश्यक एन्जाइमों, अम्लों एवं रसों को उत्पन्न करते एवं उनका स्राव करते हैं। मणिपुर चक्र इन क्रियाओं को नियन्त्रित करने वाला अतीन्द्रिय केन्द्र है।

वृक्क के ऊपर स्थित अधिवृक्क ग्रन्थियाँ भी मणिपुर चक्र से सम्बद्ध हैं। वे आपातकालीन परिस्थितियों में रक्त में एड्रिनलिन का स्राव करती हैं, जिससे सभी शारीरिक क्रियाओं में तीव्रता आ जाती है, मन सतर्क हो जाता है, हृदय गति बढ़ जाती है तथा श्वसन प्रक्रिया अधिक तीव्र हो जाती है। शरीर सामान्य से अधिक क्रियाशील हो जाता है, जिसे सामान्य रूप से 'संघर्ष या पलायन' की प्रतिक्रिया कहते हैं। जो व्यक्ति सुस्त या निराश रहते हैं या जिनका पाचन संस्थान ठीक से कार्य नहीं करता, उन्हें मणिपुर चक्र पर धारणा का अभ्यास करते हुए यह अनुभव करना चाहिए कि इस क्षेत्र से ऊर्जा विकिरित हो रही है।

इस केन्द्र पर धारणा का अभ्यास करने के लिए दहकते हुए सूर्य या अग्नि गोलक का मानस दर्शन करें। इस क्षेत्र से विकिरित होकर पूरे शरीर में व्याप्त हो रहे प्रकाश के रूप में ऊर्जा का अनुभव करें।

अनाहत चक्र– वक्ष के केन्द्र के पीछे मेरुदण्ड में अनाहत चक्र स्थित है। अनाहत का शाब्दिक अर्थ होता है जो आहत न हुआ हो। इस चक्र का यह नाम इसलिए पड़ा कि इसका सम्बन्ध हृदय से है, जो आजीवन लगातार लयबद्ध ढंग से स्पन्दित होता रहता है। इस व्यक्त सृष्टि में सभी ध्वनियाँ दो वस्तुओं के परस्पर घर्षण से उत्पन्न होती है। किन्तु वह ध्वनि जो इस भौतिक जगत् से परे उत्पन्न होती है, जो आद्य ध्वनि है, वह सभी ध्वनियों का स्रोत है तथा उसे अनहद् नाद कहते है। यह ध्वनि हृदय केन्द्र में सुनायी देती है। योगी उसे आन्तरिक, अजन्मे, अनन्त स्पन्दन के रूप में, ब्रह्माण्ड के स्पन्दन के रूप में अनुभव करते हैं।

इस चक्र को बारह दल वाले नीले कमल के रूप में दर्शाया जाता है। कमल के केन्द्र में दो अन्तर्ग्रथित त्रिभुजों से निर्मित षट्कोणीय आकृति है। यह वायु तत्त्व का यन्त्र है। इसका बीज मन्त्र 'यं' तथा वाहन एक काला हिरण है, जो चौकन्ने एवं फुर्तीलेपन तथा करुणा का प्रतीक है। अनाहत चक्र निःस्वार्थ प्रेम का केन्द्र है। इस स्तर पर भाईचारे एवं सहनशीलता की भवना विकसित होने लगती है तथा सभी जीवों के प्रति निष्काम प्रेम का भाव रहता है।

शारीरिक स्तर पर अनाहत चक्र हृदय, फेफड़ों, रक्त परिसंचरण एवं श्वसन संस्थान से सम्बद्ध रहता है। रक्ताल्पता, उच्च रक्तचाप, हृदय गति बढ़ना, क्षय

रोग, दमा तथा ब्रोंकाइटिस आदि रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को आसन तथा अन्य योगाभ्यास करते समय अनाहत पर ध्यान करना चाहिए।

अनाहत चक्र पर ध्यान के लिए एक नीले कमल या दो अन्तर्ग्रंथित त्रिकोणों से निर्मित षट्कोण का मानस दर्शन करें, जिसके केन्द्र में एक छोटी-सी ज्योति प्रज्वलित हो रही है। वायु विहीन स्थान में ज्योति जिस प्रकार स्थिर रहती है, टिमटिमाती नहीं, उसकी प्रकार की ज्योति की कल्पना करें यह ज्योति जीवात्मा की प्रतीक है, जो संसार की हवाओं से अप्रभावित रहता है।

विशुद्धि चक्र– यह गर्दन के पिछले भाग में, कण्ठ-कूप के पीछे स्थित है। यह शुद्धि का केन्द्र है। इसे सोलह दल वाले बैंगनी कमल द्वारा प्रतीकित किया जाता है। कमल के केन्द्र में सफेद वृत्त है, जो आकाश तत्त्व का यन्त्र है। इसका बीज मन्त्र 'हं' तथा वाहन सफेद हाथी है। विशुद्धि चक्र में सही समझ एवं विवेक की जागृति होती है। यहाँ जीवन के प्रवाह के साथ बहते हुए, सब चीजों को जैसे का तैसा स्वीकार करते हुए, अच्छे-बुरे का भेद किये बिना जीवन के द्वैत भाव को स्वीकार किया जाता है।

विशुद्धि चक्र स्वर रज्जु, स्वर यन्त्र प्रदेश तथा थायराइड एवं पैराथायराइड ग्रन्थियों को परिचालित करता है। शरीर के इस भाग में उत्पन्न रोगों को इस चक्र पर धारणा के अभ्यास द्वारा ठीक किया जा सकता है। कण्ठ के केन्द्र में ही अमृत के स्वाद का अनुभव होता है। अमृत बिन्दु चक्र से झरने वाला एक मीठा रस है। विशुद्धि चक्र में इसकी शुद्धि होती है तथा सम्पूर्ण शरीर में उपयोग हेतु भेजने के लिए इसे तैयार किया जाता है।

इस चक्र पर धारणा के लिए एक बड़ी अमृत बूँद का मानस दर्शन करें। विशुद्धि चक्र में गिरती हुई एक ठण्ढी-मीठी बूँद का अनुभव करें, जो आनन्दपूर्ण उन्माद का अनुभव दिलाती है।

आज्ञा चक्र– मध्य मस्तिष्क में, भ्रूमध्य के पीछे मेरुदण्ड के शीर्ष पर आज्ञा चक्र अवस्थित है। इस चक्र को तीसरे नेत्र, ज्ञान चक्षु, त्रिवेणी, गुरु चक्र तथा शिव के नेत्र के नाम से भी जाना जाता है। गहन ध्यान की अवस्था में शिष्य इस चक्र द्वारा गुरु या ईश्वर से आज्ञा तथा मार्गदर्शन प्राप्त करता है।

आज्ञा चक्र को चाँदी के रंग के दो पंखुड़ियों वाले कमल के रूप में दर्शाया जाता है। ये दो पंखुड़ियाँ सूर्य तथा चन्द्र या पिंगला एवं इड़ा की प्रतीक हैं। ये दो प्राण प्रवाह, जो द्वैत का अनुभव दिलाते हैं, इस चक्र में सुषुम्ना के साथ मिलकर एक हो जाते हैं। कमल के केन्द्र में पवित्र बीज मन्त्र 'ॐ' अंकित है।

इस चक्र का तत्त्व है मनस्। इसी केन्द्र में प्रज्ञा तथा अन्तर्ज्ञान की जागृति होती है। जब आज्ञा चक्र जाग्रत होता है। तब मन स्थिर एवं शक्तिशाली हो जाता है तथा प्राणों के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त होता है।

आज्ञा चक्र पीनियल ग्रन्थि से सम्बन्ध रखता है, जो परिपक्व मनुष्यों में लगभग क्षीण हो चुकी होती है। आत्मिक स्तर पर यह बिन्दु मानसिक एवं आत्मिक आयामों के बीच एक सेतु है। आज्ञा चक्र परा-मानसिक शक्तियों जैसे अतीन्द्रिय दृष्टि, अतीन्द्रिय श्रवण तथा दूर-संवेदन के जागरण लिए उत्तरदायी होता है।

विचार ऊर्जा का बहुत सूक्ष्म रूप है। जब आज्ञा चक्र जाग्रत हो जाता है, तो इस केन्द्र से विचारों का सम्प्रेषण एवं अभिग्रहण सम्भव होता है। यह एक तरह से चेतना के गहरे एवं उच्च स्तरों के द्वार खोलने के सदृश है। आज्ञा चक्र का जागरण मन की समस्त शक्तियों, जैसे, बुद्धि, स्मृति एवं एकाग्रता का विकास करता है।

आज्ञा चक्र पर ध्यान करने के लिए भ्रूमध्य का प्रयोग किया जाता है। इस केन्द्र पर एक छोटी-सी ज्योति का ध्यान करते हुए विचारों को आन्तरिक गुरु पर केन्द्रित किया जाता है।

बिन्दु विसर्ग–बिन्दु की स्थिति सिर के पिछले भाग में ठीक वहाँ है, जहाँ हिन्दू ब्राह्मण शिखा रखते हैं। बिन्दु विसर्ग का शाब्दिक अर्थ होता है बूँद-बूँद गिरना। इस चक्र को सोम चक्र भी कहते हैं सोम देवताओं के अमृत को कहते हैं और यह चन्द्रमा का दूसरा नाम भी है। बिन्दु विसर्ग को अन्धेरी रात में एक छोटे अर्द्धचन्द्र के रूप में दर्शाया जाता है। यह वीर्य के उत्पादन से भी सम्बन्ध रखता है।

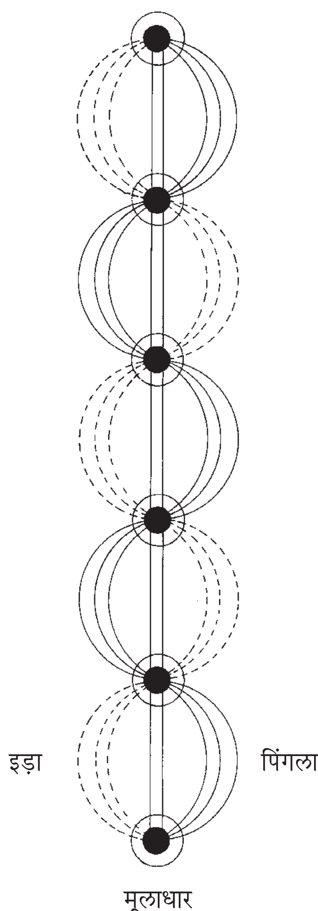
बिन्दु नाद का केन्द्र है। इस केन्द्र का उपयोग वहाँ उत्पन्न होने वाली अतीन्द्रिय ध्वनियों पर एकाग्रता के लिए किया जाता है। भ्रामरी प्राणायाम तथा शाम्भवी मुद्रा जैसे अभ्यासों में नाद के प्रति सजगता विकसित करने के लिए बिन्दु पर धारणा का अभ्यास किया जाता है।

सहस्रार–सिर के शीर्ष भाग में अवस्थित है। यह वस्तुत: चक्र नहीं, बल्कि उच्च चेतना का निवास स्थान है। सहस्रार को हजार दल वाले दीप्त कमल के रूप में दर्शया जाता है, जिसमें संस्कृत वर्णावली के बावन बीज मन्त्र बीस बार अंकित हैं। कमल के केन्द्र में एक दीप्त ज्योतिर्लिंग है, जो शुद्ध चेतना का प्रतीक है। सहस्रार चक्र में ही शिव और शक्ति का, पदार्थ एवं ऊर्जा के साथ चेतना का, जीवात्मा और परमात्मा का योग होता है। जब कुण्डलिनी जाग्रत

होती है, तब वह विभिन्न चक्रों को पार करते हुए सहस्रार तक ऊपर चढ़ती है तथा अपने उत्पत्ति केन्द्र या स्रोत में मिल जाती है। पदार्थ एवं ऊर्जा के शुद्ध चेतना में समाहित होने की अवस्था आनन्दपूर्ण उन्माद की अवस्था है, जो कि योग का उद्देश्य है। इसकी प्राप्ति से योगी परम ज्ञान को प्राप्त करता तथा जन्म-मृत्यु के चक्र को पार कर जाता है।

नाड़ियाँ

नाड़ी का शाब्दिक अर्थ होता है प्रवाह या धारा। शास्त्रों में वर्णन आता है कि हमारे अतीन्द्रिय शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। जो व्यक्ति अतीन्द्रिय दृष्टि को प्राप्त कर लेता है, उसे ये नाड़ियाँ प्रकाश की तरंगों के रूप में दिखायी देती हैं। यद्यपि ये तन्त्रिकाओं से सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु चक्रों के समान ही ये भौतिक शरीर की अंग नहीं हैं। नाड़ियाँ वे सूक्ष्म वाहिकायें हैं, जिनसे प्राण शक्ति का प्रवाह होता है। अतीन्द्रिय शरीर में स्थित इन हजारों नाड़ियों में से दस प्रमुख हैं, और इनमें से भी तीन अधिक महत्त्व रखती हैं। ये हैं इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना। इन तीनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है सुषुम्ना। अतीन्द्रिय शरीर की सभी नाड़ियाँ, यहाँ तक कि इड़ा एवं पिंगला भी सुषुम्ना के अधीन रहती हैं।



इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना

सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड के केन्द्र में स्थित आध्यात्मिक-मार्ग है। इसका आरम्भ मूलाधार चक्र तथा अन्त सहस्रार में होता है। इड़ा नाड़ी मूलाधार के बायें भाग से निकलकर प्रत्येक चक्र को पार करते हुए, वक्राकार मार्ग का निर्माण करते हुए मेरुदण्ड में सर्पिल गति से ऊपर चढ़ती है और आज्ञा

चक्र के बायें भाग में इसका अन्त होता है। पिंगला मूलाधार के दायें भाग से निकलकर इड़ा की विपरीत दिशा में सर्पिल गति से ऊपर चढ़ती हुई आज्ञा के दायें भाग में समाप्त होती है। इड़ा एवं पिंगला हमारे भीतर प्रवाहित होने वाली दो विपरीत शक्तियों की परिचायक हैं। इड़ा निष्क्रिय, अन्तर्मुखी एवं नारीजातीय है। इसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं। दूसरी ओर पिंगला सक्रिय, बहिर्मुखी एवं पुरुषजातीय है तथा इसे सूर्य नाड़ी कहते हैं।

प्राण प्रवाह एवं श्वसन

इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना एक के बाद एक क्रियाशील होती हैं। किसी विशेष समय पर कौन-सा प्रवाह हो रहा है, इसे नासिका में श्वास के प्रवाह को देखकर जाना जा सकता है। जब बायीं नासिका में श्वास का अधिक प्रवाह होता है, तो इड़ा नाड़ी का प्राधान्य रहता है। जब दायीं नासिका में श्वास का प्रवाह अधिक होता है, तो पिंगला का प्राधान्य रहता है। यदि दोनों नासिकाओं में प्रवाह समान हो तो सुषुम्ना का प्राधान्य रहता है। जब दायीं नासिका (पिंगला) प्रवाहित होती है, तो शारीरिक कार्यों, भोजन के पाचन इत्यादि के लिए अधिक प्राणशक्ति मिलती है। मन बहिर्मुखी हो जाता है तथा शरीर में ताप उत्पन्न होता है। जब बायीं नासिका प्रवाहित होती है, तब मनःशक्ति प्रधान रहती है। मन अन्तर्मुखी हो जाता है तथा किसी भी प्रकार का मानसिक कार्य किया जा सकता है। निद्रा के समय इड़ा नाड़ी प्रवाहित होती है। यदि रात्रि के समय पिंगला नाड़ी प्रवाहित हो तो निद्रा में बेचैनी तथा व्यवधान होगा। इसी प्रकार यदि भोजन करते समय इड़ा प्रवाहित होने लगे तो पाचन-प्रक्रिया धीमी हो जाएगी, जिससे अपच हो सकता है।

नाड़ियों एवं श्वास के प्रवाह को परिवर्तित करना

सभी गतिविधियाँ इन नाड़ियों के प्रवाह से प्रभावित होती हैं। यह प्रवाह लगभग हर नब्बे या साठ मिनट बाद बदलता है। किन्तु योग के कुछ अभ्यासों, जैसे प्राणायाम द्वारा इस प्रवाह को बदलना सम्भव है। उदाहरण के लिए यदि इड़ा नाड़ी बह रही हो और शारीरिक कार्य करना हो तो आवश्यक शक्ति प्राप्त करने के लिए श्वास के प्रवाह को पिंगला में अनुप्रेषित किया जा सकता है। दूसरी ओर यदि अध्ययन या मानसिक कार्य करना हो तो ऊर्जा को इड़ा में प्रवाहित किया जा सकता है।

इड़ा एवं पिंगला में सन्तुलन लाने के लिए शरीर को पहले षट्कर्मों द्वारा शुद्ध बनाना आवश्यक है। दिन के चौबीस घण्टों की अवधि में इड़ा का प्राधान्य लगभग बारह घण्टे तथा पिंगला का प्राधान्य लगभग बारह घण्टे तक होना चाहिए। जब इड़ा एवं पिंगला नाड़ियाँ शुद्ध तथा सन्तुलित हो जाती हैं तथा मन नियन्त्रण में आ जाता है, तब सुषुम्ना नाड़ी प्रवाहित होने लगती है। ध्यान में सफलता के लिए सुषुम्ना का प्रवाहित होना आवश्यक है। यदि पिंगला प्रवाहित हो रही हो तो शरीर अशान्त रहेगा, यदि इड़ा प्रवाहित हो रही हो तो मन अति क्रियाशील होगा। जब सुषुम्ना प्रवाहित होती है तब कुण्डलिनी जाग्रत होकर चक्रों से ऊपर चढ़ती है।

नाड़ियाँ तथा तन्त्रिका-तन्त्र

शारीरिक स्तर पर इड़ा एवं पिंगला स्वैच्छिक तन्त्रिका-तन्त्र के दो पक्षों अनुकम्पी एवं परानुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र के संगत होती हैं। पिंगला अनुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र से तथा इड़ा परानुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र से मेल खाती है। अनुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र बाह्य वातावरण से सम्बद्ध गतिविधियों के उद्‌दीपन तथा त्वरण के लिए उत्तरदायी होता है। अनुकम्पी तन्त्रिकायें हृदयगति को बढ़ाती हैं; रक्त वाहिकाओं को फैलाती हैं; श्वसन-गति को तीव्र करती तथा आँखों, कानों एवं अन्य अंगों की दक्षता को बढ़ाती हैं। परानुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र अनुकम्पी तन्त्रिका-तन्त्र के ठीक विपरीत हृदय गति को मन्द करता, रक्त वाहिकाओं को संकुचित करता तथा श्वास को धीमा बनाता है, जिससे अन्तर्मुखता आती है। इडा एवं पिंगला में प्राण के प्रवाह को जब तक योगाभ्यासों द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जाता, तब तक यह प्रवाह स्वैच्छिक एवं अचेतन रूप से होता रहता है।

पंच कोश

योग के अनुसार मनुष्य शरीर में ऊर्जा के पाँच स्तर होते है, जो एक साथ विद्यमान रहते हैं। इनका क्षेत्र होता है सर्वाधिक स्थूल से सर्वाधिक सूक्ष्म तक। इन्हें पंच कोश कहते हैं अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश एवं आनन्दमय कोश।

जिस प्रकार 'जनरेटर' एक मशीन को क्रियाशील बनाता है, उसी प्रकार महाप्राण एक जनरेटर है, जो इन पंच कोशों का परिचालन करता है। महाप्राण इन पंच कोशों को निद्रा की अवस्था में भी, सतत् चेतन सजगता के अभाव

में भी निरन्तर अपना कार्य करते रहने देता है। अधिकतर लोगों की चेतना या सजगता मुख्यत: भौतिक तल पर रहती है। अपने अस्तित्व के अधिक सूक्ष्म स्तरों के प्रति सजगता योग के तथा ध्यान के अभ्यासों, जैसे प्राणायाम तथा प्राणविद्या के द्वारा विकसित की जा सकती है।

अन्नमय कोश– अन्न, जल एवं वायु पर, जो कि प्राण के स्थूल रूप हैं, अपनी निर्भरता के कारण यह कोश अन्नमय कोश कहलाता है। यद्यपि इसका अस्तित्व प्राण पर ही अधिक निर्भर है। भोजन के बिना छ: सप्ताह तक जीवित रहना सम्भव है, पानी के बिना छ: दिनों तक और वायु के बिना छ: मिनट तक, किन्तु यदि प्राण निकल जायें तो जीवन तत्काल समाप्त हो जाता है।

प्राणमय कोश– यह प्राणिक शरीर है। भौतिक एवं प्राणिक शरीर मिलकर मनुष्य की मूलभूत संरचना का निर्माण करते हैं। इसे कहीं-कहीं आत्मपुरी भी कहा जाता है, क्योंकि इन शरीरों से, जो और भी अधिक सूक्ष्म, मानसिक एवं कारण शरीरों को धारण किये रहते हैं, आत्म-साक्षात्कार सम्भव होता है। इसलिए यदि व्यक्ति सूक्ष्म चेतना को जाग्रत करना चाहता हो तो यह सुझाव दिया जाता है कि वह प्राणिक एवं भौतिक शरीर के विज्ञान एवं शरीर-क्रिया-विज्ञान, सात चक्रों एवं नव द्वारों (नवद्वारों में आते हैं दो आँखें, दो कान, दो नासिकायें, मुख, गुदा एवं मूत्र मार्ग।) के विषय में अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त करे।

प्राणिक शरीर उस भौतिक शरीर से अधिक सूक्ष्म होता है, जिसमें यह व्याप्त है तथा जिसे यह अवलम्ब प्रदान करता है। यह भौतिक शरीर की प्रत्येक कोशिका में प्राण का संचार करता है, किन्तु न तो प्राणिक शरीर और न ही भौतिक शरीर अकेले अस्तित्व में आ सकता है। प्राणिक शरीर का आकार एवं आकृति लगभग भौतिक शरीर के समान ही होती है। जिस प्रकार भौतिक शरीर को प्राणिक शरीर से आधार एवं अवलम्ब प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्राणिक शरीर और भी सूक्ष्म मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों पर अवलम्बित रहता है।

मनोमय कोश– अनेक क्रियाओं को एक साथ सम्पन्न करता है तथा दो स्थूल कोशों अन्नमय एवं प्राणमय कोशों को एक समन्वित ईकाई के रूप में बनाये रखता है। यह इन शरीरों के मध्य संदेशवाहक की भूमिका निभाता है। यह बाह्य जगत् के अनुभवों एवं संवेदनाओं को अन्तर्दर्शी शरीर तक पहुँचाता है तथा कारण एवं अन्तर्दर्शी शरीरों के प्रभावों को स्थूल शरीर तक

पहुँचाता है। मन के भीतर सर्वाधिक तीव्र गति को प्राप्त करने की क्षमता होती है। विचार इस गति की अन्तिम अभिव्यक्ति है। मन समय के साथ आगे और पीछे जा सकता है। समय मन के मार्ग में अवरोध नहीं है और ध्यान के समय इसका अनुभव भी किया जा सकता है कि गहन अवस्था में समय का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

विज्ञानमय कोश– अन्तर्ज्ञान का यह शरीर मनोमय कोश में व्याप्त है और इससे भी अधिक सूक्ष्म है। जब यह कोश जाग्रत होता है तो व्यक्ति को अन्तर्ज्ञान के स्तर पर जीवन का अनुभव होने लगता है, वह अभिव्यक्त जगत् के पीछे छुपी वास्तविकता को समझने लगता है। इससे प्रज्ञा की जाग्रति होती है।

आनन्दमय कोश– यह अन्तिम और सबसे अधिक सूक्ष्म कोश है। यह कारण या अनुभवातीत शरीर कहलाता है। यह सबसे सूक्ष्म प्राणों का निवास स्थल है। यह सभी परिभाषाओं के परे है।



स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

इस पुस्तक में महर्षि घेरण्ड प्रणीत घेरण्ड संहिता की स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती द्वारा विशद व्याख्या की गयी है। इसमें सप्तांग योग की व्यावहारिक शिक्षा दी गयी है। शरीर शुद्धि की क्रियाओं, जैसे, नेति, धौति, वस्ति, नौलि, कपालभाति और त्राटक से आरंभ कर आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि के अभ्यासों का सरल भाषा में सचित्र सविस्तार वर्णन किया गया है।

महर्षि घेरण्ड के घटस्थ योग के नाम से प्रसिद्ध ये अभ्यास आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए शरीर को माध्यम बनाकर मानसिक और भावनात्मक स्तरों को नियंत्रित करते हुए आध्यात्मिक अनुभूति को जाग्रत करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यह पुस्तक प्रारंभिक से लेकर उच्च योगाभ्यासियों के लिए अत्यंत उपयोगी, ज्ञानवर्द्धक एवं संग्रहणीय है।



[bar code here]

ISBN : 978-81-86336-35-9